आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंधों का विवेचनात्मक अध्ययन

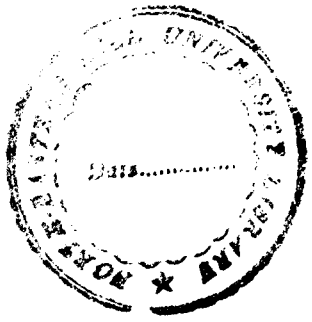

शोध निर्देशक
डॉ. सुशील कुमार शर्मा
उपाचार्य, हिन्दी विभाग
पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय
शिलांग

अनुसंधित्सु
कुसुम कुंज मालाकार

हिन्दी विभाग

द्वारा

पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग, मेघालय के हिन्दी विषय में डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी के लिए अपेक्षित आवश्यकता की पूर्ति हेतु प्रस्तुत ।

Thesis

SEHU LIBRARY
Acc 103935
A
I 12-11-09
Cl
Sub
Enter
Trans

पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय
शिलांग

घोषणा

मैं कुसुम कुंज मालाकार एतद्द्वारा घोषित करती हूँ कि इस शोध-प्रबन्ध की विषय-सामग्री मेरे द्वारा किये गये कार्यों का परिणाम है । इस शोध सामग्री के आधार पर न तो मुझे, और जहाँ तक मुझे ज्ञात है, किसी अन्य को पहले उपाधि प्रदान की गई है और न ही यह शोध-प्रबन्ध मेरे द्वारा कोई अन्य शोध-उपाधि प्राप्त करने के लिए किसी अन्य विश्वविद्यालय/ संस्थान में प्रस्तुत किया गया है ।

इसे पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय के सम्मुख हिन्दी विषय में डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी की उपाधि के लिए प्रस्तुत किया जाता है ।

SK Shaw 29.4.09
अध्यक्ष

SK Shaw 29.4.09
निर्देशक

KM Malakar
अनुसंधित्सु

Head
Hindi Translation Unit Deptt
N.E.H.U, Shillong- 22

प्राक्कथन

हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल गद्य-काल कहलाता है । इस काल में गद्य की समस्त विधाओं में साहित्य सृजित हुआ । निबंध भी इसी युग की देन है । भारतेन्दु-काल से निबंध लेखन आरंभ हुआ और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे उत्कर्षता प्रदान की । शुक्ल जी का साहित्यिक व्यक्तित्व बहुआयामी है । उन्हें आचार्य, निबंधकार एवं आलोचक के रूप में विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त है, साथ ही वे सफल इतिहासकार, भाषाविद्, अन्वेषक, कोशकार, संपादक एवं अनुवादक के रूप में भी समान प्रतिष्ठा के अधिकारी हैं । साहित्य के विविध क्षेत्रों में जहाँ अलग-अलग विशेषज्ञ कार्य करते हैं, अपने समय में उन्होंने अकेले ही सभी क्षेत्रों में उच्च स्तरीय कार्य किया । उन्होंने न केवल हिन्दी-भाषा और साहित्य को जीवन-शक्ति प्रदान की अपितु हिन्दी भाषा और साहित्य को नया मनोबल देकर उसे विश्व की प्रमुख भाषाओं के साहित्य के समकक्ष खड़ा होने का सम्मान दिलाया ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का साहित्यिक लेखन सन् 1900 से 1940 ई. तक विस्तृत है । शुक्ल जी ने प्रायः विचारात्मक निबंधों की ही रचना की । उनसे पूर्व विचारात्मक निबंधों में न तो गंभीरता थी, न गूढ़-गुम्फित परम्परा । उनसे पूर्व ऐसे निबंध नहीं लिखे गए जो पाठक की बुद्धि को उत्तेजित कर सकती । कुछ भावात्मक निबंध लिखे गए लेकिन विचारात्मक निबंधों का क्षेत्र सूना-सा था । ऐसी अवस्था में शुक्ल जी निबंधकार के रूप में सामने आये । उन्होंने बहुत सोच-विचारकर उन्हीं विषयों को विवेचन के लिए चुना, जिनका मानव जीवन में स्थायी महत्त्व है और जो मानव के समस्त क्रिया-कलापों के प्रेरक, संचालक और नियामक हैं । उन्होंने अपने निबंधों में नूतन विचार-पद्धति का समावेश किया और गूढ़-गुम्फित परम्परा के साथ उच्च कोटि के विचारात्मक निबंधों का प्रणयन किया ।

हिन्दी साहित्य में शुक्ल जी ऐसे महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व हैं, जिनके साहित्यिक कार्य एवं सिद्धांतों ने साहित्यकारों के समक्ष सार्वकालिक चुनौती एवं प्रतिस्पर्द्धा प्रस्तुत की है ।

हिन्दी साहित्य के परम्परावादी एवं प्रगतिशील चिंतकों में से कोई भी उनके साहित्यिक सिद्धांतों एवं मान्यताओं पर विमर्श किए बिना अपनी मान्यता एवं स्थापना को अभिव्यक्त नहीं कर सका । वे हिन्दी समीक्षा के मेरुदंड हैं । उनके साहित्य को आधार बनाकर अब तक अग्रलिखित प्रमुख ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : श्री शिवनाथ ; आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धांत : डॉ. रामलाल सिंह; रामचन्द्र शुक्ल : चन्द्र शेखर शुक्ल; आचार्य शुक्ल : सिद्धांत और साहित्य : डॉ. जयचन्द्र राय; आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना : डॉ. रामविलास शर्मा आदि ।

उपर्युक्त ग्रंथों में शुक्ल जी के निबंधों का विवेचात्मक अध्ययन का सर्वथा अभाव है। अतः इस अभाव की पूर्ति हेतु मैंने ''आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंधों का विवेचनात्मक अध्ययन'' विषय पर शोध-कार्य करने का संकल्प किया । मेरे इस संकल्प को गुरुजनों की स्वीकृति प्राप्त हुई और मैंने इस दिशा में कदम बढ़ाया ।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध को विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से छह अध्यायों में विभक्त किया गया है । शोध-प्रबंध का प्रथम अध्याय सैद्धांतिक पीठिका के रूप में है । इसमें ''निबंध : स्वरूप विवेचन'' के अन्तर्गत् निबंध का अर्थ एवं निबंध की अवधारणा का अनुशीलन किया गया है। इसी के साथ निबंध के तत्त्व, निबंध-वर्गीकरण एवं निबंध की विशेषताओं का विवेचन किया गया है । निबंध का अर्थ है – वह रचना जिसमें भाव एवं विचारों का बंधन व संगठन हो । इसके पर्याय के रूप में प्रबंध, लेख, सन्दर्भ और रचना शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। अंग्रेजी का 'एस्से' और फ्रेंच का 'एसाई' भी निबंध के ही पर्यायवाची हैं । निबंध का सूत्रपात सोलहवीं शताब्दी के फ्रांसीसी साहित्य में मॉन्तेन' द्वारा हुआ । हिन्दी साहित्य में इसका प्रादुर्भाव अंग्रेजी के सम्पर्क से ही हुआ । हिन्दी साहित्य के कतिपय विद्वानों ने निबंध

को गद्य की श्रेष्ठ विधा माना है, जिसमें किसी गहन विषय पर विस्तृत एवं पाण्डित्य पूर्ण विचार किया जाता है, तो किसी ने भावों या विचारों की प्रधानता तथा शैली की रमणीयता के योग से जिस नवीन साहित्य-रूप का प्रचलन हुआ उसे ही निबंध की संज्ञा प्रदान की । शुक्ल जी ने निबंध को गद्य की कसौटी माना है । उनके अनुसार निबंध में व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता का होना अनिवार्य है ।

पाश्चात्य विद्वानों ने निबंध में आत्माभिव्यक्ति का होना आवश्यक माना है । उन्होंने निबंध को मस्तिष्क की ढीली-ढाली उद्‌भावना भी कहा है । किसी ने निबंध को अव्यवस्थित और विश्रृंखल रचना कहा तो किसी ने मौलिकता से पूर्ण कलेवर मयी रचना कहा है । परात्मक एवं निजात्मक रूप में निबंध के पाँच भेद स्वीकार किए गए हैं – वर्णनात्मक, विवरणात्मक, विचारात्मक, भावात्मक एवं आत्मपरक । निबंध में लेखक के बुद्धि तत्त्व एवं हृदय तत्त्व दोनों का समन्वित रूप प्रस्तुत होता है । विषय-वस्तु का व्यापक क्षेत्र, मर्यादित आकार, वैयक्तिकता, आत्मीयता, स्वाधीन चिंतन, निबंधकार का जीवन-दर्शन, भाषा-शैली, व्यंग्य आदि निबंध की प्रमुख विशेषताएँ हैं । इन सब विशेषताओं से युक्त रचना ही साहित्यिक निबंध कहलाती है ।

वर्तमान में वैचारिक अभिव्यक्ति का यह विशिष्ट साहित्यिक माध्यम देश-विदेश में अत्याधिक विकसित एवं लोकप्रिय है । विचार प्रसार के सर्वाधिक वैज्ञानिक रूप में मान्यता देकर इसको विशेष गौरव प्रदान किया जा रहा है । इसके क्षेत्र, भेद और आयामों में बहुत विस्तार हुआ है । निबंधों की बहु-विध अनेकता को देखकर वस्तु, उद्देश्य और शैली की दृष्टि से अनेकानेक वैविध्य विस्तार एवं परिमाण का पता चलता है ।

शोध प्रबंध के द्वितीय अध्याय में ''आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जीवन एवं साहित्यिक परिचय'' को प्रस्तुत किया गया है । जीवन -परिचय के अन्तर्गत् शुक्ल जी के

जन्म , शिक्षा, विवाह, कार्य-क्षेत्र, देहावसान आदि पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है । शुक्ल जी की प्रतिभा बहुमुखी थी । अतः साहित्यिक परिचय के अन्तर्गत् शुक्ल जी के विभिन्न रूपों का यथा कवि के रूप में, निबंधकार के रूप में, समीक्षक के रूप में, इतिहासकार के रूप में, संपादक के रूप में, अनुवादक के रूप में, कहानीकार के रूप में, जीवनीकार के रूप में तथा संस्मरणकार के रूप में विस्तृत विवेचन किया गया है ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (1884 ई. - 1941 ई.) ने एक कवि के रूप में साहित्य जगत् में कदम रखा । प्रसिद्ध काव्य-संग्रह 'मधुस्त्रोत' के माध्यम से काव्य-क्षेत्र की महिमा बढ़ाई । उन्होंने काव्य को कर्म योग एवं ज्ञान योग के समकक्ष रखते हुए भाव योग कहा, जो मनुष्य के हृदय को मुक्तावस्था में पहुँचाता है । हिन्दी निबंधों को उत्कर्षता प्रदान करने वाले निबंधकारों में शुक्ल जी अग्रगण्य हैं । उनके निबंध 'चिंतामणि' (भाग - 1, 2, 3) में संगृहीत हैं । इन निबंधों में प्रौढ़ चिंतन, सूक्ष्म विश्लेषण एवं तर्क पूर्ण संम्बद्ध विवेचन का चरम आदर्श प्रतिबिम्बित होता है । समीक्षक के रूप में उन्होंने आलोचना को एक परिनिष्ठित स्वरूप प्रदान किया । शुक्ल जी की समीक्षा वस्तुतः भारतीय समाज और साहित्य के गौरवमयी अतीत के प्रति गहरी श्रद्धा, देश के प्रति जागरूकता एवं युगानुकूल विकासशीलता के सहज परिणाम हैं । अपनी सूक्ष्य ग्राहिणी दृष्टि एवं प्रतिपादन क्षमता के बल पर सीमित प्रामाणिक सामग्री के आधार पर हिन्दी साहित्य की समीक्षा का मार्ग प्रशस्त किया। इसिहासकार के रूप में हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखकर साहित्य का मान बढ़ाया । हिन्दी साहित्येतिहास की परम्परा में शुक्ल जी का जो गौरवपूर्ण स्थान है वह परवर्ती साहित्येतिहासकारों की निरन्तर खोजों, निष्कर्षों, मान्यताओं में पूर्णतया सुरक्षित एवं प्रतिष्ठित है । उनका इतिहास आदिकाल विषयक मान्यता के अतिरिक्त अन्य रूपों में साहित्य प्रेमियों की चित्तवृत्ति का प्रकाशक बनकर ही उपस्थित है । संपादक बनकर विभिन्न पत्र-पत्रिकाएँ सम्पादित कीं । भारतीय एवं पाश्चात्य विभिन्न पुस्तकों एवं लेखों का अनुवाद करके एक

सफल अनुवादक बने । अनुवादों में मौलिकता का रंग सर्वप्रथम इन्होनें ही भरा । कहानी, जीवनी एवं संस्मरण लेखन में भी अपनी लेखनी चलाई। इस प्रकार इन्होंने विभिन्न रूपों में साहित्य सृजन कर हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया।

शोध प्रबंध का तृतीय अध्याय ''आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंधों की विषय-वस्तु'' का विवेचन प्रस्तुत करता है । 'चिन्तामणि' पहला भाग के अन्तर्गत् शुक्ल जी द्वारा लिखित मनोविकार एवं समीक्षा सम्बंधी निबंधों की विषय-वस्तु को विवेचित किया गया है। 'चिन्तामणि' द्वितीय भाग के अन्तर्गत् उनके तीन समीक्षात्मक निबंधों की विषय-वस्तु का वर्णन किया गया है । 'चिन्तामणि' तीसरा भाग के अन्तर्गत् शुक्ल जी द्वारा लिखित साहित्यिक निबंध, अनूदित निबंध, भाषा संबंधी निबंध, भूमिका एवं जीवनी संबंधी निबंध तथा स्वागत भाषण सम्बंधी निबंधों की विषय वस्तु का सोदाहरण विवेचन किया गया है । निबंधों के तात्त्विक विवेचन के अन्तर्गत् शुक्ल जी के निबंधों में प्रतिबिम्बित बुद्धि तत्त्व, अनुभूति तत्त्व, कल्पना तत्व, अहं तत्त्व एवं शैली तत्त्व का सोदाहरण विश्लेषण किया गया है ।

हिन्दी निबंध के उन्नायकों में शुक्ल जी एक ऐसे विद्वान हैं, जिन्होंने अपने निबंधों द्वारा हिन्दी साहित्य का मार्ग प्रशस्त किया । निबंध में गूढ़ विवेचन और सूक्ष्म अन्वेषण करने का प्रथम एवं प्रमुख प्रयास का श्रेय शुक्ल जी को ही जाता है । उन्होंने विविध विषयों पर गंभीरता पूर्वक विचार करते हुए अपनी लेखनी आगे बढ़ाई है । बुद्धि, अनुभूति, कल्पना, अंह एंव शैली तत्त्वों से युक्त शुक्ल जी के निबंध हिन्दी साहित्य में ही नहीं अपितु भारतीय निबंध साहित्य में शीर्ष स्थान रखते हैं ।

शोध-प्रबंध के चतुर्थ अध्याय ''आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंधों में प्रतिबिम्बित विभिन्न दृष्टिकोण'' के अन्तर्गत् राजनीतिक दृष्टिकोण, सामाजिक दृष्टिकोण, धार्मिक दृष्टिकोण एवं साहित्यिक दृष्टिकोण का विश्लेषण किया गया है । साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है और प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का प्रतिबिम्ब

होता है । इस कथन के अनुसार शुक्ल जी के साहित्य पर भी तत्कालीन व्यवस्थाओं का प्रभाव पड़ा था, जो उनके साहित्य में दृष्टिगोचर है । राजनीति मनुष्य जीवन पर सर्वाधिक प्रभाव डालती है - यह उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक क्रिया-कलापों से जाना था । वे देश भक्त लेखक थे और साहित्य में देश भक्ति को अनिवार्य मानते थे । उन्होनं अपने राष्ट्र के मनुष्यों और उसकी प्रकृति को देखने, जानने, पहचानने और प्यार करने को कहा । उन्होंने बर्बर साम्राज्यवादी संस्कृति का पुरजोर विरोध किया ।

शुक्ल जी का सामाजिक दृष्टिकोण आदर्शात्मक था । यह दृष्टिकोण धनी वर्ग के हितों के लिए न होकर इसका आधार साधारण जनता का जीवन था । उन्होंने समाज को उच्च दिशा प्रदान के लिए ही तुलसी-साहित्य को आदर्श माना और लोक मंगल की भावना को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया । धर्म को उन्होंने मानव एवं समाज से सम्बंधित माना है। हिन्दू-मुस्लिम कट्टरता का विरोध किया । धर्म के नाम पर प्रचलित रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों का भी विरोध किया । ईश्वर, जीव एवं प्रकृति को धर्म का आधार माना है क्योंकि समाज ही धर्म को धारण करता है । उन्होंने साहित्य के विविध सिद्धांतों का प्रतिपादन करके साहित्य का मान बढ़ाया है ।

शोध-प्रबंध का पंचम अध्याय ''आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंधों की भाषा शैली को प्रस्तुत करता है ।'' 'भाषा' के अन्तर्गत् शुक्ल जी के निबंधों की भाषा का विवेचन किया गया है । 'शैली' के अन्तर्गत् शैली का अर्थ, महत्त्व, भेद एवं शुक्ल जी की निबंध शैली का वर्णनात्मक विवेचन किया गया है । शुक्ल जी ने अपने निबंधों में समीक्षात्मक, गवेषणात्मक, वर्णनात्मक, भावात्मक, हास्य-व्यंग्य प्रधान, विवेचनात्मक, व्याख्यात्मक, उद्‌बोधनात्मक, तर्क पूर्ण, तुलनात्मक, संभाषण, अलंकृत एवं वाक्य विन्यास शैली का प्रयोग किया है । इस अध्याय में इन सभी शैलियों का सोदाहरण विवेचन किया गया है ।

शुक्ल जी की भाषा सरल, सहज एवं बोधगम्य है । भाषा में उनका व्यक्तित्व झलक उठता है । भाषा के सम्बंध में वे अति सजग थे । अतः विषयानुरूप भाषा का प्रयोग किया है । उनके निबंध विचार, तर्क तथा भाव-प्रवणता के संयोग से निर्मित हैं । अतः मनुष्य की भावात्मक सत्ता पर पूर्णतः प्रभाव डालने वाले हैं ।

शोध-प्रबंध का षष्ठ अध्याय 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी निबंध साहित्य को योगदान'' के अन्तर्गत् हिन्दी निबंध साहित्य में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की अवस्थिति, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का निबंध साहित्य को अवदान एवं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अवदान हेतु विभिन्न विद्वानों के विचारों का उल्लेख किया गया है। हिन्दी निबंध का उत्कर्ष काल आचार्य शुक्ल के साहित्यिक लेखन सन् 1920 से आरंभ हुआ । उन्होंने विचारात्मक निबंध लिखे हैं, विचारात्मक निबंधों में जो अभाव दिखाई दिया उन्होंने उसकी पूर्ति का भरसक प्रयास किया । उनके निबंध उनके अन्तःकरण से निकली विचारधारा के ही परिणाम हैं । इन निबंधों ने हिन्दी साहित्य को समृद्ध एवं समुन्नत बनाया है ।

शोध-प्रबंध के उपसंहार के अन्तर्गत् उपर्युक्त अध्यायों से प्राप्त निष्कर्षों का समाहार एवं समाकलन किया गया है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध श्रद्धेय गुरुवर डॉ. सुशील कुमार शर्मा, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग के सफल निर्देशन में पूर्ण हुआ है । उनके विद्वत्तापूर्ण निर्देशन के द्वारा ही यह शोध-कार्य संपन्न हो सका है । उन्होंने मुझे समय-समय पर जो सुझाव दिए इसके लिए मैं उनके भव्य व्यक्तित्व के समक्ष नतमस्तक हूँ । मैं डॉ. दिनेश कुमार चौबे, डॉ. माधवेन्द्र प्रसाद पाण्डेय एवं श्री भरत प्रसाद त्रिपाठी के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ, जिन्होंने समय-समय पर मुझे प्रेरित कर मेरा मनोबल बढ़ाया । मैं डॉ. धर्मदेव तिवारी की भी अत्यंत आभारी हूँ, जिन्होंने शोध-सामग्री उपलब्ध कराकर मेरे शोध-कार्य को

गति प्रदान की । मैं अपनी माताजी श्रीमती चारु दास मालाकार एवं पिताजी श्री प्रभात मालाकार को सादर नमन करती हूँ, जिन्होंने मुझे इस योग्य बनाया । मैं आपनी सासु माँ श्रीमती लीला बर्मन के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ, जिनका शोध-कार्य की पूर्णता हेतु सदैव संबल मिलता रहा। शोध-कार्य की पूर्णता में मेरे पति डॉ. मानव ज्योति बर्मन प्रेरणा स्रोत रहे। उन्होंने मुझे बहुमुखी सहयोग प्रदान किया, उनका सहयोग सदैव स्मरणीय रहेगा । मेरे पुत्र प्रियांशु ने जो मूक सहयोग दिया उसे भुलाना मेरे लिए असंभव है ।

मैं डॉ. इन्द्र कुमार भट्टाचार्या, प्राचार्य, कॉटन कॉलेज, गुवाहाटी एवं हिन्दी विभाग के समस्त प्राध्यापकों को भी हार्दिक धन्यवाद देती हूँ, जिन्होंने शोध-प्रबंध की पूर्णता तक, मुझे सहयोग प्रदान किया । अंत में, मैं अपने सभी मित्र, परिवारी जन एवं शुभचिंतकों की भी अभारी हूँ, जिन्होंने प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से मुझे सहयोग प्रदान किया है ।

कुसुम कुंज मालाकार

अनुसंधित्सु

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

प्राक्कथन I - VIII

प्रथम अध्याय : निबंध : स्वरूप विवेचन 1 - 29

1. क. : निबंध का अर्थ
1. ख. : निबंध की अवधारणा
1. ख. I : भारतीय अवधारणा
1. ख. II : पाश्चात्य अवधारणा
1. ग. : निबंध के तत्त्व
1. घ. : निबंध-वर्गीकरण
1. ङ. : निबंध की विशेषताएँ

द्वितीय अध्याय : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जीवन एवं साहित्यिक परिचय 30 - 64

2. क. : जीवन-परिचय
2. क. I : जन्म
2. क. II : शिक्षा
2. क. III : विवाह
2. क. IV : कार्य-क्षेत्र
2. क. V : देहावसान
2. ख. : साहित्यिक परिचय
2. ख. I : कवि के रूप में
2. ख. II : निबंधकार के रूप में
2. ख. III : समीक्षक के रूप में
2. ख. IV : इतिहासकार के रूप में
2. ख. V : संपादक के रूप में
2. ख. VI : अनुवादक के रूप में
2. ख. VII : कहानीकार के रूप में
2. ख. VIII : जीवनीकार के रूप में
2. ख. IX : संस्मरणकार के रूप में

तृतीय अध्याय : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंधों की विषय-वस्तु 65-119

3. क. : चिन्तामणि पहला भाग
3. क. I : मनोविकार संबंधी निबंध
3. क. II : समीक्षात्मक निबंध
3. ख. : चिन्तामणि द्वितीय भाग
3. ग. : चिन्तामणि तीसरा भाग
3. ग. I : साहित्यिक निबंध
3. ग. II : अनूदित निबंध
3. ग. III : भाषा संबंधी निबंध
3. ग. IV : भूमिका एवं जीवनी संबंधी निबंध
3. ग. V : स्वागत भाषण संबंधी निबंध
3. घ. : तात्त्विक विवेचन
3. घ I : बुद्धि तत्त्व
3. घ II : अनुभूति तत्त्व
3. घ III : कल्पना तत्त्व
3. घ IV : अहं तत्त्व
3. घ V : शैली तत्त्व

चतुर्थ अध्याय : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंधों में प्रतिबिम्बित विभिन्न दृष्टिकोण 120-157

4. क. : राजनीतिक दृष्टिकोण
4. ख. : सामाजिक दृष्टिकोण
4. ग. : धार्मिक दृष्टिकोण
4. घ. : साहित्यिक दृष्टिकोण

पंचम अध्याय : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंधों की भाषा-शैली 158-199

5. क. : भाषा
5. ख. : शुक्ल जी के निबंधों की भाषा
5. ग. : शैली
5. घ : शुक्ल जी की निबंध-शैली
5. घ I : समीक्षात्मक शैली
5. घ II : गवेषणात्मक शैली
5. घ III : वर्णनात्मक शैली

5. घ IV : भावात्मक शैली
5. घ V : हास्य-व्यंग्य प्रधान शैली
5. घ VI : विवेचनात्मक शैली
5. घ VII : व्याख्यात्मक शैली
5. घ VIII : उद्‌बोधनात्मक शैली
5. घ IX : निर्णयात्मक शैली
5. घ X : तर्कपूर्ण शैली
5. घ XI : तुलनात्मक शैली
5. घ XII : संभाषण शैली
5. घ XIII : अलंकृत शैली
5. घ XIV : वाक्य विन्यास शैली

षष्ठ अध्याय : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी निबंध-साहित्य को योगदान **200-239**

6. क : हिन्दी निबंध साहित्य में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की अवस्थिति
6. ख : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का निबंध-साहित्य को अवदान
6. ग. : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अवदान हेतु विभिन्न विद्वानों के विचार

उपसंहार **240-249**

संदर्भ ग्रंथ-सूची **250-257**

प्रथम अध्याय

निबंध : स्वरूप विवेचन

प्रथम अध्याय

निबंध : स्वरूप विवेचन

'गद्यं कविनां निकष वदन्ति' -- गद्य को कवियों की कसौटी कहा गया है। इस सम्बंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी कहते हैं कि यदि गद्य कवियों की कसौटी है, तो निबंध, गद्य की कसौटी है ।[1] वास्तव में निबंध में ही हम गद्य का निजी रूप देखते हैं। साहित्य की अन्य विधाओं में तो गद्य की भाषा एक माध्यम मात्र है, किन्तु निबंध में वह अपनी पूर्ण शक्ति के साथ प्रकट होती है । निबंध में ही गद्य-लेखक की शैली का पूर्ण विकास दिखाई पड़ता है । शैली ही व्यक्ति है (Style is the man himself) की उक्ति साहित्य की इस विधा के सम्बंध में पूर्णतया सार्थक होती है। निबंध की इस विधा में सभी तत्त्व रहते हैं किन्तु इसमें शैली को कुछ अधिक महत्त्व मिला है । कोई विषय निबंध के क्षेत्र से बाहर का नहीं है । इतिहास, पुरातत्त्व, दर्शन, विज्ञान, आलोचना, जीवन, मीमांसा, कथा, यात्रा सभी इसके व्यापक क्षेत्र के भीतर आते हैं । शैली की विशेषता विविध प्रकार के विवेचनों और वर्णनों को निबंध की संज्ञा प्रदान करती है ।[2]

1.क. निबंध का अर्थ :

निबंध संस्कृत भाषा का शब्द है । 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'बंध' धातु में 'धञ्' प्रत्यय के संयोग से इसकी निष्पत्ति हुई है । जिसका अर्थ है -- बाँधा हुआ, कसा हुआ अर्थात् निःशेष रूप से बंध या संगठन को निबंध कहा गया है ।[3] प्राचीन काल, में मुद्रण यंत्र के आविष्कार से पूर्व भोज पत्रों को एकत्रित कर सँवारने के बाद सीकर पुस्तकाकार रूप दिया जाता था । इसी क्रिया को संस्कृत में निबंध कहते हैं । वाचस्पत्यम् कोश में भी 'नि' उपसर्ग में बंध धातु में धञ् प्रत्यय लगाकर निबंध की व्युत्पत्ति की गई है । जिसका अर्थ बाँधना, संग्रह करना अथवा रोकना है ।[4]

याज्ञवल्कय-स्मृति में 'निबंधोदवमेव' कहकर निबंध की पुष्टि की है ।[5] काशी नगरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्द सागर' में निबंध का अर्थ है -- 'बन्धन अर्थात् वह व्याख्या जिसमें अनेक मतों का संग्रह हो ।[6] गोस्वामी तुलसीदास ने भी लिखा है कि -- ''नानापुराणनिगमागम ..... भाषा निबन्धमञ्जुमातनोति ।''[7] हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार -- 'निबंध का प्रयोग लिखे हुए पत्रों को संवारकर बाँधने या सीने की क्रिया के लिए भी होता था, किन्तु कालान्तर में अर्थ-संकोच के रूप में केवल साहित्यिक कृति के लिए इसका प्रयोग किया जाने लगा ।'[8]

निबंध के पर्याय के रूप में प्रबंध, लेख, सन्दर्भ और रचना शब्दों का प्रयोग भी मिलता है ।

प्रबंध : प्रबंध शब्द का मूल अर्थ है -- किसी विषय पर कल्पना द्वारा ग्रंथ का प्रणयन करना । दूसरे शब्दों में परम्परानुमोदन के साथ किसी विषय की कथा का गद्य या पद्य में प्रस्तुतीकरण प्रबंध कहलाता है ।[9]

लेख : लेख शब्द का मूल अर्थ है -- समस्त लिखी गई सामग्री । वास्तव में यह गद्य रचना के लिए प्रयुक्त होता है । इसमें लेखक निर्वैयक्तिक ढंग से वर्णन करता है । इसे अंग्रेजी में आर्टिकल कहते हैं ।[10]

सन्दर्भ : सन्दर्भ का अर्थ है -- पिरोना, प्रसंग, सम्बंध निर्वाह, एक साथ बाँधना, बुनना, संकलन करना, व्यवस्थित करना आदि । साहित्यिक रचना के अन्तर्गत् यह ग्रंथ है, जिसमें ग्रंथ के दुरूह स्थलों का अर्थ दिया गया हो । निबंध के पर्याय के रूप में यह वह गद्य रूप है, जिसमें किसी विषय के किन्हीं प्रसंगों पर विचार प्रकट किए जाते हैं।[11]

रचना : रचना का प्रयोग कृति के लिए होता है । निबंध के अर्थ में यह किसी विषय या वस्तु पर उनके स्वरूप, प्रकृति, गुण-दोष आदि की दृष्टि से लेख की गद्यात्मक

अभिव्यक्ति है । अंग्रेजी में इसे कम्पोजिशन कहते हैं ।[12] वस्तुतः निबंध लैटिन के 'एक्सेलिजर' फ्रेंच के 'एसाई' और अंग्रेजी के 'एसे' का पर्यायवाची शब्द है ।

1.ख. निबंध की अवधारणा :

सर्वप्रथम निबंध का सूत्रपात सोलहवीं शताब्दी के फ्रांसीसी साहित्य में 'मॉन्तेन' द्वारा हुआ था । इन्होंने ही सर्वप्रथम सन् 1580 में निबंध के लिए एसाई (ESSAI) संज्ञा का प्रयोग करके इसके नामकरण का श्रेय भी प्राप्त किया । इंग्लैंड में भी यह विधा लगभग समानान्तर कालावधि में विकसित हुई । वहाँ आधुनिक निबंध का श्रीगणेश अंग्रेजी के प्रमुख निबंधकार सर फ्रांसिस बेकन की 'ESSAI' (1597ई.) शीर्षक रचना के प्रकाशन से स्वीकृत किया जाता है । निबंध का विकास शनैः शनैः यूरोप के अन्य देशों, अमेरिका और भारत में भी हुआ ।

हिन्दी में निबंध विधा का प्रादुर्भाव अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क से हुआ । यूरोप में इसके उद्‌भव के करीब ढाई सौ वर्षों बाद हिन्दी में इसकी व्याप्ति हुई । आज वैचारिक अभिव्यक्ति का यह विशिष्ट साहित्यिक माध्यम, देश-विदेश में अत्याधिक विकसित एवं लोकप्रिय है । विचार-प्रसार के सर्वाधिक वैज्ञानिक रूप में मान्यता देकर इसको विशेष गौरव प्राप्त किया जा रहा है । इसके क्षेत्र, भेद-प्रभेद और आयामों में आशातीत विस्तार हुआ है । निबंधों की बहुविध अनेकरूपता को देखकर वस्तु उद्देश्य और शैली की दृष्टि से अनेक वैविध्य विस्तार एवं परिमाण का पता चलता है । शास्त्रीय स्तर पर भी निबंध के विषय में तरह-तरह की अवधारणाएँ अस्तित्व में आ रही हैं ।

देशकाल की गतिशील सापेक्षता में सचेतन रचनाकार की सर्जनात्मक कृति होने के कारण किसी भी साहित्यक विधा को सुनिश्चित परिभाषा में बाँध पाना संभव नहीं होता, तथापि अनेक दृष्टियों के लक्षण-निर्देश और स्वरूप विवेचन करते हुए विधाओं

को परिभाषित करने की प्रशस्त परम्परा रही है । इसी क्रम में भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने साहित्य की निबंध विधा को भी परिभाषित करने का प्रयास किया है।

1.ख. । भारतीय अवधारणा :

हिन्दी में निबंध-लेखन का सूत्रपात आधुनिक काल के प्रारंभ (भारतेन्दु युग) में पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क के माध्यम से हुआ । इसने राष्ट्रीय जागरण और व्यक्ति-चेतना के वर्चस्व का नया आयाम प्राप्त कर लिया और यह लेखकों के वैचारिक संप्रेषण का अत्यन्त लोकप्रिय माध्यम बन गया ।

परिभाषाएँ :

1. डॉ. श्यामसुन्दर दास - ''निबंध उस लेख को कहना चाहिए जिसमें किसी गहन विषय पर विस्तृत एवं पांडित्यपूर्ण विचार किया गया हो ।''[13]
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - ''आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबंध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्त्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो ।''[14]
3. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी - ''सम्पूर्णता का विचार न करने वाला गद्य रचना का वह प्रकार, जिसमें स्वानुभूति की प्रधानता हो, विषय-निरूपण में स्वतंत्रता हो, जिसमें लेखक का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से प्रतिबिंबित हो, जिसकी शैली मौलिक तथा साहित्य-कोटी की हो, निबंध कहलाएगा ।''[15]
4. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - ''भावों या विचारों की प्रधानता तथा शैली की रमणीयता के योग से जिस नवीन साहित्य-रूप का प्रचलन हुआ, उसे ही निबंध की संज्ञा दी गई है । यह व्यक्ति की स्वाधीन चिंता की उपज है ।''[16]
5. डॉ. नगेन्द्र - ''निबंध उस कलात्मक गद्य लेख को कहते हैं, जिसमें वैयक्तिक दृष्टिकोण तथा आत्मिक ढंग से विषय का प्रवाहपूर्ण वर्णन हो और जो अपने संक्षिप्त आकार में स्वतःपूर्ण हो ।''[17]

6. श्री जयनाथ नलिन - "निबंध किसी विषय पर स्वाधीन चिंतन और निश्छल अनुभूतियों का सरल-सजीव और मर्यादित गद्यात्मक प्रकाशन है ।"[18]

7. बाबू गुलाबराय - "निबंध उस गद्य रचना को कहते हैं, जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वछंदता, सौष्ठव और सजीवता के साथ ही आवश्यक संगति और सुसंबद्धता के साथ किया गया हो ।"[19]

8. डॉ. भगीरथ मिश्र - "वह गद्य रचना जिसमें किसी विषय का श्रृंखलित विवेचन अथवा वैयक्तिक भाव या विचारधारा का क्रमबद्ध रोचक प्रकाशन प्रस्तुत किया जाता है, निबंध कहलाता है ।"[20]

9. डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय - "निबंध गद्य के माध्यम से किसी विषय की भावात्मक अथवा बौद्धिक प्रतिक्रिया की ऐसी अभिव्यक्ति है, जिसमें अपेक्षित निजीपन, स्वछंदता एवं संगति के एक साथ दर्शन होते हैं ।"[21]

10. डॉ. रामचन्द्र तिवारी : "निबंध गद्य की आधुनिक विधा है । इसमें लेखक की रुचि मनःप्रवृत्ति के अनुसार विचारों की श्रृंखला अव्यवस्थित और शिथिल अथवा सुगठित एवं व्यवस्थित दोनों ही प्रकार की हो सकती है ।"[22]

इस प्रकार विभिन्न विद्वानों ने निबंध की परिभाषाएँ दी हैं । सभी ने विचारों की संबद्धता, गंभीरता, रमणीयता और व्यवस्था को निबंध का प्रमुख वैशिष्ट्य माना है ।

1.ख. II पाश्चात्य अवधारणा :

निबंध का सूत्रपात पाश्चात्य विद्वानों द्वारा ही किया गया था । पाश्चात्य साहित्य, विशेषतः अंग्रेजी साहित्य में निबंध की उत्पत्ति का एक रोचक इतिहास है ।

फ्राँसीसी विद्वान् मिकेल मॉटेन (1590-1649 ई.) को निबंध का जन्मदाता माना जाता है । पश्चात्य साहित्यकारों का मानना है कि एक बार मॉटेन ने स्वयं के विषय में लिखने का विचार किया । इस कार्य हेतु उन्होंने निर्जन स्थान को चुना । ऐसा उन्होंने कदाचित् इस अभिप्राय से किया कि उस निर्जन स्थान में दूसरों के विचारों से अप्रभावित होकर स्वतंत्र रूप से खुद के विचार लिखेंगे । वहाँ उन्होंने जो लिखा उसे 'एसाई' (ESSAI) के नाम से प्रकाशित किया । यह सन् 1637 की घटना है । इससे पूर्व इस शब्द का प्रयोग 'प्रत्यय' 'परीक्षा' अथवा 'परीक्षण' के लिए होता था । मॉटेन ने ही इसको साहित्यिक अर्थ में प्रयोग किया । वस्तुतः उस समय के लेखकों पर उनके व्यक्तित्व, उनकी रचना शैली और उनके निबंधों का इतना प्रभाव पड़ा कि अल्प समय में ही निबंध-साहित्य ने पाश्चात्य साहित्य में अपना स्थान बना लिया । तभी से पाश्चात्य विद्वान भी अपने अनुभव एवं विचारों से निबंध को परिभाषित करते रहे हैं।

परिभाषाएँ :

1. मॉटने - इन्होंने निबंध में आत्माभिव्यक्ति को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है- मेरी भावनाएँ हैं, इनके द्वारा मैं किसी सत्यान्वेषक का दावा नहीं करता, प्रत्युत स्वयं को पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करता हूँ । इन्होंने निबंध को ''व्यक्तित्व का चित्र'' कहा है ।[23]
2. बेकन - इन्होंने निबंध को बिखराव युक्त चिंतन कहा है।[24]
3. डॉ. सेमुएल जॉनसन - ''निबंध मस्तिष्क की ढीली ढाली उद्‌भावना है , जो अनियंत्रित, क्रमहीन, अपरिचित और अपरिपक्व रचना है, यह नियमबद्ध एवं क्रमबद्ध रचना नहीं है ।''[25]
4. क्रेबल - ''निबंध लेखन कला का बहुत प्रिय साधन है । जिस लेखक में न

प्रतिभा है और न ज्ञान-बुद्धि की जिज्ञासा । निबंध लेखन में उसका भी अनुकूल प्रभाव पड़ता है और उस पाठक को भी भाता है, जो विविधता तथा हल्की रचना में आनंद लेता है ।''[26]

5. आबोर्म्स - ''निबंध सामयिक विषय पर हल्का-फुल्का अनौपचारिक लेख है।''[27]

6. जी. वी. प्रेस्तले - ''निबंध मौलिक व्यक्तित्व की निश्छल अभिव्यक्ति है ।''[28]

7. डब्ल्यू. एच. हडसन - ''निबंध प्रकृततः वैयक्तिक होता है । प्रबंध वस्तुपरक हो सकता है, किन्तु निबंध व्यक्ति प्रधान होता है ।''[29]

8. अलेकजेंडर स्मिथ -- इन्होंने निबंध को गीति काव्य के निकट माना है और उसे रचयिता की मनःस्थिति पर पूर्णतः आधृत भी । रचयिता की जैसी मनःस्थिति हो जाने पर प्रथम पंक्ति से लेकर अंतिम पंक्ति तक पूरा निबंध उसी तरह तैयार हो जाता है, जिस प्रकार रेशम के कीड़े के चारों ओर रेशम ।''[30]

9. आक्सफोर्ड अंग्रेजी कोश - निबंध किसी विषय विशेष अथवा किसी विषय के अंश पर एक ऐसी, साधारण, कलेवरमयी रचना है । जिसमें प्रारंभ में अपरिपूर्णता की कल्पना रहती थी, परन्तु अब उसका प्रयोग एक ऐसी रचना के लिए होता है जिसकी परिधि के सीमित रहने पर भी शैली प्रायः प्रौढ़ एवं परिमार्जित रहती है ।[31]

10. वेवस्टर्स न्यू वर्ल्ड डिक्शनरी - ''विश्लेषणात्मक अथवा व्याख्यात्मक प्रकार की लघु साहित्यिक रचना जो विषय सामान्यतया व्यक्तिगत दृष्टिकोण से परिमित रूप में विचार करती है, निबंध कहते हैं ।''[32]

इन पाश्चात्य विद्वानों में किसी ने निबंध को अव्यवस्थित और विश्रृंखल रचना के रूप में स्वीकार किया है तो किसी ने मौलिकता से पूर्ण कलेवरमयी रचना माना है।

भारतीय एवं पाश्चात्य परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि निबंध में गद्यात्मकता, लघुता, वैयक्तिकता एवं घनिष्ठता आवश्यक है । अतः निबंध वैयक्तिक विचार व अनुभूति विशेष की गद्यात्मक अभिव्यक्ति होती है । इन परिभाषाओं के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :

(I) निबंध गद्य की विधा है । गद्य में ही इसका स्वरूप अधिक निखर सकता है ।

(II) निबंध का सम्बंध लेखक की रुचि और व्यक्तित्व से है । अतः उसमें लेखक का व्यक्तित्व प्रमुख रूप से उद्‌घाटित होता है ।

(III) निबंध में हृदय और बुद्धि का समन्वय होता है ।

(IV) निबंध संक्षिप्त एवं लघु होते हुए भी पूर्ण होता है ।

(V) निबंध का विषय कुछ भी हो सकता है ।

(VI) निबंध में विनोद का पुट भी हो सकता है ।

(VII) निबंध में भाषा-शैली का प्रौढ़ एवं प्रांजल होना आवश्यक है ।

1.ग. निबंध के तत्त्व :

निबंध के निम्नलिखित प्रमुख तत्त्व हैं :

स्वाधीन चिंतन : लेखक के विचार स्वयं के होते हैं । वह अपने विचारों को स्पष्ट एवं मान्य करने हेतु तुलनात्मक रूप का सहारा लेता है । जगह-जगह पर स्वजीवन दर्शन की व्याख्या एवं परीक्षा करता है । जिससे लेखक का व्यक्तित्व निबंध में झलकता है ।

अनुभूति : निबंधों में निश्चल अनुभूति से ही वे प्रभावपूर्ण होते हैं । इन अनुभूतियों में हार्दिकता, भावुकता एवं स्पष्टता विद्यमान रहती है ।

सरसता : निबंध रोचक एवं रमणीय हो इसके लिए सरसता अति आवश्यक है ।

सरसता से ही वह मनोरंजक एवं रुचिपूर्ण होता है । इसके कारण काव्यात्मकता भी आती है।

विचार श्रृंखलता : यह निबंध का एक मुख्य तत्त्व हैं, क्योंकि विचार श्रृंखलता से ही निबंध की रूपरेखा स्थिर होती है । विचार सुनियोजित एवं स्पष्ट होने चाहिए । विचारों का तारतम्य बना रहना भी अति आवश्यक होता है । विचारों का क्रम और उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार होना चाहिए कि श्रृंखला की कड़ियों के समान एक विचार दूसरे विचार से गूँथा हुआ हो । निबंध के उद्देश्य को ध्यान में रखकर विचारों का प्रस्फुटन किया जाता है । पाठक का चित्त उस विचार प्रवाह से सराबोर हो और तट पर पहुँचने पर भी पाठक का ध्यान न टूटे ऐसी विचार-सरणि निबंध में होनी चाहिए ।

सजीवता : भावों एवं विचारों की सजीवता से निबंध प्रभावात्मक बनता है ।

बंधन : निर्बंधन-विचारों की श्रृंखला सुनियोजित हो, इसलिए बंधन की आवश्यकता है । इससे विचार परस्पर बँधे हुए रहते हैं -- "जब साहित्य के अंग के रूप में निबंध की चर्चा होती है तब वह सामान्य जानकारी प्रदान करने वाला निबंध नहीं होता, प्रत्युत वह आनन्द प्रद निबंध होता है ।"[33] निबंध का उद्देश्य भी निबंध के अन्दर समाहित होता है ।

1.घ. निबंध-वर्गीकरण :

निबंध के वर्गीकरण के अनेक आधार हो सकते हैं । बाह्य एवं आन्तरिक विविधता इसके मूलाधार हैं। विवेचन-पद्धति, भाषा-शैली, विषय-वस्तु सभी निबंधों में समान नहीं हो सकते । व्यक्ति को प्रधान मानकर वर्गीकरण किया जाए, तो व्यक्ति प्रधान और विषय प्रधान दो वर्ग हो सकते हैं । व्यक्ति-प्रधान या वैयक्तिक निबंध में निजता पर ध्यान केन्द्रित रहता है । इस 'निजता' को आत्माभिव्यंजकता या व्यक्ति प्रधानता भी कह सकते हैं । इसके अन्तर्गत् लेखक अपनी निजी वेदना-विकलता,

हर्ष-विषाद, भाव-अभाव को व्यक्त करता है । विषय प्रधान में स्वयं को अलग कर शेष संसार पर विचार किया जाता है । शास्त्रीय शब्दावली में इसे निजात्मक (Subjective) एवं परात्मक (Objective) कह सकते हैं । इसे विषयी प्रधान और विषय प्रधान भी कहा जा सकता है ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल निबंध के दो प्रकार मानते हैं -- (i) विचारात्मक निबंध (ii) भावात्मक निबंध । (i) विचारात्मक निबंध -- इनमें मस्तिष्क की प्रधानता होती है। (ii) भावात्मक निबंध -- इनमें हृदय की प्रधानता होती है । उन्होंने विचारात्मक निबंधों को श्रेष्ठ माना है -- "विश्वविद्यालयों के उच्च शिक्षा-क्रम के भीतर हिन्दी-साहित्य का समावेश हो जाने के कारण उत्कृष्ट के निबंधों की -- ऐसे निबंधों की जिनकी असाधारण शैली या गहन विचारधारा पाठकों को मानसिक श्रमसाध्य नूतन उपलब्धि के रूप में जान पड़े -- जितनी आवश्यकता है, उतने ही कम वे हमारे सामने आ रहे हैं।"[34]

निबंध के लक्षणों के आधार पर साहित्य कोश में उसे प्रधान रूप से तीन वर्गों में रखा है -- कथात्मक, वर्णनात्मक, चिंतनात्मक । कथात्मक निबंध में कोरे काल्पनिक इतिवृत्त, पौराणिक आख्यान, आत्मचरितात्मक वृतांत अथवा ऐतिहासिक, प्रतीकात्मक, काल्पनिक आदि अनेक प्रकार की कहानियों का उपयोग किया जा जाता है । वर्णनात्मक निबंध में प्राकृतिक दृश्य अथवा मानव-जीवन-सम्बंधी किसी भी घटना का वर्णन होता है । चिंतन प्रधान निबंधों के विषयों के लिए मानव-जीवन के अनन्त कार्यों और व्यापारों की राशि खुली हुई है, उनका संकेत करना भी व्यर्थ है । चिंतन प्रधान निबंधों में लेखक अपनी प्रवृत्ति, स्वभाव या परिस्थिति के अनुसार भावना को मुख्य आधार बनाता है । भावना और विचार का सहज समन्वय करके पाठक के हृदय को द्रवीभूत करते हुए उसकी बुद्धि को प्रेरित करता है ।[35]

निबंध का क्षेत्र अत्यन्त विशद् है । भव-सागर की एक-एक लहरी उसका रूप हो सकती है । इन दृष्टि से निबंध के अनेक भेद किए जा सकते हैं । इन भेदों में सबसे प्रमुख लेखक का दृष्टिकोण है । लेखक एक ही वस्तु पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विचार करते हैं । इसलिए निबंध के विषय और शैली में अनेकरूपता आना स्वाभाविक ही है । विद्वानों ने निबंध के भेद किए है, जिसमें परात्मक एवं निजात्मक प्रमुख है :

परात्मक : (क) वर्णनात्मक

(ख) विवराणात्मक

निजात्मक : (क) विचारात्मक

(ख) भावात्मक

(ग) आत्मपरक

वर्णनात्मक निबंध : ऐसे निबंध जिनमें ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त भावों अथवा विचारों का प्रकाशन अपनी भाषा और शैली में किया जाता है, वर्णनात्मक निबंध कहलाते हैं । इसमें वर्णन की प्रधानता होती है । इस प्रकार के निबंधों में विचार, अनुभूति, कल्पना आदि सभी प्रकार के वर्णन को जीवन्त, मोहक, आकर्षण युक्त और रसीला बनाने के लिए प्रयत्नशीलता रहती है । ये सभी तत्त्व साधन हैं, जो स्थानगत चित्र उपस्थित करते हैं । यही चित्र निबंध में साध्य और फल है, रस अनुभूतिलीनता है ।[36]

वर्णन में लेखक का व्यक्तित्व अवश्य प्रकट होना चाहिए । अभीष्ट या प्रतिपाद्य को लेखक इस प्रकार वर्णन करे कि उससे पाठक रागात्मक सम्बंध स्थापित कर ले । वह आनन्द का अनुभव कर सके । आवश्यक नहीं कि वह जीवन जगत के कोमल, कमनीय एवं मोहक चित्र ही अंकित करे । कला की विशेषता यह है कि वह प्रकृति का दुर्घष और रूक्ष चित्रण करे । मनुष्य के अंधकारमय पक्ष, अभाव, दैन्य, रोग, परतंत्रता,

मूल्य-विघटन का चित्र उसी तन्मयता एवं ईमानदारी के साथ प्रस्तुत करे जैसे वह उज्ज्वल पक्ष का करता है । अपेक्षित को कला का विषय बनाना कला का साध्य है, कलाकार की महानता भी ।

वर्णनात्मक निबंधों में कल्पना तत्त्व की प्रधानता रहती है । कल्पना की ऐसी दृष्टि जो विपरीत परिस्थिति में भी सत्य का संधान कर पाए और उससे पाठकों का साक्षात्कार भी । उसकी कल्पना इतनी उर्वर एवं सजग हो कि बिम्ब समक्ष प्रस्तुत हो जाए । तभी पाठक को रस आयेगा और उसका अनुकूल प्रभाव भी पड़ेगा । कल्पना के साथ इसमें भावना और रागात्मक तत्त्व का स्थान है । विचार और बुद्धि की भी अपेक्षा होती है । सरलता, सुबोधता इसकी शैली के प्रधान गुण हैं, परन्तु ऐसे निबंधों में प्रसाद गुण आद्योपान्त बना रहता है और यही इसकी सफलता का कारण है ।

डॉ. रामचन्द्र तिवारी के अनुसार निबंध के दो रूप मिलते हैं -- (क) यथातथ्य वर्णन (ख) कल्पना प्रधान वर्णन ।[37] वर्णनात्मक निबंधों में प्राकृतिक अथवा अप्राकृतिक पदार्थों का वर्णन होता है । प्राकृतिक पदार्थों के अन्तर्गत् नदी, पर्वत, झरना, समुद्र, वायु, जीव-जन्तु, पेड़-पौधे इत्यादि आते हैं । अप्राकृतिक पदार्थों में उन वस्तुओं का समावेश होता है जो मनुष्य कृत हैं । रेल, जहाज, नगर, ग्राम, त्योहार, मनोरंजक घटना आदि । इन निबंधों में पदार्थों तथा घटनाओं का यथातथ्य निरूपण होता है । स्थूल वर्णन, विस्तार, दृष्टिकोण, संगतभाव एवं प्रस्ताव आदि पाँच बातें इन निबंधों में विशेष रूप से पाई जाती हैं ।

वर्णनात्मक निबंध लिखना अत्यन्त सरल भी है और दुष्कर भी । सरल इसलिए कि किसी भी विषय पर इसकी रचना हो सकती है और उस रचना में निबंधकार को कुछ विशेष चिन्तन नहीं करना पड़ता । वह जैसा देखता है, वैसा ही चित्र उसे प्रस्तुत कर देना होता है । गहन चिन्तन अथवा मौलिक विचार अथवा गहन अनुभूति की

आवश्यकता नहीं होती । किन्तु कठिनाई इसलिए होती है कि विषयवस्तु बड़ी सरल और सुपरिचित होती है, इसलिए उस पर लिखे गए निबंध में प्राण-प्रतिष्ठा करना लेखक के लिए दुर्लभ हो जाता है । उसे पाठकों की रागात्मक वृत्ति को कल्पना और भावना के सहारे जगाना होता है और यह कार्य अत्यन्त दुष्कर है । अतः लेखक सरल एवं प्रसाद शैली की सहायता से ऐसे निबंधों की रचना करता है ।

विवरणात्मक निबंध : विवरण का अर्थ है -- वृतान्त, हाल या बयान । अतः ऐसे निबंध, जिनमें कथाओं, घटनाओं, युद्धों, यात्राओं, सम्मेलनों, महापुरुषों के जीवन-वृतान्तों, नरेशों की शासन-पद्धतियों आदि का क्रम से उल्लेख किया जाए, कथात्मक, आख्यानात्मक अथवा विवरणात्मक निबंध कहलाते हैं । इसमें वास्तविक एवं काल्पनिक घटनाओं का भी समावेश होता है । घटनाओं के प्रति लेखक की आत्मीयता अति आवश्यक है । व्यक्तित्व की छाप इसकी प्रधान विशेषता है । वर्णनात्मक निबंध में जहाँ स्थानगत वर्णन रहता है, वहाँ विवरणात्मक निबंध में कालगत । वर्णन में जहाँ अधिकतर क्रियाहीन पदार्थों का चित्रण रहता है, वहाँ विवरण में क्रियाशीलता का । कथात्मकता इसकी सर्वोपरि विशेषता है । ऐतिहासिकता भी इसी को कहा जाता है । डॉ. रामचन्द्र तिवारी ने विवरणात्मक निबंधों के भेद निम्नलिखित किए हैं[38] :

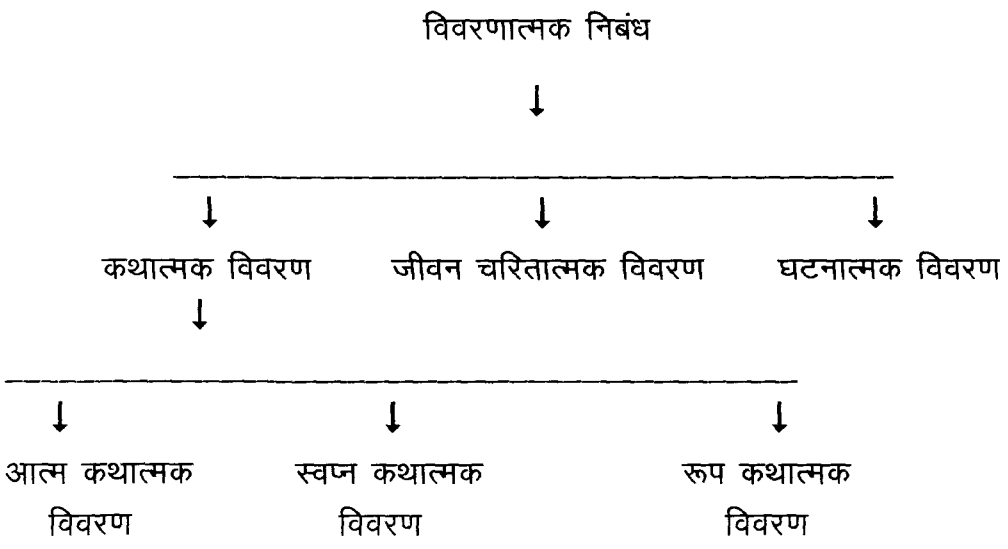

इन निबंधों में कल्पना तथा भाव तत्त्व की प्रधानता रहती है । इनमें विचार, कल्पना और भाव के पीछे आते हैं । विवरणात्मक निबंध में लेखक का कार्य वर्णन-प्रधान, निबंध-लेखन से कठिन एवं कलात्मक होता है । यह अपेक्षाकृत कल्पना तथा अनुभूति की अधिक माँग करता है । इनमें घटनाओं के साथ क्रियाशील व्यक्ति रहते हैं । व्यक्ति के कार्य-व्यापार से उसका सीधा सम्बंध है । वास्तविक उद्‌घाटन और भावों को स्थापित करने में जीवन कल्पना और अनुभूति की अपेक्षा है । इस प्रकार के निबंधों के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि उनमें घटनाओं की श्रृंखला न टूटे । इस तारतम्य के निर्वाह के लिए लेखक में चयन-कौशल होना चाहिए। ऐसे निबंधों में लेखक को कलात्मकता की ओर अधिक ध्यान देना होता है इसलिए इसका लेखन अपेक्षाकृत कठिन है । भावों का बिम्ब ग्रहण के लिए सूक्ष्म कल्पना अनुभूति का सहारा अभीष्ट है । प्रसाद शैली ही इसके लिए उपयोगी है, किन्तु व्यंजना के लिए इसमें यथेष्ट स्थान है । बीच-बीच में हास्य और व्यंग्य की छींटे, रोचकता में चार चाँद लगा देते हैं । विवरणात्मक निबंधों में पाँच मुख्य बिंदु होते हैं :

1. **घटनाक्रम :** काल और क्रम के अनुसार घटनाओं का सजीव वर्णन रहता है और उनका उत्तरोत्तर विकास होता रहता है ।
2. **कारण और कार्य :** घटनाओं का क्रमानुसार वर्णन करने में उनके कारणों का स्पष्ट रूप से विचार करना पड़ता है और घटनाओं से उनका सम्बंध स्थापित करके फल निकालना पड़ता है ।
3. **दृष्टान्त :** प्रायः ऐसे अवसर आ जाते हैं, जहाँ पाठक की बुद्धि कार्य-कारण में सम्बंध स्थापित नहीं कर पाती । ऐसे अवसरों पर लेखक उससे मिलता-जुलता दृष्टान्त देकर पाठक का भ्रम दूर कर देता है ।
4. **संक्षेप :** प्रत्येक खंड के अंत में उसका सारांश दे दिया जाता है । इससे आगे की

घटना समझने में कठिनाई नहीं होती ।

5. आलोचना : वर्णित घटनाओं से सम्बंध रखने वाले पात्रों का चरित्र-चित्रण आलोचनात्मक ढंग से किया जाता है ।

विचारात्मक निबंध : जिनमें किसी अमूर्त विषय को विचार प्रकट किया जाए, उन्हें विचारात्मक निबंध कहते हैं । विचारात्मक निबंध में बुद्धि की प्रधानता रहती है । विचार का अधिकार उसके अन्य तत्त्वों पर रहता है । इस कोटि के निबंधों में समाज, परम्परा, साहित्यिक आस्था, नैतिक शास्त्र पर लेखक स्वाधीन मौलिक विचार प्रस्तुत करता है । व्यक्तित्व का अबाध और चिरंतन सक्रिय बल विचार प्रधान निबंधों में ही प्रकट होता है । जब निबंधकार के समक्ष सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक, धार्मिक समस्याएँ चुनौती बनकर खड़ी होती हैं, तभी उसका चेतन व्यक्तित्व जागृत होता है । इस प्रकार के निबंध में उसके चिंतन, मनन एवं सजग मस्तिष्क की अपेक्षा होती है । विचारात्मक निबंध ही बात की बारीकी, तर्क-योजना, विवेचना-पद्धति की परख और पाठक को अभिभूत करने की कसौटी है । ऐसे निबंधों में आवश्यक है लेखक द्वारा व्यक्त विचारों में नवीनता हो, नई विचारधारा का उन्मेष हो । वह समाज को प्रकाश दिशा तथा गति दे सके । समाज की धमनियों में नए रक्त का संचार करे और जीवन के कठोर यथार्थ से वह सीधे आँख मिला सके।

ऐसे निबंधों में बुद्धि का प्रबल आग्रह रहता है । भावना और कल्पना को यहाँ उतना अवकाश नहीं मिलता । इसलिए ऐसे निबंधों में नीरसता आ जाती है । लेकिन भावना और कल्पना द्वारा नीरसता के कोहरे को हटाया जा सकता है । कटु और कठोर सत्य को भी शर्करा का लेप लगाकर गले के नीचे उतारा जा सकता है । विचारात्मक निबंध लेखक बुद्धि, चिंतन, तर्क का ही सहारा नहीं लेता वरन् उसे सौन्दर्य एवं सन्तुलन सामंजस्य की पटुता से हृदय संवेद्य एवं संप्रेष्य बना देता है । इस प्रकार

के निबंधों में विचारों की बेतरतीब भीड़ नहीं, गणित और नियमित पूँजी मिलेगी ।[39] विचारों का प्रवाह आस-पास चलने वाली तेज लहरों सा रहेगा । उनमें सघनता होगी। भाषा-शैली भी विचारात्मक निबंध में ही जाँची जाती है ।[40] विचारात्मक निबंध अल्पतम शब्दों का लघु पात्र है, जिसमें अधिकतम विचारों का ज्ञान रस भरा है । ऐसे निबंधों में लेखक अपने सीमित दायरे में अधिक से अधिक बातों को समेट लेना चाहता है । फलतः लेख की शैली कसी, मँजी और संश्लिष्ट बन जाती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी लिखते हैं -- लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर पूरी शाखाओं पर विचरता रहता है । यही उसकी अर्थ-सम्बंधी व्यक्तिगत विशेषता है । अर्थ-सम्बंधी सूत्रों की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ ही भिन्न-भिन्न लेखकों का दृष्टि पथ निर्दिष्ट करती है । एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी सम्बंध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर । इसी का नाम है, एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूलाधार वही है । कहना नहीं होगा कि अर्थ सम्बंधी जिस विशेषता का उल्लेख शुक्ल जी करते हैं, वही विचारात्मक निबंध का प्राण होती है ।

इस प्रकार के निबंधों में भाव-तत्त्व अथवा रागात्मक तत्त्व की सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती । कहीं-कहीं उसका भी अस्तित्व होता है । इनमें चार बातें मुख्य रूप से पायी जाती हैं :

1. **मूल तत्त्वों की स्थापना :** मानव समाज जिन कतिपय मूल तत्त्वों पर निर्भर करता है, उनका ज्ञान निरीक्षण और अनुभव से प्राप्त होता है । विचारात्मक निबंधों में इन्हीं मूल तत्त्वों की स्थापना की जाती है ।

2. **परिभाषा :** पाठकों को अमूर्त विषयों का ज्ञान कराने के लिए पारिभाषिक शब्द भी प्रयुक्त होते हैं ।

3. **विवेचन :** प्रायः विवेचन द्वारा प्राकृतिक नियमों की खोज की जाती है । नियम तथा

सिद्धान्त स्थिर हो जाने पर मूल तत्त्वों का पृथक्-पृथक् विवेचन तथा आपस में उनकी तुलना की जाती है ।

4. पर्यालोचन : नियमों तथा सिद्धान्तों की आपस में तुलना करने के पश्चात् उनका विशेष अवस्थाओं में प्रयोग करना बताया जाता है । विचारात्मक निबंध लिखने की यह प्रणाली ही वैज्ञानिक कहलाती है ।

भावात्मक निबंध : जिन निबंधों में रस और भावों की व्यंजना प्रधान रूप से परिलक्षित होती है, उन्हें भावात्मक निबंध कहते हैं । इस प्रकार के निबंधों में भाव-तत्त्व की प्रधानता होती है । हृदय की संवेदनात्मक अनुभूति का प्रकटीकरण 'स्व' की परिधि से 'पर' की ओर होता है । एक व्यक्ति के हृदय का भाव प्रेषित होकर दूसरे व्यक्ति का भाव बन जाता है । इसे प्रेषणीयता कहते हैं । इस प्रकार के निबंधों का सौन्दर्य है प्रवाह । अनिश्चितता एवं असंयत का भाव अत्यन्त भावुकता होने पर ही आता है । बेकन ने इसे उच्छिन्न विचार कहा है ।

भावात्मक निबंधों की दो कोटियाँ हैं । कुछ निबंधों में भावुकता का आधिक्य होने पर भी विचारों की अन्तर्धारा बराबर प्रवाहित होती रहती है तथा कुछ निबंध पूर्णतः भाव-प्रधान हैं । अनुभूतियों की गहनता, भाव की तीव्रता एवं अभिव्यक्ति की स्पष्टता और निश्छलता भावात्मक निबंध की विशेषताएँ हैं । भावों के प्रति एकांत एवं अडिग आस्था भी अत्यावश्यक है । ''इसे किसी पागल का प्रलाप नहीं कहा जाए । यह एक भावुक स्वस्थ हृदय का आत्म निवेदन है । आत्म निवेदन की पहली शर्त है -- निश्छलता एवं ईमानदारी । यही आस्था और निश्छलता शैली को प्रवाह और भाषा को तरलता देती है ।''[41] ''भाव और भाषा दोनों की तरलता से स्निग्धता और सरलता की कलियाँ खिलेंगी, तभी भावात्मक निबंध का अनुरोध सुना जायेगा, तभी पाठक उसमें लेखक और अपने-आपको पा सकेगा, खो भी सकेगा । यही स्थिति भाव लीनता की

होगी । तब निबंध में संगीत की छाया भी आ जायेगी । इन सब गुणों से सम्पन्न रचना में ही हम भावात्मक निबंध का आदर्श पा सकेंगे ।''[42] भावात्मकता या रागात्मकता का अर्थ है भाव को मूर्त करना, उनका बिम्ब सम्मुख उपस्थित करना । लेखक का भाव पाठक को भी भाव दशा में पहुँचा देता है ।

भावात्मक निबंध में यह बंधन नहीं होता है कि किसी अनुभूति विशेष को ही अंकित किया जाए । निबंध की इस विधा विशेष के अन्तर्गत् वे भावात्मक गद्य-खंड भी आते हैं जिन्हें 'गद्य-काव्य' अथवा 'गद्य-गीत' की संज्ञा प्रदान की गई है । दोनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है । लेखक के हृदय-रस की धारा का सतत् प्रवाह भावात्मक निबंधों में होता है । इस प्रकार के निबंधों पर विचार करते हुए डॉ. भगीरथ मिश्र ने लिखा है -- ''भावात्मक निबंधों का उद्देश्य भावोद्रेक या रस-संचार है । निबंध का यह सबसे प्रभावशाली रूप है । प्रेम, करुणा, हास्य, वीरता आदि के भावों का चित्रण करने वाले निबंध बड़े ही प्रभाव पूर्ण होते हैं । भावात्मक निबंधों की तीन शैलियाँ देखी जाती हैं-- धारा शैली, विक्षेप या तरंग शैली और प्रलाप शैली । धारा शैली में मंथर गति से संयत शब्दावली में भाव का धारा प्रवाह प्रकाशन होता है । विक्षेप या तरंग शैली में भावों का प्रकाशन कहीं तेज होता है, तो कहीं मंथर गति से । भावों का प्रकाशन तरंग, मौज या मस्ती में होता है । प्रलाप शैली अतिभावावेश की उच्छृंखल अवस्था में होती है, इसमें लेखक भावों के प्रकाशन में एक व्याकुलता और छटपटाहट का अनुभव करता है और भावों की अनर्गल अभिव्यक्ति भी पुनरुक्ति के कारण इस शैली में होती है ।[43]

आत्मपरक निबंध : वैयक्तिक निबंध लेखक स्वछन्द मनःस्थिति की रचना है । यह रचना एक ओर गद्य रचना के बाह्य उपकरणों से बँधी रहती है, तो दूसरी ओर लेखक के मन की तरंगों से । इस प्रकार के निबंधों में लेखक के मन की अपेक्षा लेखक के व्यक्तित्व का महत्त्व होता है । ऐसे निबंधों में लेखक की अनुभूति, कल्पना, वैयक्तिक

चिंतन और स्वभाव आदि तत्त्व उन्हें अपूर्व आकर्षण प्रदान करते हैं । वैयक्तिक निबंधों को व्यक्तिनिष्ठ, आत्मनिष्ठ, व्यक्ति व्यंजक एवं ललित निबंध भी कहा जाता है । इन्हें अंग्रेजी के Personal Essay का पर्याय समझना भूल होगी । पश्चिम का 'मैं', हम के विरोध में है । इसलिए वहाँ के व्यक्ति-व्यंजक निबंधों में अनुभव की अद्वितीयता और एकान्त निष्ठता पर, विशेष बल दिया जाता है । जबकि हिन्दी का मैं 'हम' के अनुवाद का एक शक्तिशाली माध्यम मात्र बनकर उपस्थित होता है । उसमें अकेलापन होते हुए भी 'हम' का आह्वान करने की क्षमता है । इस प्रकार के निबंधों में निबंधकार सर्वथा उन्मुक्त और स्वछन्द रूप से सामने आता है । व्यक्ति व्यंजक निबंध के भी दो वर्ग होते हैं -- विषय-प्रधान निबंध और विषयी प्रधान निबंध । विषय प्रधान निबंध विषयी प्रबंधन। निबंध की उपेक्षा अधिक वैयक्तिक होते हैं । यह वैयक्तिकता किसी वस्तु को आसक्ति या वैज्ञानिक दृष्टि से देखने की कहीं विरोधी नहीं है, वरन् भावावेग में बहकर वह निबंध रचना करता है । इस सन्दर्भ में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं -- ''यद्यपि निबंध मात्र अन्य सभी रचना प्रकारों की अपेक्षा व्यक्ति व्यंजक होती ही है, पर निबंध में भी 'विषय-प्रधान' निबंध 'विषयी-प्रधान' की अपेक्षा अल्प वैयक्तिक होते हैं -- किसी भी तत्त्व निर्णय के लिए हमें इस रास्ते को अपनाना ही पड़ेगा । परन्तु साहित्य केवल तथ्य निर्णय से ही संतुष्ट नहीं होता, वह कुछ नया निर्माण भी करना चाहता है । कोई भी व्यक्ति केवल भावावेगों का गट्ठर नहीं होता । वह वस्तु को देखते समय यथा शक्य निस्संग बुद्धि से उसका यथार्थ भी निर्णय करता है । इसलिए वैयक्तिक या आसक्त भाव से उसका देखना वैज्ञानिक के देखने की क्रिया का विरोधी नहीं है, बल्कि उसी का भावावेग से सना हुआ कार्य है ।''[44]

डब्ल्यू. एच. हडसन के अनुसार -- ''निबंध की सीमा में व्यक्ति व्यंजक निबंधों की विवेचना ही समीचीन है ।''[45] डॉ. गुलाबराय कहते हैं -- ''निबंध में व्यक्तित्व

छिपाया नहीं जा सकता । लेखक जो कुछ लिखता है, उसको अपने निजी मत के रूप में अथवा अपने निजी दृष्टिकोण से लिखता है । उसके पीछे उसके निजी अनुभव की प्रेरणा दिखाई देती है । निबंध तभी होगा,जबकि वह लेखक के निजी दृष्टिकोण से देखा गया हो ।"[46] डॉ. रमेश कुन्तल मेघ ने ऐसे निबंधों को अन्तर्मुख भाव-दशा की देन माना है -- "ललित निबंध अन्तर्मुखी भाव-दशा की देन है । ललित निबंधकार एक आलोचक नहीं गल्पात्मक नायक होता है । वह एक प्रगीतकार की तरह गल्पात्मक पाठकों के साथ एकतान होता है । ये गल्पात्मक पाठक अनिवार्यतः वैसे सहृदय नहीं होते जिस प्रकार काव्य के आदर्श सामाजिक होते हैं । इसलिए यह जरूरी हो जाता है कि ललित निबंधकार अवक्र पंथगामी होकर भी सीधे अन्य पुरुष (वह) और मध्यम पुरुष (तुम) को एकतान कर दे । सारांश यह है कि ललित निबंधकार का अनुभव धरातल "मैं -तुम - वह" को पारस रूप कर देता है । इसलिए उसकी अन्तर्मुखता और गोपनीयता छद्य वैयक्तिक होकर भी आश्वस्ततः समूहगत हो जाती है ।"[47]

आत्मपरक निबंधों की रचना की पृष्ठभूमि में विविध भौतिक स्थितियाँ ही कारण बनकर विद्यमान रहती हैं । भौतिक अभाव, सम्बंधियों का विछोह, निज दुर्भाग्य, सामाजिक प्रतिष्ठा, अप्रतिष्ठा आदि कुछ ऐसे कारण हैं जिनको लेकर आत्मपरक निबंधों का जन्म होता है ।इस तत्त्व के कारण भावात्मक एवं आत्मपरक निबंध में अन्तर स्पष्ट होता है । आत्मपरक निबंध में शुद्ध व्यक्तिगत भावों की अभिव्यंजना होती है, जबकि भावात्मक निबंधों में जिन भावों की अभिव्यक्ति होती है उनका सम्बंध सामाजिक जीवन अथवा विश्व के अन्य लोगों तथा वस्तुओं से भी हो सकता है । आवश्यक नहीं है कि उनका सम्बंध निबंधकार से व्यक्तिगत रूप से ही हो । आत्मपरक निबंधकार का विश्व अपना ही होता है किन्तु भावात्मक निबंधकार विश्व को अपना बना लेता है । इस कोटि के सर्वश्रेष्ठ निबंध अंग्रेजी के प्रसिद्ध निबंधकार चार्ल्स लैम्ब के हैं । उन्होंने अपने

निबंधों में आत्मा की अनुभूति की नई भावना की क्रीड़ा की है ।

1.ङ. निबंध की विशेषताएँ :

निबंध आधुनिक युग की विशेष महत्त्वपूर्ण विधा है, जिसमें लेखक के बुद्धि तत्त्व और हृदय-तत्त्व दोनों का समन्वित रूप प्रस्तुत होता है । यह रचना मर्यादित होती है। इसमें संक्षिप्तता के साथ-साथ एक विशेष व्यवस्था होती है । हिन्दी साहित्य कोश में लिखा है -- ''निबंधों के लक्षणों में स्वच्छन्दता, सरलता, आडम्बर हीनता, घनिष्ठता और आत्मीयता के साथ लेखक के वैयक्तिक आत्म निष्ठ दृष्टिकोण का भी उल्लेख किया जाता है । परन्तु ये लक्षण विभिन्न लेखकों की कृतियों में कितने विभिन्न रूपों में मिलते हैं, इसे स्मरण रखना आवश्यक है । उसकी अनियमितता में भी एक व्यवस्था है, जान पड़ता है कि वह कलात्मक प्रयास नहीं करता, परन्तु वास्तव में ऐसा भ्रम पैदा करने के लिए उसे स्वतः अपनी मैलिक पद्धति खोजनी पड़ती है। अतः निबंध एक ऐसी कलाकृति बन जाता है कि उसके नियम लेखक द्वारा ही आविष्कृत होते हैं । इसी प्रकार सहज, सरल, आडम्बरहीन आत्माभिव्यक्ति के लिए परिपक्व और विचारशील गंभीर व्यक्तित्व की अपेक्षा है । यद्यपि उसकी दृष्टि में प्रायः रचना की परिपक्वता का अभाव-सा दिखाई देता है, परन्तु पाठक के साथ लेखक की निकटता और आत्मीयता वास्तविक होती है । इसके अभाव में सफल कथात्मक निबंध-रचना संभव नहीं, लेकिन बिना किसी संकोच के लेखक अपने जीवन अनुभव सुनाता है और उन्हें आत्मीयता के साथ उसमें भाग लेने के लिए आमंत्रित करता है । उसकी यह घनिष्ठता जितनी सच्ची और सघन होगी उसका निबंध लेखक पाठकों पर उतना ही सीधा और तीव्र असर करेगा । इसी आत्मीयता के साथ निबंध लेखक पाठकों को अपने पांडित्य से अभिभूत नहीं कराना चाहता और अधिकाधिक सहेज और उदार रूप में प्रकट होता है । निबंध की वैयक्तिक आत्मनिष्ठता भी इसी आत्म दृष्टिकोण का परिणाम कही जा सकती है ।

स्वभावतः इसके भी अनेक रूप और प्रकार हो सकते हैं । अनेक ऐसे निबंध लेखक हैं जिनकी रचनाएँ निर्वैयक्तिक कही गई हैं और वे विषय-वस्तु पर तटस्थ रूप में विचार प्रकट करते दिखाई देते हैं । परन्तु वास्तव में निबंध लेखक की आत्मानिष्ठ, वैयक्तिकता व्यक्ति सापेक्ष है । उसकी मात्रा में न्यूनता हो सकती है, उसका सर्वथा अभाव हो, ऐसा संभव नहीं है । निबंध लेखक की विचार प्रगल्भता, अनुभवशीलता और प्रौढ़ता का परिचय देती है, परन्तु वह एक विशेष मनोदशा में लिखा जाता है । इसमें उसमें परिपूर्णता स्वभावतः नहीं होती । परन्तु ऐसा नहीं कि वह लेखक के किसी विषय-सम्बंधी विचारों का संक्षेप या सार होता है, प्रत्युत सीमित दृष्टिकोण से किसी विशेष मनोदशा के अन्तर्गत् लेखक उसमें अपने विचार प्रकट करता है । परिणामस्वरूप निबंध का आकार साधारणतया अधिक लम्बा नहीं हो सकता ।''[48]

उपर्युक्त विवेचन एवं विभिन्न विद्वानों के अनुसार निबंध की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

1. विषय-वस्तु का व्यापक क्षेत्र : निबंधकार अपनी रचना के लिए विश्व के विशाल प्रांगण के किसी भी कोने से विषय-वस्तु का चयन कर सकता है । ब्रह्म चिंतन से लेकर रज-कण तक निबंध की रचना की जा सकती है । ''सब भूमि गोपाल की जामे अटुक कहाँ'' वाली उक्ति निबंध के विषय में भी लागू होती है । साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति निबंध में कोई बंधन नहीं है । किसी भी विषय-वस्तु, भाव-कर्म, विचार पर निबंध रचे जा सकते हैं । वास्तव में महत्त्व उस व्यक्ति अथवा स्वर का होता है जो उस विषय के माध्यम से बोलता रहता है ।

2. मर्यादित आकार : इसे संक्षिप्तता भी कहते हैं । निबंध का आकार मर्यादित अथवा सीमित होता है । एक ओर तो निबंधकार अपने विषय के लिए जीवन के विविध विषयों में से किसी को चुन सकता है, किन्तु दूसरी ओर उसे विवेचन को एक मर्यादित क्षेत्र में

सीमित रखना पड़ता है । वह अपने प्रतिपाद्य पर अधिक से अधिक 12-15 पृष्ठ ही लिख सकता है । साथ ही साथ न्यूनतम शब्दों में अधिक से अधिक कहने का प्रयास भी करता है । वाक्य कसे हुए और शैली मँजी हुई होती है ।

3. वैयक्तिकता : निबंध में निबंधकार का व्यक्तित्व सर्वत्र झलकता है । वैसे तो साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में साहित्यकार का व्यक्तित्व झलकता है किन्तु निबंध में इसका विशेष महत्त्व होता है । 'अहं' अथवा निजीपन की महत्ता निबंध में प्रबल है । इसलिए समीक्षाकार हडसन ने लिखा है -- "The true essay is essentially personal" अर्थात् सच्चा निबंध वही है जिसमें वैयक्तिकता मूल रूप से विद्यमान हो । वास्तव में समाज-प्रेरित अपनी, निजी अनुभूतियों, भावनाओं और विचारों को निबंधकार प्रस्तुत करता है । वह यह सब 'अहं' के संतोष के लिए अर्थात् आत्म प्रकाश के लिए करता है, इसलिए निबंध का मूल तत्त्व वैयक्तिकता अथवा व्यक्तित्व का प्राधान्य है ।

4. आत्मीयता : निजीपन या आत्मीयता निबंधों का प्राण है । वैयक्तिकता एवं आत्मीयता का अन्योन्याश्रित सम्बंध है । इसलिए निबंधकार अपने हृदयस्थ भावों एवं अनुभूतियों को अपने पाठकों के सम्मुख निसंकोच उद्घाटित करता है । कुछ विद्वानों ने इसे इसी आधार पर निबंध को आत्मा-निवेदन की शैली कहा है । पदुमलाल पुन्नलाल वख्शी इस विशेषता को लक्ष्य करके लिखते हैं -- ''निबंध में कोई भी व्यक्ति अपने ही भाव की अभिव्यक्ति के लिए प्रयास करता है । वह उसकी अपनी चेष्टा है । इसलिए अन्य रचनाओं की अपेक्षा उसका अपना व्यक्तित्व विशेष रूप से प्रस्फुटित होता है।''[49] लेखक अपने विचारों को तन्मयता पूर्वक पाठक वर्ग के समक्ष प्रकट करता है । इस निसंकोच और आत्मीयता पूर्ण उद्घाटन के कारण ही निबंधकार और पाठक के मध्य रागात्मक-सम्बंध की स्थापना होती है ।

5. स्वाधीन चिंतन : निबंध में लेखक स्वाधीन विचरण करता है । वह जब चाहता है,

जहाँ से चाहता है अपने इच्छित विषय का आरंभ कर देता है और जब जहाँ चाहता है समाप्त कर देता है । उसके लिए आवश्यक नहीं कि वह भूमिका बाँधकर विषय का क्रमबद्ध प्रतिपादन करे । यदि अपने विचारों, भावों अथवा अनुभूतियों को यथा तथ्य रूप में अंकित कर दिया और पाठकों का मन उसमें रम गया तो वह निबंध सफल होगा, भले ही देखने में वह अपूर्ण लगे । तो क्या इसक अर्थ है कि निबंध में क्रम और व्यवस्था का अभाव होता है ? क्या उसमें तारतम्य नहीं होता ? वास्तव में ऐसा सोचना अनुचित होगा । तारतम्य, व्यवस्था और क्रमबद्धता के अभाव में शैली का लोप हो जाएगा और तब निबंध रस-सिद्धि में असफल होगा । स्वाधीन विचरण अथवा स्वच्छन्दता का तात्पर्य निबंध में उस पूर्णता के अभाव से है, जो किसी प्रबंध अथवा विस्मृत ग्रंथ में देखने को मिलता है । अतः इसमें निबंधकार को स्वच्छन्दता की पूरी गुँजाइश रहती है । वैसे इसमें तारतम्य भी होता है और व्यवस्था भी रहती है ।

6. निबंधकार का जीवन-दर्शन : निबंध में निबंधकार का व्यक्तित्व प्रमुख रहता है । अतः निबंध में रचनाकार का जीवन-दर्शन का प्रतिबिम्बित होना कोई अचरज की बात नहीं है । लेखक ने जीवन के आघात-प्रतिघातों को सहकर क्या पाया और उसके विषय में उसने क्या सोचा, इन सब बातों का समावेश वह निबंध में करता है । निबंधकार का जीवन-दर्शन उसके व्यक्तित्व का अंश है, अतएव उसका समावेश निबंध में अपरिहार्य है ।

7. भाषा और शैली : निबंध की संक्षिप्ता में यह स्पष्ट हो चुका है कि निबंध की रचना-प्रक्रिया ऐसी होनी चाहिए कि कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक बात कही जा सके, अर्थात् शैली सशक्त हो और भाषा व्यंजनापूर्ण । संक्षिप्त, सघन, गठन, कसे-कसे वाक्य निबंध शैली की शान हैं । बड़ी से बड़ी बात कम से कम शब्दों में कहना ही निबंध शैली है । निबंध में शैली के विभिन्न रूप होते हैं । पहले निबंध

बुद्धि-विलास की वस्तु समझा जाता था । अव्यवस्था और तारतम्य का अभाव इसका गुण माना जाता था । किन्तु आज निबंध में इन बातों को अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता । आज निबंध किसी एक विषय पर क्रमबद्ध विवेचन माना जाता है । उसमें बौद्धिकता एवं विचार का महत्त्व है । भावुकता उसमें होती है, लेकिन वैसी नहीं जैसी पहले होती थी । इसकी रचना निरूद्देश्य नहीं सोद्देश्य होती है । लेखक आत्म-संतोष तक ही उसकी सीमा स्वीकार नहीं करता । किसी विषय-विशेष का सम्यक् निरूपण और समाज-संस्कार उद्देश्य सीमा में आते हैं । ऐसी स्थिति में निबंध की शैली में क्रमबद्धता, व्यवस्था एवं तारतम्य आदि गुणों की उपस्थिति अनिवार्य है ।

भाषा-शैली का सम्बंध मानव की ज्ञानेन्द्रियों में होता है । ज्ञानेन्द्रियाँ भाषा की कटुता अथवा मुधरता की परीक्षा करती है । बुद्धि उसकी सुसम्बद्धता तथा सार्थकता का विवेचन करती है । शैली निबंधकार के कौशल का प्रकाश है । उसमें लेखक के संस्कार, चरित्र, विचार और भावों की स्पष्ट झलक प्रतिबिम्बित होती रहती है । भाषा-शैली का विषयानुरूप प्रयोग होने से ही कोई रचना उच्चकोटि की रचना मानी जाती है ।

8. मुहावरे एवं लोकोक्तियाँ : लेखक के व्यक्तित्व के प्रस्फुटन एवं अभिव्यक्ति में कोई बाधा न हो इसी अनुरूप निबंधों में उद्धरणों का प्रयोग किया जाता है । लाकोक्तियाँ एवं मुहावरों का प्रयोग वाक्य को प्रभावशाली, संक्षिप्त एवं सार्थक बनाते हैं । अतः इसका प्रयोग भी सावधानी पूर्वक करना चाहिए ।

9. व्यंग्य : व्यंग्य से यहाँ दो तात्पर्य हैं । प्रथमतः शब्दों की वह शक्ति जिसके द्वारा भाषा में व्यंजनात्मकता आती है । इस शक्ति के द्वारा निबंधकार साधारण शाब्दिक अर्थों के अतिरिक्त बहुत कुछ प्रकट कर सकता है । जिसे अर्थ-विस्तार भी कहते हैं । व्यंग्य

से द्वितीय तात्पर्य उन मधुर छीटों से है जो हम बातचीत कर बीच में एक-दूसरे पर डाल देते हैं । इनमें वे विनोदी वाक्य और मीठी चुटकियाँ भी आती हैं जो वार्तालाप और कथन को सरस बना देती हैं । निबंध में व्यंग्य का दोनों अर्थों में समावेश ग्राह्य है । प्रथम अर्थ में इसलिए कि इससे भाषा में संक्षिप्तता आयेगी, कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक बात कही जा सकेगी और दूसरे अर्थ में इसलिए कि पाठक का मन निबंध में रमा रहेगा । वह उसमें आनन्द लेगा और गंभीर बात को सरलता से ग्रहण कर सकेगा ।

निष्कर्षतः मनुष्य का ज्ञान पर्यवेक्षण और अनुभव पर अवलम्बित है । वह जो कुछ देखता अथवा अनुभव करता है, उसे वह अपने मस्तिष्क में संचित कर लेता है । इससे उसे तो लाभ होता ही है, भविष्य में आने वाली उसकी सन्तति भी उससे लाभ उठाती है । यह तभी संभव है, जब उसके विचार और अनुभव लेख-बद्ध हों । मौखिक ज्ञान अविश्वासनीय होता है । वह भूला जा सकता है, तोड़ा-मरोड़ा जा सकता है, बिगाड़ा बनाया जा सकता है, घटाया-बढ़ाया जा सकता है, किन्तु लेख-बद्ध होने पर वह ज्ञान विश्वासनीय हो जाता है और शताब्दियों तक सुरक्षित रहता है । हमारे पूर्वजों ने अपने अनुभव जनित जो अमूल्य रत्न निबंध ग्रंथों की तिजोरी में रख दिए हैं । उनसे हमको ही नहीं, अपितु पूरे विश्व को लाभ पहुँच रहा है । अतः निबंध का महत्त्व अवर्णनीय है । निबंध हमें लिखाना सिखाता है, हमारी मानसिक शक्तियों का विकास करता है, हमारी विचारधारा को शुद्ध एवं संयत करता है और उसे स्थायी बनाने में सहायक होता है । इस प्रकार जो वस्तु अध्ययन एवं मनन का विषय बन जाती है वह मस्तिष्क में समाकर अभिव्यक्ति चाहती है । निबंध इसी अभिव्यक्ति का प्रतिफल है । विचारों और भावों का सरल एवं सुन्दर प्रकाशन उसको स्पष्टता प्रदान करता है । यह स्थायी सम्पत्ति है । उसे हम बार-बार पढ़ते हैं और उसका आनन्द लेते हैं । अन्ततः

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार पाश्चात्य लक्षण की दृष्टि से यद्यपि निबंध के लिए व्यक्तिगत विशेषता का तत्त्व अनिवार्य है तथापि निबंध में प्रमुखता विषय और बुद्धि-तत्त्व की ही होती है एवं सहृदय भाव भी बीच-बीच में झलक जाते हैं । सूक्ष्म विचार, दृष्टि सम्पन्नता, गहन विचारधारा अभिनव विचारोन्मेष, विचारों की गूढ़-गुम्फित परम्परा, विचारों की सघन कसावट, अनुशासन गंभीरता, भाषा की नूतन शक्ति का चमत्कार, शैली की असाधारणता और अर्थ की गतिशीलता आदि निबंध के प्रमुख लक्षण हैं । जहाँ पश्चिमी विद्वान निबंध को अव्यवस्थित और विश्रृंखल रचना के रूप में स्वीकार करते हैं, वहीं हिन्दी के साहित्यकारों ने कसाव, विचारों की संबद्धता, गंभीरता, रमणीयता और व्यवस्था को निबंध का प्रमुख वैशिष्ट्य माना है ।

संदर्भ :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 276
2. काव्य के रूप : गुलाबराय, पृ. 221
3. संस्कृत हिन्दी शब्द कोश : वामन शिवराम आप्टे, पृ. 527
4. वाचस्पत्यम्, पृ. 28
5. याज्ञवल्कयस्मृति, पृ. 35.
6. हिन्दी-शब्द सागर, रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 209
7. रामचरितमानस (बालकांड) : तुलसीदास, पृ. 39
8. हिन्दी साहित्य कोश (भाग - 2) : सं. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 344
9. संस्कृत हिन्दी शब्द कोश : वामन शिवराम आप्टे, पृ. 666
10. वही, पृ. 344
11. वही, पृ. 345
12. समकालीन आलोचना और साहित्य : डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय, पृ. 48
13. साहित्यालोचन : श्यामसुन्दर दास, पृ. 28
14. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 505
15. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी : नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ. 132
16. हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास : हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 210
17. हिन्दी साहित्य का इतिहास : सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 585
18. हिन्दी निबंधकार : जयनाथ नलिन, पृ. 10
19. काव्य के रूप : गुलाबराय, पृ. 213
20. हिन्दी निबंध का इतिहास : डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय, पृ. 15
21. समकालीन आलोचना और साहित्य : डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय, पृ. 49
22. हिन्दी गद्य साहित्य : डॉ. रामचन्द्र तिवारी, पृ. 121
23. These essays are an attempt to communicate a soul, I am myself the subject of my book. Essays : Montaigne.p. 70
24. The word essay is late, but the thing is accident. For soneca's epistles to lucilius, of one mark them well are but essays, that is disperse meditations.The Advancement of Learning : Becone , p. 103
25. A loose sally of mind an irregular indigrsled piece of literature, not a regular and orderly performance of literature. Journey to the Western Scotland : Johnson, p. 30
26. Krebal , p. 139

27. Essay is a light gossipy article on a topical subject. Glossary of Literary Terms : Abrams p. 30
28. Essay is a genuine expression of the original personality. Essay : Past and Present , J. B. Priestley. p. 160
29. The true essay is essentially person. It belongs to literature of self expression. Treatise and sisgertation may be objective, the essay is subjective. An Introduction to the study of literature, W.H.Hudson, p. 447
30. The essay as literary form resembles in lyrie, is far as it is moulded by some central mood. Whinsial vrious or satirical. Give the mood and the essay, from the first sentence to the last, grow's arround the silkworm. On the writting of essay : Alekjendar Smith. p.49
31. ऑक्सफोर्ड अंग्रेजी कोश (Vol. I)I: मुरे, पृ. 293
32. बेवस्टर्स न्यू वर्ल्ड डिक्शनरी, पृ. 285
33. फाउन्डेशन ऑफ इंग्लिश प्रोज : ए. सी. वार्ड, पृ. 205
34. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 558
35. साहित्य कोश (भाग - 2) : सं. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 446
36. हिन्दी निबंधकार : डॉ. जयनाथ नलिन, पृ. 18
37. हिन्दी गद्य साहित्य : डॉ. रामचन्द्र तिवारी, पृ. 65
38. वही, पृ. 72
39. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 509
40. वही, पृ. 558
41. हिन्दी निबंधकार : डॉ. जयनाथ नलिन, पृ. 22
42. वही, पृ. 23
43. काव्यशास्त्र : डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ. 78
44. साहित्य का साथी : हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 126
45. The true essay is essentially personal. It belongo to the literature of self expression. Tretise and dissertion may be objective. The essay is subjective. Introduction to the study of literature : Hudson, P. 42
46. काव्य के रूप : गुलाबराय, पृ. 235
47. अत्याधुनिक हिन्दी साहित्य : डॉ. कुमार विमल, पृ. 146
48. हिन्दी साहित्य कोश (भाग - 2) : सं. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 446
49. एक पुरानी कथा : पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, पृ. 49

द्वितीय अध्याय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जीवन एवं साहित्यिक परिचय

द्वितीय अध्याय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जीवन एवं साहित्यिक परिचय

2. क. जीवन-परिचय :

हिन्दी साहित्य के उन्नायकों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का स्थान अग्रिम पंक्ति में है । उन्होंने हिन्दी-भाषा और साहित्य को नव जीवन शक्ति प्रदान कर उसका मनोबल बढ़ाया और उसे विश्व की प्रमुख भाषाओं के समकक्ष खड़ा होने का सम्मान प्रदान किया। कवि, आलोचक, निबंधकार एवं इतिहासकार विरूपों से शोभित शुक्ल जी ने वर्तमान सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के सन्दर्भ में अनेक आधुनिक पाश्चात्य परिप्रेक्ष्यों का प्रामाणिक परिचय प्राप्त किया । अपनी विशिष्ट सीमाओं में स्वयं हिन्दी की मूल कृतियों तथा प्रतिनिधि साहित्यकारों की निजी उपलब्धियों के आधार पर नवीन मानदंड निर्धारित किए । इन मानदंडों के आधार पर जो कुछ भी शुक्ल जी ने लिखा वह हिन्दी साहित्य की अक्षय निधि बन गया है । अपनी साहित्यिक रचनाओं द्वारा उन्होंने हिन्दी साहित्य को जो भी दिया उसके लिए हिन्दी साहित्य संसार सदैव उनका ऋणी रहेगा ।

2. क. । जन्म :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्म सन् 1884 की आश्विन पूर्णिमा के दिन हुआ था ।[1] शुक्ल जी के पूर्वज गोरखपुर जिले में रावती नदी के किनारे स्थित 'भेड़ी' गाँव के निवासी थे । यह गाँव गर्ग गोत्री सरयूपारी शुक्ल ब्राह्मणों का प्रतिष्ठित प्राचीन पीठ है । शुक्ल जी के पितामह पं. शिवदत्त शुक्ल भेड़ी में रहते थे, केवल बीच-बीच में 'नगर' आते जाते थे । इसी 'नगर' रियासत की बूढ़ी रानी साहिबा शुक्ल जी की दादी को कन्या करके मानती थीं । 30-32 वर्ष की अवस्था में ही शुक्ल जी के पितामह की मृत्यु हो जाने पर उनके परिवार के लिए साहिबा ने कुछ भूमि नगर के समीप ही

'अगोना' नामक गाँव में दिला दी थी और वहीं रहने के लिए एक मकान भी बनवा दिया था । शुक्ल जी की दादी, जिन्हे 'बच्ची-सा' कहते थे, अपने चार-पाँच वर्ष के एक मात्र पुत्र पं. चन्द्रबली शुक्ल को लेकर रानी साहिबा के अभिभावकत्व में ही रहने लगी थीं । वहाँ पुत्र के पढ़ने-लिखने की अनुकूल व्यवस्था हुई और वे काशी के क्वींस कालिजिएट स्कूल से ऐण्ट्रेंस परीक्षा उत्तीर्ण कर सरकारी नौकरी करने लगे । नगर रियासत के राजकुमार विश्वनाथ सिंह उनके सहपाठी थे । इनका विवाह गाना के मिश्र परिवार की सुशिक्षित कन्या से हुआ था ।[2]

शुक्ल जी की माता 'गाना' के उस पवित्र और प्रसिद्ध मिश्र वंश की पुत्री थी जिसमें कई शताब्दियों पूर्व गोस्वामी तुलसीदास जी ने जन्म ग्रहण किया था । इस प्रकार मातृ पक्ष से शुक्ल जी को एक महान साहित्यिक विरासत प्राप्त हुई थी । हो सकता है कि शुक्ल जी की तुलसी-भक्ति तथा मर्यादा-प्रेम का यह भी एक कारण रहा हो । शुक्ल जी की दादी भी राम की अनन्य उपासिका थीं । पितामही तथा माता के इस सम्मिलित प्रभाव ने ही सम्भवतः शुक्ल जी को 'रामचरितमानस' का भक्त बना दिया था ।[3]

शुक्ल जी के पिता फारसी के अनन्य भक्त और मुसलमानी तहजीब तथा अंग्रेजी काबलियत के बड़े कायल थे । उनकी वेश-भूषा भी बिल्कुल मुसलमानों जैसी रहती थी। भारी काली दाढ़ी, गोल मोहरी का पायजामा, शेरवानी तथा पट्टेदार वाली धोती पहनकर अथवा नंगे सिर निकलना उनकी दृष्टि में अक्षम्य अपराध था । संस्कृत तथा हिन्दी को वे बेहूदा जुबान मानते थे । इसलिए यदि उन्होंने अपने बालक की हिन्दी शिक्षा का घोर विरोध किया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं । कालान्तर में इनके पिताजी भी हिन्दी के प्रेमी और कट्टर सनातनी बन गये थे । पं. केशव चन्द्र शुक्ल लिखते हैं -- "आज से प्रायः 50 वर्ष पूर्व की बात है । राठ (हमीरपुर) के एक

साधारण से मदरसे में एक दुबले-पतले साँवले रंग के सात साल के बालक को उर्दू-फारसी की शिक्षा मिल रही थी । उसके पिता राठ के सुपरवाइजर कानूनगो थे । ब्राह्मण होते हुए भी चाल-ढाल तथा वेश-भूषा तत्कालीन फारसी शिक्षा सम्पन्न किसी मोलवी से कम न थी । काली घनी दाढ़ी, गोल मोहरी के पायजामे, पट्टेदार वाली धोती तथा शेरवानी ही तब बात न थी, उनकी जुबान भी 'सर सैयद' की जुबान थी तथा उनके विचार उस समय के फारसी पढ़े हुए 'शिष्ट' कहलाने वाले मुसलमानों से साधारण मिलते-जुलते थे। संस्कृत अथवा हिन्दी बेहूदा जुबान थी । धोती पहनकर बाहर निकलना या नंगे सिर रहना जुर्म था । उनके उन्नत सुव्यवस्थित शरीर तथा स्वाभाविक रतनारे विशाल नेत्रों से उनके उच्च वंश का सहज आभास होता था । एण्ट्रेंस पास करके बस्ती जिले से वे राठ नौकरी पर आये थे । अवस्था 25-26 वर्ष की थी । उनके साथ में उनकी धर्म पत्नी, उनकी वृद्ध माता तथा दो छोटे-छोटे उनके लड़के थे । एक की अवस्था सात वर्ष की तथा दूसरा तीन वर्ष का दूध पीता बालक था । इस परिवार में वृद्ध माता का परम उच्च स्थान था । वे राम भक्त थीं । नित्य बड़ी सुन्दर रीति से वे तुलसी, केशव आदि के भजन गातीं तथा पूजा पाठ में निमग्न रहतीं । उस समय आर्य समाज का चारों ओर प्रबल आन्दोलन चल रहा था । स्वामी दयानन्द जी के लेखों को राठ में भी कुछ लोग बड़ी श्रद्धा के साथ पढ़ते और दूसरों को सुनाते थे । इस समाज ने बस्ती जिले के नवयुवक कानूनगो को भी अपने रंग में रंगा । आगे चलकर अवश्य यह रंग उड़ने लगा । अन्त में कुछ दिनों के उपरान्त मिर्जापुर में, जहाँ वे सदर कानूनगो के पद पर जीवन के अन्तिम समय तक रहे, उसका कोई भी अंश शेष न रहा, किन्तु जब तक वे राठ में रहे उनमें किसी प्रकार का भी परिवर्तन दिखायी न पड़ा ।''[4]

राठ में लगभग 4 वर्ष रहने के पश्चात् सम्वत् 1949 में उनके पिता की

नियुक्ति सदर कानूनगो के पद पर मिर्जापुर में हुई । वे परिवार को राठ में छोड़कर मकान आदि की व्यवस्था करने के लिए मिर्जापुर गए । इसी बीच में एक ऐसी आकस्मिक दु:खद घटना घटी, जिसका शुक्ल जी के आगामी जीवन पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा और जिसकी स्मृति इन्हें जीवन पर्यन्त बनी रही । इनकी माता अपने तीसरे पुत्र कृष्ण चन्द्र को 20-21 दिन की अत्यन्त अल्पायु में ही छोड़कर परलोक सिधार गईं । इसका सबसे अधिक शोक बालक रामचन्द्र को ही हुआ क्योंकि वे ही आयु में सबसे बड़े थे और इस योग्य थे कि मौत से उत्पन्न दारुण दु:ख का अनुभव कर सके । अंत्येष्टि क्रिया के उपरान्त पं. चन्द्रबली शुक्ल अपने परिवार को लेकर मिर्जापुर आ गए और वहाँ 'रमई-पट्टी' नामक मोहल्ले में मकान लेकर रहने लगे ।[5]

रमई पट्टी के विषय में पं. केशव चन्द्र शुक्ल ने लिखा है -- मिर्जापुर की जिस 'रमई पट्टी' में आकर इनके पिता रहने लगे थे उसके सौन्दर्य-संकेत' हृदय का मधुर भार शीर्षक कविता में पं. रामचन्द्र शुक्ल ने स्वयं किया है । हरे-भरे खेतों के बीच 'लाल खपरैल के सँवारे धान' इसी रमई पट्टी के लिए आया है । रमई-पट्टी के जिस छोर पर उनके पिता ने अपना निवास स्थान बनाया था, उसी ओर कुल 4-5 मकान पहले से बने हुए थे । उनमें पं. विन्ध्वेश्वरी प्रसाद तथा बलभद्र सिंह डिप्टीक्लेकटर के नाम उल्लेखनीय है । बलभद्र आगरे के क्षत्रीय थे । पुरानी संस्कृति के वे केवल अनुमोदक मात्र ही नहीं, उनके अनन्य उपासक थे । उनके यहाँ सदा महाभारत, रामायण, श्रीमद्भागवत पुराण आदि का पाठ होता था । 30-40 सुनने वाले व्यक्ति सदा एकत्रित रहते थे । पं. विन्ध्वेश्वरी प्रसाद के घर में तो संस्कृत का निवास ही था। नित्य बहुत से विद्यार्थी माघ, कालिदास, भवभूति आदि महाकवियों की कृतियों का अध्ययन करने के लिए उनके यहाँ आया करते थे । पंडित जी प्रायः संध्या के समय अपने विद्यार्थियों को लेकर पर्वतों की ओर निकल जाते थे, जो कि वहाँ से दो-तीन

मील पर है अथवा किसी निर्जन स्थान में जाकर किसी सरोवर अथवा नदी नाले के किनारे स्वच्छन्द समय व्यतीत करते तथा मग्न होकर अत्यन्त सुमधुर स्वर से कालिदास, भवभूति आदि के श्लोक पढ़ते थे । कुछ बड़े होने पर पं. रामचन्द्र शुक्ल भी विद्यार्थियों में मिलकर प्रकृति के इस भावुक पुजारी के साथ घूमने निकलने लगे ।[6]

जिस समय शुक्ल जी के पिता अपनी माता और तीन पुत्रों के साथ मिर्जापुर लौटकर आए उस समय शुक्ल जी की अवस्था आठ-नौ वर्ष की थी । मिर्जापुर आने के डेढ़ वर्ष बाद शुक्ल जी के पिता ने सन् 1894 ई. में दूसरा विवाह किया और घर में विमाता का प्रवेश हुआ ।[7] शुक्ल जी की विमाता से एक भाई जगदीश और दो बहनें श्यामा और विमला हुईं ।[8] शुक्ल जी के आरंभिक जीवन का अधिक भाग मिर्जापुर में ही व्यतीत हुआ । मिर्जापुर प्रकृति की अनुपम क्रीड़ा-स्थली है । यहाँ विन्ध्या के चरणों के प्रति जाह्नवी का अद्भुत अनुराग है । वैसे तो राठ रहते हुए बुन्देलखण्ड की पहाड़ियों का भी प्रभाव पं. रामचन्द्र शुक्ल के हृदय पर पड़ा था, किन्तु जितनी गहरी सुखानुभूति उनकी उत्कृष्ट कल्पना को मिर्जापुर की सघन वन्य-वृक्षों से लदी पर्वत मालाओं, ऊँची-नीची पर्वत स्थलियों के बीच क्रीड़ा करते हुए टेढ़े-मेढ़े नालें, सुदूर तक फैले हुए हरे-भरे लहलहाते कछारों, बड़ी-बड़ी चट्टानों के मध्य से हरहराते हुए निर्झरों, रंग-बिरंगे शिला-खण्डों पर बहती हुई नदियों की निर्मल धाराओं तथा फूली-कली अमराइयों के समीप बसी हुई ग्राम्य-बस्तियों के साहचर्य से प्राप्त हुई उतनी बुन्देलखण्ड के रूखे-सूखे भू-खण्ड के द्वारा कदापि सम्भव न थी । जाँगिया, मेहँदिया, आमघाट, वरघाट, तुलतुल हवा, लुटिकिया आदि स्थान सदा उनके स्मृति-चिन्ह बने रहे। मृत्यु के प्रायः डेढ़ मास पूर्व जब वे किसी कार्य विशेष से काशी से मिर्जापुर गये थे, तब वहाँ के साहित्य-मण्डल ने उनका अपूर्व स्वागत किया और उस अवसर पर जो उनके हृदयोद्गार निकले थे, उनकी शब्दावली तो अभी तक प्राप्त न हो सकी ; किन्तु

आशय इस प्रकार था -- "यद्यपि मैं काशी में रहता हूँ और लोगों का यह विश्वास है कि वहाँ मरने से मुक्ति मिलती है तथापि मेरी हार्दिक इच्छा तो यही है कि जब मेरे प्राण निकलें तब मेरे सामने मिर्जापुर का यही भू-खण्ड रहे । मैं यहाँ एक-एक नाले से परिचित हूँ - यहाँ की नदियों, काँटों, पत्थरों तथा जंगली पौधों में एक एक को जानता हूँ ।"[9]

2. क. II शिक्षा :

बालक रामचन्द्र की आरम्भिक शिक्षा का प्रारंभ राठ में हुआ था । वहीं पं. गंगाप्रसाद ने इन्हें अक्षरारम्भ कराया था । शुक्ल जी में हिन्दी के प्रति प्रेम बचपन से ही था, परन्तु अपने पिता की विपरीत मनोवृत्ति के कारण इन्हें हिन्दी की पढ़ाई लुक-छिपकर करनी पड़ती थी, क्योंकि उन दिनों फारसी-उर्दू का ही बोलबाला था और शुक्ल जी की पढ़ाई का विधिवत् प्रारम्भ भी उर्दू-फारसी से ही हुआ था । इस प्रकार राठ में रहते हुए शुक्ल जी की हिन्दी-भाषा सम्बन्धी पढ़ाई आरम्भ तो हुई किन्तु पिता के कठोर अनुशासन के कारण वे इच्छा रखते हुए भी विधिवत् उसका अध्ययन नहीं कर सके ।[10]

मिर्जापर में आपकी अंग्रेजी शिक्षा आरंभ हुई । इनके पिता इन्हें फारसी भी पढ़ाना चाहते थे जिसके लिए एक मौलवी साहब घर पर ही आते थे । अंग्रेजी के प्रति जो रुचि शुक्ल जी की थी, इस विषय में पं. केशवचन्द्र शुक्ल लिखते हैं -- "उन दिनों वहाँ पं. राम गरीब चौबे नामक अंग्रेजी के एक असाधरण सुलेखक रहते थे । Sir William Crooks की 'Hill tribes and carstes' नामक पुस्तक निकल रही थी । पं. राम गरीब उसे लिखते जाते थे । Crooks साहब इधर-उधर कुछ संशोधन मात्र करके उसे छापते जाते थे । उनके द्वारा जो प्रोत्साहन पं. रामचन्द्र शुक्ल को अंग्रेजी के अध्ययन में मिला, उसे वे जीवन-पर्यन्त स्वीकार करते रहे । इसी स्थान पर हम

बड़ी श्रद्धा पूर्वक पं. वागेश्वरी जी का भी उल्लेख किये बिना नहीं रह सकते । पं. रामचन्द्र शुक्ल के वे हिन्दी-अध्यापक थे तथा अत्यन्त विनोद-प्रिय भी थे । उनकी शिष्य मण्डली घूमने निकलती । इस प्रकार मिर्जापुर का 'लोक' राठ से बहुत विभिन्न दिखायी पड़ा । पं. रामचन्द्र शुक्ल को बलभद्र सिंह तथा पं. विन्ध्येश्वरी प्रसाद के यहाँ का वतावरण अपने पिता के सान्निध्य से कहीं अधिक प्रिय प्रतीत होने लगा । वहाँ उनके सहचर रामानन्द और परमानन्द (पं. माता प्रसाद के लड़के) तथा जैलाल (मुंशी जगदम्बा प्रसाद वकील के भतीजे) बराबर मिलते । उन लोगों में किसी की अवस्था 14-15 वर्ष के ऊपर न थी । परमानन्द-रामानन्द की विलक्षण जोड़ी थी । दोनों बड़े हँसमुख और विनोद प्रिय थे । ये चन्दन लगाते थे और धोती पहनकर नंगे सिर दिखायी देते थे । जैलाल (लालजी) भी कायस्थ होकर धोती पहने रहते । इस मण्डली में पं. रामचन्द्र शुक्ल ने चन्दन तो नहीं लगाया किन्तु पायजामा छोड़कर धोती पहनने लगे । स्कूल कोट-पतलून पहनकर जाने लगे । कभी-कभी घूमती-फिरती यह बाल-मण्डली पक्के पोखरे तक निकल जाती, जो रमई पट्टी से थोड़ी दूर बाहर है और वहाँ भगवती को राधेश्याम राधेश्याम कहकर चिढ़ा आती थी । इस प्रकार की जीवन-चर्या पं. रामचन्द्र शुक्ल को जितनी प्रिय प्रतीत हुई, उनके पिता को उतनी ही अप्रिय । इनके धोती पहनने पर नाराज होकर वे कहा करते -- हरामजादा उन बेहूदों के साथ वह शिष्ट बना घूमता है । इनके पिता भूलकर एक क्षण के लिए भी बलभद्र सिंह और पं. विन्ध्येश्वरी प्रसाद आदि के यहाँ न जाते । वहाँ के वायुमण्डल से उनको बड़ी 'नफरत' थी ।[11] सन् 1898 के आस-पास इन्होंने मिडिल और सन् 1901 में स्कूल लीविंग परीक्षा लन्दन मिशन स्कूल (वर्तमान में बाबूराम जायसवाल इण्टर कालेज है) से उत्तीर्ण की । आगे पढ़ने के उद्देश्य से इन्होंने एफ. ए. प्रयाग की कायस्थ पाठशाला में नाम लिखाया, पर एक तो गणित में कमजोर होने के कारण तथा दूसरे

गृह-विवाद उपस्थित होने से इन्हें पढ़ना छोड़ देना पड़ा । अन्त में कानून पढ़ने के लिए ये प्रयाग गए किन्तु इस परीक्षा में भी सफल नहीं हो सके ।[12] इस परीक्षा में उत्तीर्ण न होने पर पिता ने उन्हें आर्थिक सहायता देना बंद कर दी । उनकी दृष्टि में वे नालायक थे और बेशऊरों के साथ वशिष्ट बने घूमते रहते थे ।[13] वे प्रयाग से मिर्जापुर लौट आए।

मिर्जापुर लौट आने पर, इन्होंने अपने पिता के भीतर एक विशेष परिवर्तन देखा। उनका झुकाव अब 'हिन्दी' की ओर हो रहा था । अब वे हिन्दी-पुस्तकों का भी अध्ययन करने लगे थे । रामायण, रामचन्द्रिका आदि को बड़ी भक्ति से पढ़ते थे । साथ ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के ग्रंथों का भी अवलोकन करते थे । शुक्ल जी के वे बाल-सहचर जो हिन्दुत्व के प्रेमी थे और जिन्होंने इनकी वेश-भूषा को भी परिवर्तित कर दिया था, अब इनके पिता जी के पास आने लगे थे । पिता ने इन पर किसी प्रकार का रोष भी प्रकट नहीं किया । अतः पिता की इस उदार दृष्टि का संबल पाकर बालक रामचन्द्र की साहित्यिक चेतना सजग हो उठी और ये 'सरस्वती' तथा 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिकाओं में अपनी रचनाएँ प्रकाशित कराने लगे । पिता के इस परिवर्तन से शुक्ल जी को बड़ा प्रोत्साहन मिला ।[14]

2. क. III विवाह :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विवाह तत्कालीन बाल-विवाह की कुप्रथानुसार बारह वर्ष की अवस्था में सन् 1896 में ही कर दिया गया था । उनकी पत्नी काशी के पंडित रामफल ज्योतिषि की कन्या थीं, उनका नाम सावित्री देवी था । विवाह के तीन वर्ष पश्चात् उन्हें घर लाया गया था । घर में विमाता होने के कारण गृह-कलह होता ही रहता था । सन् 1889 में पितामही की मृत्यु के पश्चात् शुक्ल जी गृह कलह के कारण भीतर ही भीतर चिंता में घुलते रहते थे । सन् 1902 में शुक्ल जी गृह कलह

से ऊब कर अपनी पत्नी के साथ 'अगौना' आकर रहने लगे । इस समय तक उनके प्रथम पुत्र केशव चन्द्र शुक्ल का जन्म हो चुका था । अगौना में ही उनकी पुत्री दुर्गावती का जन्म हुआ । उनके छोटे पुत्र का नाम गोकुल चन्द्र शुक्ल था ।[15]

2. क. IV कार्य-क्षेत्र :

अपने साहित्यिक विकास के उपक्रम के साथ ही शुक्ल जी को जीवन-यापन की दिशा में भी अग्रसर होना पड़ा । इनके पिता के प्रयत्न करने पर मिर्जापुर के तत्कालीन कलेक्टर विंढम साहब, जो शुक्ल परिवार के बहुत बड़े शुभ चिन्तक थे, उनकी कृपा से नायब तहसीलदारी के नामजदगी के साथ ही इनको 20 रुपये मासिक की नौकरी मिल गई । कुछ-ही दिनों बाद इन्होंने यह नौकरी छोड़ दी । स्वतंत्र प्रकृति के होने के कारण तथा आत्म सम्मान की रक्षार्थ इन्हें उन दिनों सरकारी नौकरी से बड़ी अरुचि थी । इसका पूर्ण आभास 'हिन्दुस्तान रिव्यू' में प्रकाशित इनके 'ह्वाट हैज इण्डिया टु डू'नामक लेख से मिलता है । विंढम साहब ने उक्त लेख के क्रांतिकारी विचारों से चिढ़ कर इनकी नामजदगी रद्द कर दी।[16] इस घटना के सम्बन्ध में डॉ. अर्जुन दास केसरी ने लिखा है -- ''हाईस्कूल परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने के बाद उनके पिता इन्हें भी सरकारी नौकरी में लगा देना चाहते थे । उस समय के कलेक्टर विंढम साहब से उन्होंने इस सम्बंध में बात भी की थी । एक बार विंढम साहब मछली का शिकार करने के लिए घोड़ा पर सवार होकर उन्हीं के मकान के पास से एक तलाब पर जा रहे थे । उस समय कलेक्टर को सीधे नियुक्ति का अधिकार था । कलेक्टर साहब ने कानूनगो साहब के द्वार पर जाकर कहा-- ''कहाँ है तुम्हारा बेटा रामचन्दर ? बुलाओ उसे तहसीलदार के पद पर नियुक्त कर दूँ । कानूनगो साहब ने नौकर को भेजकर रामचन्द्र को बुलावाया । रामचन्द्र ने नौकर से कहा -- ''मैं सरकारी नौकरी नहीं करुँगा ।'' नौकर ने आकर उनके पिताजी से कहा -- ''ओन कतउँ गा है

न, बाकी कहेन हँउ कि सरकारी नौकरी न करब ।'' कलेक्टर साहब ने इसका अर्थ समझ लिया, कहा - औ सरकारी नौकरी नहीं करेगा । अच्छा ! अच्छा !! और घोड़ा बढ़ा कर चला गया ।''[17]

इस घटना के पश्चात् उन्होंने पण्डित विन्धेश्वरी प्रसाद से बात की । पंडित जी ने मिडिल स्कूल के पिंसिपल से बात की । प्रिंसिपल साहब उनकी विलक्षण प्रतिभा से अवगत थे ही । उस समय वहाँ कलर्क की जगह खाली थी । शुक्ल जी की नियुक्ति उसी पद पर कर दी गई । बाद में ड्राइंग अध्यापक की जगह खाली हुई तो वे उस पद पर कार्य करने लगे ।

शुक्ल जी की कला में विशेष अभिरुचि थी । वे बच्चों से अच्छे से अच्छे चित्र बनवाते और स्वयं भी बनाते थे । ''उन्हें चित्रकला का बड़ा अच्छा ज्ञान था । इसमें इनका मन भी खूब लगता था । इनके बनाये हुए चित्रों में भी प्रकृति के चित्र प्रधान हैं। ''फक्कड़'' नाम के एक पड़ौसी चित्रकार को शुक्ल जी अपना गुरु मानते थे । वे केवल नाम मात्र के 'ड्राइंग मास्टर' ही नहीं थे ।[18]

सन् 1908 में कला अध्यापक पद पर कार्य करते हुए शुक्ल जी ने हिन्दी में कई लेख लिखे जिनसे मिर्जापुर निवासी तथा नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के कर्मचारी केदारनाथ पाठक बहुत प्रभावित हुए । उस समय हिन्दी-कोश के लिए ऐसे ही एक व्यक्ति की आवश्यकता थी । पाठक जी ने अधिकारियों से बात की और शुक्ल जी को कोश का कार्य देखने के लिए नागरी प्रचारिणी सभा में बुला लिया । शुक्ल जी ने कोश का कार्य बड़ी विद्वतापूर्ण ढंग से किया और नागरी प्रचारिण पत्रिका में कई लेख भी लिखे, बाद में वे उसका भी सम्पादन करने लगे । कहते हैं 'कोश' तैयार हो जाने पर उन्होंने उसकी गम्भीर भूमिका भी लिखी थी जो डॉक्टर श्यामसुन्दरदास के हस्ताक्षर से प्रकाशित हुई । शुक्ल जी की प्रतिभा से प्रभावित होकर बाद में महामना मालवीय ने

इनकी नियुक्ति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी अध्यापक के पद पर कर दी थी ।[19]

विश्वविद्यालय में उन दिनों हिन्दीतर भाषी प्राध्यापकों का बाहुल्य था जो हिन्दी को हेय दृष्टि से देखते थे । अतः हिन्दी के विद्वानों को स्नातक उपाधि विहीन समझ कर उन्हें अपने समान वेतन के अधिकारी नही मानते थे फलतः शुक्ल जी को आरंभ में केवल 75 रुपये मासिक वेतन मिलता था जो कुछ वर्षों में बढ़ाकर 100 रुपये कर दिया गया । 1930 - 31 तक शुक्ल जी का वेतन केवल 110 रुपये मासिक था । तत्पश्चात् 150 रुपये मिलने लगा ।[20]

इतने कम पारिश्रमिक से घर का गुजारा मुश्किल से हो पाता था । आर्थिक कष्ट होने के कारण मालवीय जी की आज्ञा से शुक्ल जी ने अलवर नरेश के यहाँ साहित्य-सचिव का पद ग्रहण कर लिया परन्तु स्वाभिमानी विद्वान को राजाओं की चाटुकारी करने की आदत नहीं थी । राजा भला विद्वान् का मूल्य क्या जाने ? शुक्ल जी को दरबारी संस्कृति में घुटन होने लगी । अतः वे नौकरी छोड़कर काशी लौट आए। अलवर नरेश ने उन्हें बहुत प्रलोभन दिया और पुनः सचिव पद स्वीकार करने का आग्रह किया परन्तु शुक्ल जी नहीं गए । सन् 1937 में बाबू श्यामसुन्दरदास के अवकाश ग्रहण करने पर शुक्ल जी को मालवीय जी ने हिन्दी विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया ।[21]

शुक्ल जी के शिष्य डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय उनकी अध्यापन शैली के विषय में लिखते हैं -- आचार्य शुक्ल की अध्यापन शैली बड़ी ही सुन्दर होती थी । कक्षा में सर्वत्र शान्ति विराजती थी और शुक्ल जी उस विशाल कक्षा के मध्य भाग में काठ के तख्ते पर रखी गई कुर्सी पर विराजमान होकर पढ़ाते थे । निबन्ध का अध्यापन करते समय उसकी कुछ पंक्तियों को पढ़कर उसकी विस्तृत व्याख्या करते जाते थे जिससे छात्र उसको अच्छी तरह से हृदयंगम करते जायँ । यह दूसरी बात थी कि हम अबोध

छात्र उनके विद्वतापूर्ण अध्यापन को सम्यक् रीति से समझने में अत्यन्त असमर्थ रहते थे। इण्टर की कक्षा के छात्रों की ज्ञान-परिधि ही कितनी होती थी जिससे वे इस गंभीर अध्यापन को पूर्णतया हृदयंगम कर सकते ।

आचार्य शुक्ल कक्षा में छायावाद पढ़ाते हों अथवा रहस्यवाद उनके हिमालय के समान महान व्यक्तित्व के कारण सर्वत्र आतंकवाद ही छाया रहता था । इसीलिए कोई प्रश्न पूछने का किसी छात्र में साहस अथवा दुःसाहस ही नहीं होता था ।[22]

'हिन्दी-शब्द-सागर' का कार्य लगभग 20 वर्षों तक चलता रहा और आरम्भ से अन्त तक शुक्ल जी का सम्बंध उससे बराबर बना रहा । वास्तविकता तो यह है कि 'कोश' को शुक्ल जी ने बनाया और शुक्ल जी को कोश ने बनाया । इनकी प्रतिभा के विकास के लिए उपयुक्त क्षेत्र देने का श्रेय काशी नागरी प्रचारिणी सभा को है । यहीं से शुक्ल जी की साहित्यिक गतिविधियों को परिपक्वता तथा प्रौढ़ता प्राप्त हुई । उनकी रचनाओं को एक नवीन दिशा मिली और वे उत्तरोत्तर विकसित, गम्भीर और प्रौढ़ होती चली गईं । इस कार्य काल के दौरान उनकी प्रतिभा हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं में प्रस्फुटित हुई और उनके द्वारा रचित अनेक उत्कृष्ट कृतियों ने हिन्दी-साहित्य के भण्डार को समृद्ध किया । पत्रिकाओं के सम्पादन-कार्य से भी शुक्ल जी अछूते नहीं रहे। वे सम्पादक के रूप में साहित्य जगत् के सामने आते हैं । मिर्जापुर के निवास काल में ही उनका हाथ 'आनन्द-कादम्बिनी' के सम्पादन में रहता था । 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' से सम्बद्ध हो जाने के पश्चात् उसकी मुख पत्रिका 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का सम्पादन भी इन्होंने कई वर्ष तक कुशलता पूर्वक किया । यह हिन्दी की प्राचीनतम शोध-पत्रिका है । सभा में कार्य करते हुए शुक्ल जी का हिन्दी जगत् के अनेक प्रख्यात विद्वानों से सम्पर्क हुआ ।[23]

2. क. V देहावसान :

शुक्ल जी का जीवन कष्ट एवं पीड़ाओं से घिरा हुआ था । लेकिन घोर संकट में भी उन्होंने कभी ऊफ तक नहीं की । अपनी आवश्यकताओं को समेटे हुए बड़ी मितव्ययिता एवं सहिष्णुता के साथ उन्होंने जीवन यापन किया । उनकी विमाता के भी लड़के-लड़कियाँ थीं । उन सबके भरण-पोषण, शिक्षा-दीक्षा, विवाह आदि का उत्तरदायित्व स्वयं आचार्य जी ने अपनी सीमित आय के साधनों के आधार पर ही पूर्ण किया । घर के प्रत्येक बच्चे का दूध, बीमारी में उपचार एवं ऋतु के अनुरूप वस्त्र एवं समय पर भोजन आदि पर उनकी दृष्टि सगे-सौतेले की भेदक रेखा के खींचे बिना समान रूप से सदैव रहती थी । यदि शुक्ल जी अपने निबंधों में आदर्श की विवेचना में ''मनुष्यता की उच्च भूमि'' की सराहना की है तो स्वयं में भी उनकी अपनी आचार-परक व्याख्या द्वारा उसे साकारता प्रदान की है । वे अन्तः एवं बाह्य दोनों रूपों में सचमुच बहुत महान थे ।

हिन्दी साहित्य का यह महान् व्यक्तित्व श्वास रोग से पीड़ित था । यह रोग शीत काल में अधिक कष्ट दायक होता है । दमे के रोग को दबाने के लिए वे भाँग का सेवन भी कर लिया करते थे लेकिन उससे भी उन्हें कोई लाभ नहीं होता था । चन्द्र शेखर शुक्ल लिखते हैं -- शुक्ल जी जीवन के अन्त तक खर्चे से परेशान रहे । सन् 1936 तक विश्वविद्यालय के लिए गुरुधाम से माँ दुर्गा जी तक हाँफते हुए पैदल चल कर इक्का करते थे और लौटने में प्रायः बाबू श्यामसुन्दरदास या हरिऔध जी के तांगे से घर आते थे । सम्भव है, रोजमर्रा की उनकी यह जीवन की खटखट अगर कुछ कम रही होती तो वे कुछ और चलते ।''[24] संम्वत् 1997 का जाड़ा तो बीत चला था, लेकिन काल ने आकर अन्त में धोखा दे ही दिया । माघ सुदी 6 रविवार, सम्वत् 1997 (2 फरवरी, 1941 ई.) की रात को श्वास के दौरे के बीच सहसा हृदय गति

बन्द होने से इनका स्वर्गवास हो गया । इस प्रकार हिन्दी का यह गौरव-सूर्य रात्रि के अंधकार में सदा के लिए डूब गया ।[25] मृत्यु के समय ये 56 वर्ष, 3 महीने और 20 दिन के थे । अगर थोड़े दिन और जीवित रहते तो हिन्दी को कुछ और मूल्यवान भी दे जाते। अनेक तरह की विपरीत परिस्थितियों एवं दबावों के बीच रहते हुए उन्होंने हिन्दी की जो सेवा की, वह श्लाघ्य और अनुकरणीय है ।[26]

2. ख. साहित्यिक परिचय :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल युग-प्रवर्तक साहित्यकार थे । वे ज्ञान के सच्चे साधक थे । इसलिए उन्होंने निरन्तर ज्ञान साधना करते हुए विभिन्न विषयों पर अपनी लेखनी चलाई । उन्होंने अपनी रचनाओं के प्रकाशन के लिए व्यक्तिगत रूप से कभी भी कोशिश नहीं की । वे विभिन्न संस्थाओं एवं विश्वविद्यालयों से जुड़े हुए थे । जैसे - नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय आदि । संस्थाओं एवं विश्वविद्यालय की आवश्यकताओं एवं माँग के अनुसार तथा अनुरूप वे लिखा करते थे। अपने कार्य को ईमानदारी पूर्वक समाप्त करना वे अपना धर्म समझते थे । उनकी समस्त रचनाएँ उसी ज्ञान-साधना का ही फल है । आज इतने वर्षों बाद भी उनकी रचनाओं का महत्त्व कम नहीं हुआ । उन्होंने आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु जो कुछ भी लिखा, आज वह हिन्दी साहित्य की अक्षय निधि है ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी की अनेक विधाओं में अपनी रचनात्मक प्रतिभा का प्रदर्शन किया है । डॉ. रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं -- "काव्य या साहित्य में मनुष्यत्व का सर्वाधिक महत्त्व देने वाले शुक्ल जी का दृष्टिकोण समय की सीमाओं को देखते हुए पर्याप्त समृद्ध और प्रगतिशील है । उनका काव्य की भाव-भूमि को मनोमय कोश से आगे की वस्तु न मानना, सौन्दर्य को वस्तुओं का गुण मानना, मनुष्य के अन्तर्जगत् को बाह्य जगत् की ही रूप तरंगों को निर्मित मानना, काव्यानुभूति को

जीवनानुभूति का ही एक उदात्त रूप मानना, रस निष्पत्ति में आलंबन, विभाव को सर्वाधिक महत्त्व देना, लोकमंगल विधायक सेनाओं की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना, व्यक्तिवाद, कलावाद, रीतिवाद, रहस्यवाद, अभिव्यंजनावाद, उक्ति वैचित्यवाद आदि का विरोध करना आदि ऐसी अनेक बातें हैं जो उनकी वस्तुनिष्ठ एवं प्रगतिशील काव्य-दृष्टि को प्रमाणित करती हैं। वे जनवादी नहीं हैं, किन्तु उन्हें देश की अभाव ग्रस्त जनता से असीम अनुराग है ।''[27] उन्होंने जो कुछ भी लिखा देशकाल एवं परिस्थिति से प्रेरित होकर ही लिखा है । वे स्वयं लिखते हैं -- ''जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है । जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है ।''[28] उनका समग्र साहित्य सम्पूर्ण देश को सर्पित है । ''वे एक सच्चे देशभक्त थे । देश को स्वतंत्र देखना चाहते थे । उनकी स्वतंत्रता के साथ-ही मानसिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता भी अभीष्ट थी । इसलिए उन्होंने अपनी सुचिंतित पारम्परिक काव्य-मूल्यों-रस, अलंकार और शब्द-शक्ति को दृष्टि में रखकर अपनी दृष्टि से विश्व-साहित्य को परखने की बात कही ।''[29]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी-साहित्य में गद्य लेखक के रूप में जाने जाते हैं । उन्होंने आधुनिक काल को गद्यकाल की संज्ञा भी प्रदान की एवं गद्य-साहित्य के मूल्यांकन के प्रतिमान भी सामने रखे । उन्होंने निबंध, आलोचना, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि के मूल्यांकन का मार्ग प्रशस्त किया । उनका लोकमंगल का सिद्धान्त इतना व्यापक है कि उसका विनियोग कहीं भी गद्य-विधा के मूल्यांकन के लिए किया

जा सकता है । यह सब करते हुए वे निरंतर हिन्दी साहित्य को समृद्ध करने में लगे रहे । उन्होंने हिन्दी-शब्द-सागर के सम्पादन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की । हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा । उच्चकोटि के निबंधों की रचना की । रस-मीमांसा का प्रणयन कर आलोचना शास्त्र की संभावनाओं को आकार दिया ।[30] अपनी रचनाओं में आवश्यकताओं के अनुसार बार-बार संशोधन किया और पुन-पुनः प्रकाशित कराया । इसी कारण एक ही रचना बार-बार प्रकाशित हुई । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य में ऐसे महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्त्व के स्वामी हैं, जिनके साहित्यिक लेखों एवं सिद्धान्तों ने अन्य साहित्यकारों के समक्ष सार्वकालीन चुनौती एवं प्रतिस्पर्द्धा प्रस्तुत की है । कवि, निबंधकार, आलोचक, इतिहासकार, सम्पादक, अनुवादक आदि कितने ही रूपों में उनकी छवि दिखाई देती है ।

2.ख. । कवि के रूप में :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपना साहित्यिक लेखन कविता से ही आरंभ किया था । उनकी प्रथम रचना 'भारत और वसंत' एक संवादात्मक कविता थी । यह रचना चौधारी बदरीनारायण उपाध्याय प्रेमघन द्वारा सम्पादित पत्रिका 'आनंद-कादम्बिनी' में 1906-97 ई. में प्रकाशित हुई ।[31] इसके बाद उन्होंने अनेक कविताएँ लिखीं जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई । शुक्ल जी ने काव्य को कर्म योग एवं ज्ञान योग के समकक्ष रखते हुए ''भावयोग'' कहा, जो मनुष्य के हृदय को मुक्तावस्था में पहुँचाता है। 'काव्य' को मनोरंजन के हल्के-फुल्के उद्देश्य से हटाकर इस गंभीर दायित्व को सौंपने में उनकी मौलिक एवं आचार्य-दृष्टि दृष्टव्य है । उन्होंने ''कविता को व्यक्ति के शील विकास का महत्त्वपूर्ण एवं श्रेष्ठतम साधन माना ।''[32] सन् 1920 तक शुक्ल जी की विभिन्न विषयक लगभग 19 कविताएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी थीं । उनके द्वारा रचित कविता 'शिशिर' जो पहले सन् 1905 की मार्च महीने

की 'सरस्वती' पत्रिका में छपी थी, उसे पुनः पं. रामनरेश त्रिपाठी द्वारा सम्पादित हिन्दी के सुप्रसिद्ध काव्य संग्रह 'कौमुदी कुंज' में स्थान दिया गया । सन् 1922 में एडविन आर्नल्ड के ''लाइट ऑफ एशिया'' का ब्रजभाषा में पद्यानुवाद किया । जिसे 'बुद्धचरित' के नाम से[33] ''नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने प्रकाशित किया । सन् 1921 से 1924 तक उनकी कई काव्यात्मक गुणों से भरपूर कविताएँ 'माधुरी' एवं 'सुधा' में प्रकाशित हुईं । जहाँ से उनकी गणना कवि के रूप में होने लगी ।

शुक्ल जी द्वारा, समय-समय पर लिखी गई कविताओं का संग्रह 'मधुस्रोत' नाम से नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने संवत् 2028 में प्रकाशित किया है। इसमें उनकी 1901 ई. से लेकर 1929 ई. तक की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कविताएँ संग्रहीत हैं ।[34] मधुस्रोत शुक्ल जी की अंतिम फुटकर कविता है । इसी के आधार पर पुस्तक का नाम मधुस्रोत रखा गया । इसमें भारत और वसंत, देशद्रोही को दुत्कार, फूट-फूस-माघ, मनोहर-घटा, रानी दुर्गावती, वसंत पथिक, आशा और उद्योग, विरह सप्तक, हृदय का मधुर भार, बाल-विनय, याचना, वंदना, हमारी हिन्दी, मधुस्रोत आदि 27 कविताएँ हैं । उनकी कविताओं में प्रेम कथा, भारत-दुर्दशा एवं प्रकृति की रम्य छटा के दर्शन होते हैं । प्रकृति से प्रेरित होकर उन्होंने जो रचना की वह अवर्णनीय हैं:

भूरी, हरी घास, आस-पास, फूलों सरसों हैं,
पीली-पीली बिंदियों का चारों ओर है प्रसार ;
कुछ दूर विरल, सघन फिर, और आगे
एक रंग मिला चला गया पीत पारावार ।[35]

2.ख. II निबंधकार के रूप में :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का स्थान हिन्दी निबंध परम्परा में शीर्ष स्थानीय है । इनके निबंध अन्तः प्रयास से निकली हुई सहज विचारधारा के प्रतिरूप हैं । इनके

आगमन से हिन्दी जगत् को नयी अनुभूति, नये विचार और नयी भावाभिव्यक्ति-शैली के दर्शन हुए ।''[36] शुक्ल जी स्वयं लिखते हैं -- ''यदि गद्य शैली कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है । भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों में ही सबसे अधिक संभव होता है । इसलिए गद्य शैली के विवेचक उदाहरणों के लिए अधिकतर निबंध ही चुना करते हैं ।''[37] ''निबंधों के क्षेत्र में शुक्ल जी की परम्परा हिन्दी में बराबर चलती जा रही है । इसे यों भी कहा जा सकता है कि उनके निबंधों के आलोक पुंज के समक्ष कुछ दिनों के लिए ललित भावात्मक निबंधों का प्रणयन एकदम विरल हो गया।''[38] डॉ. बलराज पांडेय लिखते हैं -- ''वस्तुतः शुक्ल विश्व स्तर के महान निबंधकार हैं । वे औपचारिक निबंध के वैसे ही सम्राट हैं, जैसे मिश्र अनौपचारिक निबंध के । उनके विचारात्मक निबंध अपने उपमान आप ही हैं । उनकी गूढ़ गुंफित विचार सारणि और गहन गंभीर भाषा-शैली का योग एक समग्र प्रभाव छोड़ जाता है ।''[39]

अब तक आचार्य शुक्ल के निबंधों के कुल तीन संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं । तीनों को 'चिंतामणि' नाम प्रदान किया गया है ।[40]

चिंतामणि (पहला भाग) : इस निबंध संग्रह का संकलन एवं सम्पादन स्वयं शुक्ल जी ने 1939 ई. में किया था । आचार्य विश्वनाथ मिश्र के अनुसार - चिंतामणि वस्तुतः चिंतामणि ही है । इसमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मेधा के गहरे चिंतन के परिणाम हैं। इसमें उनकी चिंतन की मणियाँ संग्रहीत हैं ।[41] इसमें उनके सत्रह निबंध संग्रहीत हैं । इनमें से दस निबंध ('भाव या मनोविकार', 'उत्साह', 'श्रद्धा-भक्ति', 'करुणा', 'लज्जा-ग्लानि', 'लोभ और प्रीति', 'घृणा', 'ईर्ष्या', 'भय', 'क्रोध') का सम्बंध मनोविकारों से है । 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', 'तुलसी का भक्ति मार्ग', और 'मानस की

धर्म-भूमि' - ये तीन निबंध व्यावहारिक समीक्षा से सम्बद्ध हैं । 'कविता क्या है ? 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्यवाद' तथा 'रसात्मक बोध के विविध रूप' -- इन चार निबंधों का सम्बंध काव्य चिंतन से है ।[42]

चिंतामणि (द्वितीय भाग) : चिंतामणि द्वितीय भाग में शुक्ल जी के तीन निबंध (काव्य में प्राकृतिक दृश्य, काव्य में रहस्यवाद, काव्य में अभिव्यंजनावाद) संगृहीत हैं । इसका सम्पादन आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने शुक्ल जी के दिवंगत होने के पश्चात् किया, जो 1945 ई. में प्रकाशित हुआ ।

चिंतामणि (तीसरा भाग) : इस भाग का सम्पादन सुप्रसिद्ध समालोचक डॉ. नामवर सिंह ने किया है । इसमें इक्कीस निबंध संगृहीत हैं । ये वे निबंध हैं जो पुरानी पत्रिकाओं में बिखरे हुए थे । ये हैं -- साहित्य, कल्पना का आनन्द, बाबू काशीनाथ खत्री, अपनी भाषा पर विचार, फ्रेडरिड पिन्काट, कविता क्या है, उपन्यास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी, हिन्दी की पूर्व और वर्तमान स्थिति, विश्व-प्रपंच की भूमिका, क्षात्रधर्म का सौन्दर्य, शशांक की भूमिका, बुद्धचरित की भूमिका, सभ्यता के आवरण और भविष्य, प्रेमघन की छाया-स्मृति, प्रेम आनन्द स्वरूप है, गद्य प्रबंध का प्रचार, कविता की परख, हिन्दी और हिन्दुस्तानी, शेष स्मृतियों की प्रवेशिका, स्वाग़त भाषण ।

''उन्होंने मनोवैज्ञानिक, साहित्यिक तथा सैद्धान्तिक सभी प्रकार के निबंध लिखे हैं। उनकी 'चिंतामणि' में सभी प्रकार के निबंध हैं । जिनमें एक ओर चिंतन की मौलिकता, विवेचन की गंभीरता, विश्लेषण की सूक्ष्मता एवं प्रौढ़ता दृष्टिगोचर होती है तो दूसरी ओर उनमें लेखक की वैयक्तिकता, भावात्मकता एवं व्यंग्यात्मकता का दर्शन भी स्थान-स्थान पर है । उनके निबंधों में विषय और व्यक्ति का ऐसा समन्वय हुआ है कि इस बात का निर्णय करना कठिन हो जाता है कि उन्हें विषय प्रधान कहें या व्यक्ति प्रधान कहें ?''[43] शुक्ल जी के निबंधों में जो प्रौढ़ चिंतन, सूक्ष्म विश्लेषण एवं तर्कपूर्ण

सुसम्बद्ध विवेचन का चरम आदर्श लक्षित होता है, उस कसौटी पर डॉ. नगेन्द्र ने शुक्ल जी को 'सर्वश्रेष्ठ निबंधकार' माना है ।[44]

2.ख. III समीक्षक के रूप में :

आचार्य शुक्ल के उदय से हिन्दी समीक्षक एवं समीक्षाशास्त्र ने नवीन करवट ली। आचार्य शुक्ल ने समीक्षा का आदर्श भी बदला तथा गुण-दोष विवेचन से आगे बढ़कर कवियों की अन्तःप्रवृत्ति की छानबीन और विशेषताओं पर अपना ध्यान केन्द्रित किया । नलिनविलोचन शर्मा ने अपनी पुस्तक 'साहित्य का इतिहास दर्शन' में कहा है कि शुक्ल जी से बड़ा समीक्षक संभवतः उस युग में किसी भी भारतीय भाषा में नहीं था। समीक्षक के रूप में शुक्ल जी अब भी अपराजेय हैं ।''[45] डॉ. रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं -- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आधुनिक हिन्दी आलोचना के अधिकृत आचार्य हैं। उन्होंने पारम्परिक काव्य चिंतन को आधुनिक ज्ञान-विज्ञान एवं पाश्चात्य काव्य-चिंतन के आलोक में पुनर्व्याख्यायित करके समृद्ध और प्रासंगिक बनाने की कोशिश की है ।[46] पं. शिवकुमार शर्मा लिखते हैं -- ''आलोचना सम्राट आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी आलोचना क्षेत्र में अद्वितीय स्थान है । इनसे पूर्व तुलनात्मक आलोचना प्रणाली चल रही थी । जिसके सामने न तो कोई आदर्श था और न कोई सिद्धान्त । केवल वैयक्तिक पूर्वाग्रहों के कारण किसी को श्रेष्ठ और किसी को निकृष्ट बता दिया जाता था । इनके अतिरिक्त अभी तक आलोचना के ऐसे स्वस्थ प्रतिमान भी सुनिश्चित नहीं हो पाये थे, जो कि गद्य के विविध अंगों के लिए उपयोगी हो । आचार्य शुक्ल ने आलोचना के नवीन मानदंड तथा सुविकसित समीक्षा पद्धति को निर्मित किया। उन्होंने हिन्दी आलोचना क्षेत्र को नवीन दिशाएँ प्रदान कीं । उन्होंने किसी कवि या उसकी रचना को तत्कालीन सामाजिक आलोक में रखकर उसकी समीक्षा की ।''[47]

हिन्दी साहित्य का इतिहास, गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास, जायसी ग्रंथावली

एवं चिंतामणि शुक्ल जी के आलोचक रूप की पुष्टि करते हैं । जहाँ सैद्धान्तिक आलोचना क्षेत्र में शुक्ल जी ने मौलिक उद्‌भावनाओं द्वारा आलोचना के सभी क्षेत्रों के सभी अंगों का गंभीर एवं सूक्ष्म अध्ययन किया वहीं ऐतिहासिक आलोचनाओं में किसी कवि एवं उसकी कृति की समीक्षा की । 'गोस्वामी तुलसीदास उनकी ऐसी कृति है जिसमें गोस्वामी तुलसीदास के महत्त्व एवं उनकी विशेषताओं का वर्णन किया है । ''अपने लघु प्रयत्न में शुक्ल जी ने इसमें तुलसीदास की भक्ति-पद्धति, उनके लोकादर्श और कवि रूप का नितांत मौलिक विवेचन किया है ।''[48] उन्होंने तुलसी के भक्तिमार्ग को शुद्ध भारतीय भक्ति मार्ग माना है । 'ज्ञान' एवं 'कर्म' समन्वय युक्त तुलसी को भक्ति श्रुति द्वारा प्रमाणित है । वे लिखते हैं -- ''वह केवल व्यक्तिगत एकांत साधना के रूप में नहीं है ; व्यवहार क्षेत्र के भीतर लोक-मंगल की प्रेरणा करने वाली है । अतः उसमें ऐसे ही उपास्थ की भावना हो सकती है, जो व्यावहारिक दृष्टि से लोक-रक्षा और लोक-रंजन करता दिखाई पड़े । अर्थात् जो उच्च और धर्ममय हो ।''[49] गोस्वामी तुलसी दास उनके आदर्श कवि हैं और कदाचित उनके आलोचना के मानदंड बहुत कुछ तुलसी के रामचरितमानस पर आधारित हैं । उन्होंने तुलसी एवं उनके काव्य का अत्यन्त मौलिक रूप से विवेचन किया है और तुलसी को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि सिद्ध करने के लिए उसके समक्ष हिन्दी के किसी कवि को महत्त्व नहीं दिया ।''[50]

'जायसी ग्रंथावली की भूमिका' द्वारा शुक्ल जी ने 'जायसी' को महत्त्व प्रदान करते हुए अपने आलोचनात्मक विवेक का भी परिचय दिया है । उन्होंने जिस लोकधर्मिता एवं मानवीयता को कविता की कसौटी माना था 'जायसी' उस कसौटी पर खरे उतरे । ''यों तो शुक्ल जी ने जायसी की अपनी दो सौ पृष्ठों की विस्तृत समीक्षा में प्रेम गाथा परम्परा, जायसी का जीवन वृत्त, पद्‌मावत की कथा और उसका ऐतिहासिक आधार, पद्‌मावत की प्रेम-पद्धति, ईश्वरोन्मुख प्रेम, मत और सिद्धान्त,

जायसी का रहस्यवाद, जायसी की जानकारी आदि अनेक विषयों पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है। किन्तु उनकी प्रवृत्ति मुख्यतः जायसी की प्रबंध कल्पना, स्वभाव-चित्रण, रस निरूपण, भाव-व्यंजना, अलंकार-विधान और काव्य-भाषा जैसे विषयों के विवेचन में ही रमी है ।''[51] जायसी के विरह के सम्बंध में उन्होंने लिखा है-- ''जायसी का विरह-वर्णन हिन्दी साहित्य में एक अद्वितीय वस्तु है ।''[52]

''भ्रमरगीत सार' एवं 'महाकवि सूरदास' द्वारा उन्होंने सूर के कवि रूप एवं काव्य की समीक्षा की है । सूर का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने कहा -- ''यदि हम मनुष्य जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्र को लेते हैं तो सूरदास जी की दृष्टि परिमित दिखाई पड़ती है । पर यदि उनके चुने हुए क्षेत्रों (श्रृंगार और वात्सल्य) को लेते हैं तो उनके भीतर उनकी पहुँच का विस्तार बहुत अधिक पाते हैं । उन क्षेत्रों में इतना अंतदृष्टि विस्तार और किसी कवि का नहीं''[53] कवियों एवं उनके काव्य पर की गई समीक्षा के सम्बंध में विद्वानों का मानना है-- कवियों की विशेषताओं एवं उनकी अन्तःप्रवृत्ति की छानबीन की ओर ध्यान सबसे पहले शुक्ल जी ने दिया है । इस प्रकार हिन्दी-समीक्षा को अपेक्षित धरातल देने में सबसे बड़ा हाथ उनका ही रहा है । समीक्षक के रूप में शुक्ल जी पर विचार करते ही एक तथ्य सामने आ जाता है कि उन्होंने अपनी पद्धति को युगानुकूल नवीन बनाया था । रस और अलंकार आदि का प्रयोग अपने समीक्षात्मक प्रयासो में शुक्ल जी से पहले के लोगों ने भी किया था पर उन्होंने इन सिद्धान्तो की मनोविज्ञान के आलोक एवं पाश्चात्य शैली में कुछ ऐसी अभिनव व्याख्या की कि -- ये सिद्धान्त समीक्षा से बहिष्कृत न होकर पूरी तरह स्वीकार कर लिए गए..... रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षा व्यक्तित्व की दूसरी विशेषता है कि उन्होंने मानदण्ड निर्धारण और उनका प्रयोग दोनों काम एक साथ किए हैं तथा इस दोहरे कार्य में कथनी और करनी का अन्तर्विरोध कहीं भी उपलब्ध नहीं होता ..... सिद्धान्त

एवं व्यवहार के मध्य ऐसी संगति श्रेष्ठतम आलोचकों में ही प्राप्त होती है ।''[54]

2.ख IV इतिहासकार के रूप में :

'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ग्रंथ द्वारा शुक्ल जी ने स्वयं को इतिहासकार के रूप में सिद्ध किया है । डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं -- ''हिन्दी साहित्येतिहास की परम्परा में सर्वोच्च स्थान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा रचित हिन्दी साहित्य का इतिहास (1924 ई.) को प्राप्त है । जो मूलतः नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी-शब्द-सागर' की भूमिका के रूप में लिखा गया था, जिसे आगे परिवर्द्धित एवं विस्तृत करके पुस्तक का रूप दे दिया गया ।''[55] सर्वप्रथम इसे सन् 1922-23 ई. के लगभग विश्वविद्यालय के उच्च कक्षा के छात्रों के उपयोग के लिए संक्षिप्त रूप में लिखा गया था । जिसमें परिस्थिति के अनुसार शिक्षित जन समूह की बदलती हुई प्रवृत्तियों को लक्ष्य करके हिन्दी साहित्य के काल-विभाग और रचना की भिन्न-भिन्न शाखाओं के निरुपण का एक कच्चा ढाँचा खड़ा किया गया था ।[56] ''आचार्य शुक्ल ने साहित्य को जनता की चित्तवृत्तियों का प्रतिबिम्ब स्वीकार कर उसकी उत्तरोत्तर विकासोन्मुख प्रवृत्तियों को तदयुगीन व्यापक परिस्थितियों राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आदि के व्यापक संदर्भों के आलोक में देखकर इतिहास के विकासवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया । उन्होंने कवियों की संख्या की अपेक्षा कवियों के साहित्यिक मूल्यांकन को अधिक महत्त्व दिया । कवियों ने समालोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाया । काल खण्डों और काव्यधाराओं का सुनिश्चित वर्गीकरण कर कवि और लेखकों की शैली-विशेष का वैज्ञानिक विश्लेषण कर उपयुक्त उदाहरण जताये और इस दिशा में उन्हें असाधारण सफलता मिली ।''[57] हिन्दी साहित्यकोशानुसार ... ''रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के प्रथम साहित्यिक इतिहास लेखक हैं । शिक्षित जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप में जो-जो परिवर्तन होते आये हैं, जिन

प्रभावों की प्रेरणा से काव्यधारा की भिन्न-भिन्न शाखाएँ फूटती रहीं हैं, उन सबके सम्यक् निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किए हुए सुसंगठित काल विभाग की ओर ध्यान दिया । इस प्रकार उन्होंने साहित्य को शिक्षित जनता के साथ सम्बद्ध किया और उनका इतिहास केवल कवि जीवनी था । ये गूँथी आलोचनाओं से ऊपर उठकर सामाजिक, राजनैतिक परिस्थितियों से संकलित हो उठा। उनके कवि मात्र व्यक्ति न होकर परिस्थितियों के साथ आबद्ध होकर जाति के कार्य-कलाप को भी सूचित करने लगे ।[58] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखित हिन्दी-साहित्य का इतिहास को प्रथम व्यवस्थित इतिहास माना जाता है । अब तक इसके कई संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं । विद्वानों ने इसे सराहा भी है और आलोचना भी की है । आलोचना भी विषय-वस्तु से ही सम्बद्ध है । जैसा कि डॉ. नगेन्द्र कहते हैं -- "आचार्य शुक्ल की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा एवं प्रौढ़ विवेचना शक्ति के महत्त्व के समक्ष नतमस्तक होते हुए भी हमें यह कटु सत्य स्वीकार करना पड़ता है कि इतिहासकार शुक्ल की उपलब्धियाँ उसी सीमा तक ग्राह्य हैं जहाँ तक वे उनके आलोचक रूप से सम्बद्ध हैं, किन्तु जहाँ वे आलोचना से पृथक् होकर शुद्ध इतिहासकार के रूप में अवतरित होते हैं वहीं उनकी अनके सीमाएँ स्पष्ट होने लगती हैं । अवश्य ही ये उनकी अपनी सीमाएँ न होकर इतिहास की सीमाएँ हैं, अर्थात् जिस काल-सीमा में उन्होंने कार्य किया था, उसमें यह कदाचित संभव नहीं था कि इतिहास को वह रूप दिया जा सकता जो परवर्तित अनुसंधान से उपलब्ध नूतन तथ्यों और निष्कर्षों के आलोक में संभव है । वस्तुतः उस युग की सीमित ज्ञानराशि को लेकर भी उन्होंने उसे जैसा रूप दिया वह निश्चिय ही उनके जैसे व्यक्ति के लिए ही संभव था । इतिहास लेखन की परम्परा में आचार्य शुक्ल का महत्त्व सदा अक्षुण्ण रहेगा,इसमें कोई संदेह नहीं ।"[59] अप्राप्य एवं अप्रकाशित ग्रंथों का सहारा लेकर जो दुसाध्य कार्य शुक्ल जी ने

किया वह हमेशा प्रशंसनीय ही रहेगा । विभिन्न परिस्थितिओं के बावजूद भी हिन्दी साहित्येतिहास परम्परा से शुक्ल जी का इतिहास मील के पत्थर के समान है । यह अपने विषय का सर्वप्रथम इतिहास है जिसमें अत्यन्त व्यापक सूक्ष्म दृष्टि, विकासवादी दृष्टिकोण, विशद् विवेचन व विश्लेषण तथा तार्किक निष्कर्ष एकत्र मिलते हैं । आज के हिन्दी साहित्य के विशाल भवन की सुदृढ़ नीव अप्रतिम सशक्त आलोचक एवं समर्थ इतिहासकार आचार्य शुक्ल ने रख दी थी ।''[60]

डॉ. समीक्षा ठाकुर के शब्दों में -- ''आचार्य शुक्ल का हिन्दी साहित्य का इतिहास उनकी साहित्य साधना की चरम परिणति है । अपने वर्तमान रूप में उनका यह अंतिम ग्रंथ है और अन्यतम भी । हिन्दी साहित्य के ज्ञान कोश के रूप में उनका यह आज भी सबसे विश्वसनीय संदर्भ ग्रंथ है । एक साथ ही यह इतिहास भी है और आलोचना भी, समालोचना का सिद्धान्त भी है और प्रमुख हिन्दी साहित्यकारों का तार्किक मूल्यांकन भी, हिन्दी जाति की चित्त वृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब भी और हिन्दी भाषा की मूल प्रकृति का मानक भी । 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्तोहाक्ति न तत क्वचिते' की उक्ति बहुत कुछ इस कालजयी कृति के विषय में भी चरितार्थ होती है ।''[61]

2.ख V संपादक के रूप में :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कई पुस्तकों एवं पत्रिकाओं का सम्पादन किया । शुक्ल जी अध्ययनशील थे । अतः पुस्तकालय में घंटों बैठे पढ़ते रहते थे । जब उनकी प्रथम संवादात्मक ''भारत और बसंत'' प्रेमघन जी द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'आनन्द कादम्बिनी' का संपादक बनाकर अगौना से मिर्जापुर बुला लिया ।''[62] सन् 1909 - 10 ई. के लगभग वे 'हिन्दी शब्द सागर' के सम्पादन में वैज्ञानिक सहायक के रूप में काशी आ गए। यहीं पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा के विभिन्न कार्यों को करते हुए उनकी प्रतिभा चमकी । 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का सम्पादन भी उन्होंने कुछ दिन

तक किया ।''[63] इसके अतिरिक्त अन्य पत्रिकाएँ एवं पुस्तकों का सम्पादन किया । जिनमें प्रमुख हैं -- (1) चन्द्रावती या नासिकेतोपाख्यान -- यह 1906 ई. में प्रकाशित हुई थी । बताया जाता है कि बाबू श्यामसुन्दर दास ने शुक्ल जी से सम्पादन कराया और अपने नाम से छपवाया ।[64] (2) तुलसीदास ग्रंथावली -- यह शुक्ल जी के सम्पादकत्व में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा 1923 ई. में प्रकाशित हुई (3) जायसी ग्रंथावली - यह 1924 ई. में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित हुई। प्रयाग द्वारा 1950 ई. में छपवायी गयी थी । इसमें सम्पादक के रूप में दो विद्वानों के नाम हैं -- रामचन्द्र शुक्ल एवं चन्द्रबली पांडेय, शुक्ल जी मात्र योजना में शामिल थे । यह पुस्तक शुक्ल जी के निधनोपरान्त चन्द्रबली पांडेय ने तैयार की थी ।''[65]

''भारतेन्दु साहित्य का सम्पादक आधुनिक हिन्दी गद्य के उन्नायक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के महत्त्व को रेखांकित करने के उद्देश्य से किया गया प्रतीत होता है । इसमें उनके नाटकों के कुछ चुने हुए अंश और निबंध संकलित हैं । आरंभ में भारतेन्दु का जीवन वृत्त है और उसके बाद भूमिका-रूप में उनके साहित्य की विद्वतापूर्ण आलोचना दी गई है । 'अनुराग बासुरी' सूफी कवि नूर मुहम्मद की एक पाण्डित्यपूर्ण आध्यात्मिक रचना है ।''[66] शुक्ल जी की पाठ-निर्णय की अपनी पद्धति थी । वे भाषा की प्रकृति, व्याकरण, शब्दों के उच्चारण और अर्थ संगति को ध्यान में रखकर पाठ-निर्णय करते थे । सम्पादक की इस पद्धति को पाठानुसंधान की आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति भले ही न माना जाए किन्तु पाठ-निर्णय के लिए इसके औचित्य को अस्वीकार नहीं किया ।[67]

2.ख. VI अनुवादक के रूप में :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का साहित्यिक व्यक्तित्व विविध पक्षों वाला है । उनके साहित्यिक लेखन का प्रारंभ विविध लेखों से हुआ था । गंभीर निबंधों का प्रणयन कर

निबंधकार कहलाये तथा खड़ीबोली एवं ब्रजभाषा में काव्य भी रचा । अनगिनत पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन किया, हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखकर इतिहासकार भी कहलाए । इन्हीं साहित्यिक रूपों में उनका एक रूप अनुवादक का भी है । अपने विद्यार्थी जीवन में ही एडीशन के निबंध 'ऐसे ऑफ इमैजिनेशन' का अनुवाद कर अनुवादक बन गए थे । इसके पश्चात् कितने ही भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों की रचनाओं का अनुवाद कर हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया ।

शुक्ल जी ने अंग्रेजी एवं बंगला इन दो भाषाओं से मनोविज्ञान, इतिहास, संस्कृति, शिक्षा एवं व्यवहार सम्बंधी लेखों एवं पत्रिकाओं के भी अनुवाद किए हैं ।[68] अंग्रेजी से हिन्दी में किए गए अनुवादों को पाँच श्रेणियों में रखा जा सकता है :

(क) निबंध के अनुवाद

(ख) शिक्षाप्रद पुस्तकों के अनुवाद

(ग) दार्शनिक कृति का अनुवाद

(घ) इतिहास ग्रंथ का अनुवाद

(ङ) काव्य कृति का पद्यात्मक अनुवाद[69]

निबंधों के अनुवाद में शुक्ल ने दो अंग्रेजी निबंधों का अनुवाद किया, जिसमें प्रथम है - जार्ज एडीशन की लेखमाला, 'लेजर्स ऑफ इमैजिनेशन' इसे कल्पना का आनन्द शीर्षक देकर सन् 1901 में पूरा किया । सन् 1905 में नागरी प्रचारिणी पत्रिका ने ग्यारह प्रकरणों में इसे प्रकाशित किया । द्वितीय निबंध न्यूमैन के लिटरेचर निबंध का अनुवाद किया । इसका शीर्षक 'साहित्य' दिया । सन् 1904 में सरस्वती पत्रिका में यह प्रकाशित हुआ था । जार्ज एडीसन की लेखमाला का अनुवाद करते हुए शुक्ल जी को काव्य में कल्पना के स्वरूप, भावों के उत्कर्ष और विस्तार में उसकी भूमिका तथा प्रत्यक्ष रूप विधान को रस भूमि तक पहुँचाने और विश्व प्रपंच के

संरचनात्मक रहस्यों को हृदयंगम कराने की उसकी क्षमता का ज्ञान हुआ था । न्यूमैन के लिटरेचर निबंध का अनुवाद करते हुए उन्हें विज्ञान और साहित्य की जीवन दृष्टियाँ एवं भाषाओं का अंतर समझ में आया ।[70]

शुक्ल जी बचपन से ही अध्ययनशील थे । घंटों तक पुस्तकालय में बैठकर वे शिक्षा-प्रद पुस्तकों का अध्ययन किया करत थे । सरस्वटी यधिवराव की माईनर हिटस से वे बहुत प्रभावित हुए । अतः उसका अनुवाद ''राज्य प्रबंध शिक्षा' शीर्षक से किया । इसका प्रकाशन 1913 ई. में हुआ । जीवन में सादगी पूर्ण ढंग से रहने वाले शुक्ल जी के मन को एजास विलियन पोर्ट की पुस्तक 'प्लेन लिविंग एण्ड हाई थिंकिंग' बहुत पसन्द आई । परिणाम स्वरूप 'आदर्श जीवन' के नाम से यह भी अनूदित की । यह 1914 ई. में प्रकाशित हुई । इन पुस्तकों से उन्हें नैतिकता का बोध हुआ । दर्शन के प्रति उनका लगाव युवावस्था से ही था । विज्ञान के चमत्कार एवं नित्य प्रति घटित घटनाओं से वे अचंभित तो थे ही साथ ही विद्वानों की पुस्तकें भी उन्हें चकित कर देती। 1920 ई. में उन्होंने जर्मनी की प्रसिद्ध पुस्तक ''रियल ऑफ द यूनीवर्स का हिन्दी में अनुवाद किया । इसमें उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य तत्त्व चिन्तक के रूप में दर्शन को जानने का प्रयत्न किया ।

भारतीय इतिहास के प्रति लगाव होन के कारण शुक्ल जी ने सन् 1905 में मिर्जापुर में रहते हुए टी. ए. शान. की पुस्तक का अनुवाद किया । लगभग 11 पृष्ठ की इसकी मौलिक भूमिका भी लिखी थी ।[71] यह अनुवाद उन्होंने बाबू श्यामसुन्दर दास के रहने पर किया था । शुक्ल जी ने एडविन आर्नल्ड के ''लाइट ऑफ एशिया का'' बुद्ध चरित नाम से ब्रजभाषा में पद्यानुवाद किया ।[72] अनुवाद जनता के हृदय में महान गौतम बुद्ध की स्मृति को सजीव करने के उद्देश्य से किया गया था । 'बुद्ध चरित' में लेखक ने मूल पुस्तक के भावों को भी स्पष्ट किया है । साथ ही शुक्ल जी

ने अपनी प्रतिभा से इसे स्वतंत्र हिन्दी काव्य का रूप भी प्रदान किया है । नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने 1922 ई. को इसे प्रकाशित किया था ।

शुक्ल जी को बंगला भाषा का भी ज्ञान था । बंगला साहित्य का अध्ययन भी उन्होंने किया था । बंगला साहित्यकार श्री राखालदास वंद्योपध्याय जी इतिहास के विद्वान थे । उनके ऐतिहासिक उपन्यास में प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं जीवन-पद्धति का बड़ा भव्य चित्रण है । इसी से प्रभावित होकर शुक्ल जी ने इसे अनुवाद के लिए चुना ।[73] स्कंदगुप्त - परवर्ती गुप्त वंश के इतिहास की गहरी छान-बीन करने पर शुक्ल जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि राखालदास ने जिस युद्ध में शशांक की मृत्यु दिखाई है, उसके बाद भी उनके जीवित रहने के ठोस प्रमाण मिलते हैं । इसलिए उन्होंने अंत में अपनी ओर से दो अध्याय जोड़कर उपन्यास को बड़ा बना दिया है ।[74] ये अध्याय इतनी कुशलता से जोड़े गए हैं कि पाठक को किसी तरह के जोड़ का आभास नहीं होता । अनूदित होने पर भी यह कृति पूर्णतः मौलिक प्रतीत होती है । आरंभ में अपनी सारगर्भित भूमिका में शुक्ल जी ने कई शिलालेखों का हवाला देकर परवर्ती गुप्त वंशीय राजाओं के इतिहास पर गहराई से विचार किया है ।[75]

आचार्य शुक्ल की अंग्रेजी एवं बंगला से हिन्दी में अनूदित कृतियों का प्रकाशन भी हुआ है साथ ही उन्हें हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि भी माना गया । इसके साथ-ही उन्होंने अंग्रेजी में मौलिक लेख भी लिखे और अनुवाद भी किया । ये रचनाएँ भी समय समय पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई । अंग्रेजी में शुक्ल जी ने लिखना विशेष प्रयोजन से शुरू किया था । उन्होंने तत्कालीन स्थितियों पर अपनी प्रतिक्रिया लेखों द्वारा प्रस्तुत की थी ।[76]

अंग्रेजी में प्रकाशित लेख निम्निलिखित हैं --

1. ह्वाट हैज इंडिया टू डू - हिन्दुस्तान, 7 फरवरी, 1907 ई. इलाहाबाद

2. द स्टेट ऑफ वर्नाकलर - द इंडियन पीपुल, 6 जुलाई 1905 ई., इलाहाबाद

3. आवजेक्सन ऑफ हिन्दी लिटरेचर द इंडियन पीपुल्स, 28 अगस्त, 1905 ई., इलाहाबाद

4. हिन्दू एण्ड द मुसलमान - द इंडियन पीपुल्स, 16 अप्रैल, 1917 ई., इलाहाबाद

5. नॉन कॉपरेशन एंड नॉ मार्कटाइल कलोसेस - एक्सप्रेस, 1921 ई., पटना [77]

इसी प्रकार समय-समय पर हिन्दी से सम्बंधित लेख समाचार पत्रों में छपते रहे थे। शुक्ल जी ने नागरी प्रचारिणी सभा, काशी का संक्षिप्त इतिहास भी अंग्रेजी में लिखा है। वह 1913 ई. में प्रकाशित हुआ ।[78]

2.ख. VII कहानीकार के रूप में :

शुक्ल जी ने साहित्यिक लेखन के आरंभ में एक कहानी लिखी । वह प्रथम और अंतिम थी । कहानी का शीर्षक है -- "ग्यारह वर्ष का समय ।" यह सन् 1903 में हिन्दी की प्रमुख पत्रिका सरस्वती में प्रकाशित हुई थी । यह कहानी शुक्ल जी के भावुक हृदय की उपज थी । उस समय इस कहानी को हिन्दी की एक मौलिक कहानी के रूप में साहित्य में स्थान प्रदान किया गया था ।

2. ख. VIII जीवनीकार के रूप में :

शुक्ल जी ने केवल तीन साहित्यकारों की ही जीवनियाँ लिखी है -- बाबू काशीनाथ खत्री, फ्रेडरिक पिंकाट और बाबू राधाकृष्ण दास की । बाबू काशीनाथ खत्री, फ्रेडरिक पिंकाट की जीवनी संक्षिप्त रूप से लिखी गई हैं । खत्री जी की कर्त्तव्य निष्ठा और उनके गुणों से प्रसन्न होकर शुक्ली जी ने उनकी जीवनी लिखी थी। इस जीवनी में शुक्ल जी ने खत्री जी की जीवन-शैली, विचार-पद्धति, हिन्दी के प्रति प्रेम, देश के प्रति लगाव आदि का चित्रण किया है।[79] यह जीवनी नवम्बर 1906 ई. में

सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित हुई थी ।

फ्रेडरिक पिंकाट अंग्रेज होते हुए भी हिन्दी प्रेमी एवं भारत हितैषी थे । अपनी लगन एवं निष्ठा के बल पर उन्होंने ख्याति अर्जित की थी । उनकी कर्त्तव्यनिष्ठा से प्रभावित होकर शुक्ल जी ने जीवनी लिखी ।[80] जीवनी में पिंकाट के जन्म, अध्ययन, संघर्ष, भारतीय संस्कृति के प्रति लगाव, हिन्दी प्रेम तथा साधारण प्रूफ रीडर से मैनेजर बनना एवं उच्च पद तक पहुँचने का वर्णन है । ये नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के आनरेरी सभासद कैसे बने आदि का उल्लेख है । यह जीवनी जनवरी, 1908 में सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित हुई ।

बाबू श्यामसुन्दर दास के आग्रह पर शुक्ल जी ने भारतेन्दु हरिचन्द्र के फुफेरे भाई बाबू राधाकृष्ण दास जी की जीवनी लिखी थी । यह जीवनी सन् 1913 में नागरी प्रचारिणी पत्रिका के अंकों में ही प्रकाशित हुई थी । इसमें उनके जन्म, शिक्षा, विवाह, व्यवसाय, संतति, हिन्दी सेवा आदि का क्रमशः वर्णन है । यह शुक्ल जी द्वारा लिखित अंतिम जीवनी है ।

2. ख. IX संस्मरणकार के रूप में :

शुक्ल जी का "प्रेमघन की छाया स्मृति" एक मात्र संस्मरण है । यह सन् 1931 में प्रकाशित हुआ । इसमें प्रेमघन की शैशवावस्था की रोचक जानकारियाँ हैं । प्रेमघन के मित्र इलाहाबाद में रहते हैं । यह सुनते ही वे उस मित्र को देखने चल पड़े थे । वह मित्र बदरी नारायण चौधरी था । इसमें प्रेमघन जी के रहन-सहन, परिवार एवं उनके यहाँ मनाये जाने वाले त्यौहारों का चित्रण है ।[81]

निष्कर्षतः शुक्ल जी हिन्दी साहित्य के ऐसे प्रतिभावान साहित्यकार हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं से हिन्दी-साहित्य को समृद्ध बनाया है । उनका कोई भी रूप-- चाहे वह निबंधकार का हो, इतिहासकार का हो, अनुवादक का हो, समीक्षक का हो -- सभी

में विलक्षण प्रतिभा के दर्शन होते हैं । कवि के रूप में काव्य को कर्म योग एवं ज्ञान योग के समकक्ष रखते हुए भाव योग कहा, जो मनुष्य के हृदय को मुक्तावस्था में पहुँचाता है। निबंधकार के रूप में उन्होंने मनोवैज्ञानिक, साहित्यिक तथा सैद्धान्तिक निबंधों का प्रणयन किया। उनके निबंधों में प्रौढ़ चिंतन, सूक्ष्म विश्लेषण एवं तर्क पूर्ण सुसम्बद्ध विवेचन का चरम आदर्श लक्षित होता है । इसी कसौटी के आधार पर उन्हें सर्वश्रेष्ठ निबंधकार माना जाता है । समीक्षक के रूप में हिन्दी समीक्षा को नये आयाम प्रदान किए हैं । उनकी प्रौढ़ शैली एवं विचारों का प्रभाव पूर्ण ढंग से प्रस्तुतीकरण पाठक को सहसा ही सहमत होने को बाध्य कर देता है । उनका सम्पूर्ण समीक्षात्मक विवेचन नूतनोन्मेष विचार-सरणि से सम्बद्ध है, जो हिन्दी समीक्षा की अमूल्य निधि है । इतिहासकार के रूप में हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा । यह उनकी साहित्य साधना की चरम परिणति है । हिन्दी साहित्य के अनेक इतिहासों में उनका इतिहास उत्तम, प्रामाणिक एवं रोचक है। वे साहित्येतिहास लेखन परम्परा के प्रवर्तक और भावी पीढ़ी के पथ-प्रदर्शक के रूप में सदैव स्मरणीय रहेंगे । संपादक के रूप में काशी नागरी प्रचारिणी सभा के मुख पत्र 'नागरी प्रचारिणी' का सफल संपादन किया । अन्य कई पत्र-पत्रिकाओं का भी संपादन किया । विभिन्न भाषा-साहित्य का अध्ययन कर उसका अनुवाद हिन्दी में करके अनुवादक के रूप में जाने गए । अनुवाद में भी मौलिकता का रंग भरने का श्रेय शुक्ल जी को ही जाता है । 'ग्यारह वर्ष का समय' नामक मौलिक कहानी की रचना कर अपने को कहानीकार के रूप में भी प्रतिष्ठित किया । शुक्ल जी ने जीवनी लेखन का कार्य भी सफलता पूर्वक किया । 'प्रेमघन की छाया स्मृति' लिखकर संस्मरण लेखक भी बने । अतः शुक्ल जी एक ऐसे साहित्यकार हैं जिन्होंने अपनी उत्कृष्ट रचनाओं से हिन्दी साहित्य के भण्डार को समृद्ध किया ।

संदर्भ :

1. भारतीय साहित्य कोश (भाग -2) : सं. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 504
2. रामचन्द्र शुक्ल : सं. सुरेश चन्द्र त्यागी, पृ. 7
3. हिन्दी के श्रेष्ठ साहित्यकार : सिंहासन राय 'सिद्धेश', पृ. 106
4. सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेम नारायण शुक्ल, पृ. 2
5. रामचन्द्र शुक्ल : सं. सुरेश चन्द्र त्यागी, पृ. 8
6. सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेम नारायण शुक्ल, पृ. 4
7. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रामचन्द्र तिवारी, पृ. 8
8. रामचन्द्र शुक्ल : सं. सुरेश चन्द्र त्यागी, पृ. 15
9. सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेम नारायण शुक्ल, पृ. 4
10. रामचन्द्र शुक्ल : सं. सुरेश चन्द्र त्यागी, पृ. 8
11. सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेम नारायण शुक्ल, पृ. 4
12 रामचन्द्र शुक्ल : सं. सुरेश चन्द्र त्यागी, पृ. 9
13. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रामचन्द्र तिवारी, पृ. 8
14. रामचन्द्र शुक्ल : सं. सुरेश चन्द्र त्यागी, पृ. 10
15. वही, पृ. 8
16. वही, पृ. 10
17. सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेम नारायण शुक्ल, पृ. 449
18. रामचन्द्र शुक्ल : सं. सुरेश चन्द्र त्यागी, पृ. 16
19. सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेम नारायण शुक्ल, पृ. 449
20. रामचन्द्र शुक्ल : सं. सुरेश चन्द्र त्यागी, पृ. 4
21. वही, पृ. 5
22. सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेम नारायण शुक्ल, पृ. 536
23. रामचन्द्र शुक्ल : सं. सुरेश चन्द्र त्यागी, पृ. 12
24. रामचन्द्र शुक्ल जीवनी और कृतित्व : चन्द्रशेखर शुक्ल, पृ. 68
25. रामचन्द्र शुक्ल : सं. सुरेश चन्द्र त्यागी, पृ. 14
26. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रामचन्द्र तिवारी, पृ. 20
27. वही, पृ. 87
28. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 1
29. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रामचन्द्र तिवारी, पृ. 88
30. वही, पृ. 88
31. वही, पृ. 9
32. हिन्दी साहित्य कोश (भाग - 2) : सं. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 508
33. वही, पृ. 506

34. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रामचन्द्र तिवारी, पृ. 28
35. मधुस्रोत : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 30
36. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ : डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ. 645
37. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 276
38. हिन्दी साहित्य कोश (भाग - 2) : सं. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 509
39. शुक्ल जी के भावपूर्ण निबंधों में लोक मंगल : डॉ. बलराज पांडेय, पृ. 4
40. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रामचन्द्र तिवारी, पृ. 21
41. चिंतामणि (द्वितीय भाग) : सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 32
42. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रामचन्द्र तिवारी, पृ. 21
43. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ : डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ. 645
44. हिन्दी साहित्य का इतिहास : सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 585
45. हिन्दी साहित्य कोश (भाग - 2) : सं. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 507
46. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रामचन्द्र तिवारी, पृ. 49
47. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ : डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ. 654
48. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रामचन्द्र तिवारी, पृ. 57
49. गोस्वामी तुलसीदास : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 9
50. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ : डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ. 55
51. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रामचन्द्र तिवारी, पृ. 62
52. जायसी ग्रंथावली (भूमिका) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 40
53. भ्रमरगीत सार (भूमिका) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 2
54. हिन्दी साहित्य कोश (भाग - 2) : सं. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 507
55. हिन्दी साहित्य का इतिहास : सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 31
56. आचर्य रामचन्द्र शुक्ल : रामचन्द्र तिवारी, पृ. 68
57. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ : डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ. 6
58. हिन्दी साहित्य कोश (भाग - 2) : सं. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 508
49. हिन्दी साहित्य का इतिहास : सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 33
60. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ : डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ. 8
61. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास की रचना-प्रक्रिया (भूमिका) : डॉ. समीक्षा ठाकुर, पृ. 2
62. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रामचन्द्र तिवारी, पृ. 9
63. हिन्दी साहित्य कोश (भाग - 2) : सं. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 506
64. हिन्दी निबंध के सौ वर्ष : डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय, पृ. 128
65. वही, पृ. 129

66. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रामचन्द्र तिवारी, पृ. 33
67. वही, पृ. 36
68. हिन्दी साहित्य कोश (भाग - 2) : सं. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 506
69. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रामचन्द्र तिवारी, पृ. 33
70. वही, पृ. 34
71. वही, पृ. 35
72. हिन्दी साहित्य कोश (भाग - 2) : सं. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 506
73. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रामचन्द्र तिवारी, पृ. 35
74. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चन्द्रशेखर शुक्ल, पृ. 33
75. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रामचन्द्र तिवारी, पृ. 30
76. वही, पृ. 32
77. वही, पृ. 35
78. रामचन्द्र शुक्ल : चन्द्रशेखर शुक्ल, पृ. 49
79. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रामचन्द्र तिवारी, पृ. 30
80. वही, पृ. 39
81. वही, पृ. 41

तृतीय अध्याय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंधों की विषय-वस्तु

तृतीय अध्याय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंधों की विषय-वस्तु

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य के उच्चकोटि के निबंधकार हैं । शुक्ल जी के रूप में हिन्दी को एक ऐसी प्रतिभा मिली जिसमें गम्भीर विचार, सशक्त शैलीकार और एक महान निबंध लेखक का मिश्रण था । निबंधों के क्षेत्र में गूढ़ विवेचन और सूक्ष्म विश्लेषण लाने का सर्वप्रथम तथा सर्वप्रमुख श्रेय शुक्ल जी को ही जाता है । बाबू गुलाब राय के शब्दों में -- ''आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंध-क्षेत्र में पदार्पण करने से निबंध साहित्य में एक नया जीवन आया। द्विवेदी युग में विषय-विस्तार और परिमार्जन तो पर्याप्त हुआ किन्तु उस काल में उतना विश्लेषण और गहराई में जाने की प्रवृत्ति न उत्पन्न हो सकी ।''[1]

आचार्य शुक्ल ने निबंध-लेखन की शुरूआत तो अपने साहित्यिक जीवन के प्रथम चरण में ही कर दी थी, किन्तु उसके स्वरूप पर विचार करने और उसे परिभाषित करने का प्रश्न उनके सामने तब उपस्थित हुआ जब उन्होंने हिन्दी-शब्द-सागर की भूमिका के रूप में हिन्दी साहित्य का विकास लिखने का दायित्व संभाला ।''[2] पूर्व में उन्होंने निबंधों के लिए लेख शब्द का प्रयोग किया । धीरे-धीरे उन्होंने 'लेख' के स्थान पर निबंध शब्द का प्रयोग करना शुरू किया । निबंध को गद्य की विधा मानते हुए उन्होंने लिखा -- ''निबंध जैसे महत्त्वपूर्ण विषय की ओर यद्यपि बहुत कम ध्यान दिया गया और उसकी परंपरा जैसी न चली कि हम पाँच-सात उच्च कोटि के निबंध-लेखकों के उसी प्रकार झट से छाँटकर बता सकें जिस प्रकार अंग्रेजी साहित्य में बता दिए जाते हैं, फिर भी बीच में अच्छे और उच्च कोटि के निबंध मासिक पत्रिकाओं में दिखाई पड़ते रहे ।''[3]

पत्रिकाओं में प्रकाशित निबंधों को अपनी पारखी नजर से पढ़कर उसकी क्षमता का आंकलन करने वाले प्रतिभावान शुक्ल जी निबंध पर लेखनी कैसे न चलाते । अपने जीवन काल में उन्होंने बहुत से निबंधों की रचना की और निबंध को गद्य की कसौटी माना -- ''यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो 'निबंध' गद्य की कसौटी है । भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों में ही सबसे अधिक संभव होता है । इसलिए गद्य शैली के विवेचक उदाहरणों के लिए अधिकतर निबंध को चुना करते हैं ।''[4] इसी तथ्य को सच्चाई में परिणत करने हेतु उन्होंने सन् 1930 ई. में 'विचार-वीथी' के नाम से अपना निबंध संकलन प्रकाशित किया । प्रकाशन अग्रवाल प्रेस, बनारस से हुआ ।[5] निबंध संकलन का नाम 'विचार-वीथी' आचार्य शुक्ल ने ही रखा था । इस संकलन में तेरह निबंध थे । निबंधों की विषय-वस्तु के अनुसार ही इसका नाम 'विचार-वीथी' रखा गया था । जब 'विचार-वीथी' का पुनर्मुद्रण होने लगा उस समय इसमें चार नये निबंध भी जोड़े गये और 'विचार-वीथी' का नाम बदलकर 'चिंतामणि' रखा गया। इस प्रकार शुक्ल जी द्वारा लिखित निबंध 'चिन्तामणि' में संगृहीत हैं ।

3.क चिन्तामणि (पहला भाग) :

चिन्तामणि (पहला भाग) शुक्ल जी के प्रौढ़ावस्था में लिखे गए निबंधों का संग्रह है। डॉ. रामकृपाल पाण्डेय लिखते हैं -- आचार्य शुक्ल का निबंध-संग्रह 'चिन्तामणि' (पहला भाग) हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है । यदि सम्पूर्ण हिन्दी निबंध-साहित्य नष्ट हो रहा हो और मुझसे कहा जाये कि अपनी मनचाही कोई एक कृति बता सकते हो तो मैं 'चिन्तामणि' को ही चुनूँगा । यह हिन्दी जाति के एक अत्यन्त प्रखर मस्तिष्क और अत्यन्त शीलवान हृदय की प्रतिनिधि निबंध कृति है ।''[6] 'विचार-वीथी' से यह 'चिन्तामणि' कैसे हुई इस सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र लिखते हैं -- ठीक सन्- सम्वत् न तो स्मरण आ रहा है और न तिथि विथि ही, जिस दिन इसका नाम

रखा गया । पर यह घटना उनके काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हो जाने के कुछ दिनों बाद की है, जब उन्होंने विश्वविद्यालय आने-जाने के लिए एक ताँगा नियत कर लिया था । मैं तो बहुधा उनके साथ ही लौटने का तब भी प्रयास करता था, जब वे पैदल चले आया करते थे और जब ताँगा रखा लिया तब भी उनके साथ ही प्रायः लौटा करता था । लोभ था, उनसे साहित्य विषयक विवादों पर चर्चा करने और ज्ञानवर्धन करने का । किसी दिन कोई पार्टी थी, इसलिए विभाग के सभी प्राध्यापक एक साथ छुट्टी पर गए । इसलिए ताँगे पर उनके अतिरिक्त आचार्य केशव प्रसाद मिश्र, डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा और मैं तीन जन और बैठ गए । मार्ग में उन्होंने बताया कि 'विचार-वीथी' फिर से छप रही है । उसका कोई छोटा उपयुक्त नाम नहीं सूझ रहा है । कुछ समय के अनन्तर आचार्य केशव प्रसाद मिश्र ने कहा कि 'चिन्तामणि' नाम कैसा रहेगा ? क्षण भर बीतते न बीतते आचार्य प्रवर ने उस नाम की सराहना की और डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने उसके समर्थन में कहा -- 'पायो नाम चारु चिन्तामणि उर कर तें न खसैहों ।' बस संग्रह का नाम तभी से 'चिन्तामणि' हो गया ।''[7]

'चिन्तामणि' शब्द 'चिन्ता' और 'मणि' दो शब्दों के योग से बना है । 'चिन्त' धातु मुख्यतः चिन्तन के अर्थ में प्रयुक्त होती है । अतः चिन्त का मुख्य अर्थ होता है-- चिन्तन या विचार । 'चिन्त' का गौण अर्थ - 'फिक्र', प्रवाह या सुखद विचार भी हो सकता है । बोलचाल एवं लोक व्यवहार में इसी गौण अर्थ का प्रयोग किया जाता है । साहित्य के क्षेत्र में 'चिन्त' का अर्थ चिन्तन या विचार ही प्रयुक्त किया जाता है । चिन्तन एवं विचार का सुखद परिणाम ही चिन्तामणि है । ''आचार्य शुक्ल की 'चिन्तामणि' में समस्त इच्छाओं की पूर्ति करने की रहस्यमयी शक्ति तो नहीं है, किन्तु उसमें चिन्तन के ऐसे मूल्यवान सूत्र अवश्य हैं जो समस्त मानव जाति को विश्व मंगल

का सच्चा मार्ग दिखा सकते हैं ।''[8]

अतः सन् 1930 की 'विचार-वीथी' का परिवर्धित नव संस्करण सन् 1939 में 'चिन्तामणि' (पहला भाग) के नाम से हुआ । यह हिन्दी का एक ऐसा निबंध संग्रह है-- जो भारत के उन सभी विश्वविद्यालयों में जहाँ के उच्चस्तरीय पाठ्यक्रम में हिन्दी का अध्ययन कराने की व्यवस्था है, वहाँ के पाठ्यक्रम में इसे शामिल किया गया है । अभी तक निबंध की कोई अन्य पुस्तक प्रकाश में नहीं आई, जो 'चिन्तामणि' का स्थान ग्रहण कर सके । 'चिन्तामणि' (पहला भाग) में सत्रह निबंध संगृहीत हैं । इन सम्पूर्ण निबंधों को विषय की दृष्टि से दो भागों में विभाजित किया गया है -- 1. मनोविज्ञान सम्बंधी निबंध 2. समीक्षात्मक निबंध। समीक्षात्मक निबंधों के पुनः दो विभाग में किए गए हैं-- 1. सैद्धांतिक समीक्षा सम्बंधी 2. व्यवहारिक समीक्षा सम्बंधी ।

3.क । मनोविकार सम्बंधी निबंध :

मनोविकार सम्बंधी निबंधों की संख्या दस है : (1) भाव या मनोविकार (2) उत्साह (3) श्रद्धा-भक्ति (4) करुणा (5) लज्जा और ग्लानि (6) लोभ और प्रीति (7) घृणा (8) ईर्ष्या (9) भय (10) क्रोध । ये निबंध शुक्ल जी के विकसित चिंतन एवं प्रौढ़ अनुभव को प्रस्तुत करते हैं । सभी निबंधों में जीवन की व्याख्या लोकधर्म को आधार बनाकर की गई है । यद्यपि ये निबंध मनोविज्ञान के मान्य सिद्धांतों एवं उसकी मान्यताओं के आधार पर नहीं लिखे गए हैं तथापि इनमें तदविषयक अध्ययन, अनुभूति एवं प्रेरणा अत्यन्त प्रौढ़ एवं प्रांजल रूप में विद्यमान है । सभी निबंध व्यावहारिक जीवन की पृष्ठभूमि पर आधारित हैं जिसमें मनोविकारों के साथ-साथ सामाजिक स्वरूप की भी विशद् विवेचना की गई है । शुक्ल जी ने अपने युग की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, साहित्यिक एवं शैक्षणिक समस्याओं पर तीव्र व्यंग्य करते हुए उनके समाधान हेतु मौलिक सुझाव भी प्रस्तुत किए हैं । निःसंदेह ये निबंध साहित्य एवं

जीवन की तत्कालीन समस्याओं को सुलझाने में अत्यन्त सफल जान पड़ते हैं और नये आदर्शों की प्रतिष्ठा हेतु ठोस धरातल प्रस्तुत करते हैं । लोक धर्म की कसौटी पर खरे उतरने वाले ये निबंध रीतिवाद एवं मानवतावाद से परिपूर्ण हैं । मनोविज्ञान एवं नीतिपूर्ण होने के कारण ये रस सम्बंधी अवधारणा को सुलझाने में ये पूर्णतया सफल हैं। साथ ही साहित्य की भी कलात्मक ढंग से प्रस्तुति करते हैं । मनोविकार सम्बंधी ये निबंध शुक्ल जी के मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व को पूर्णतः प्रकट करते हैं । डॉ. रामविलास शर्मा ने इन निबंधों के विषय में लिखा है -- 'इनमें न तो शुक्ल जी ने रीति शास्त्र को भाव विवेचन का आधार बनाया है, न पश्चिम के मनोविज्ञान को । उनकी स्थापनाएँ मौलिक हैं । उनकी न केवल साहित्यशास्त्र को वरन् मनोविज्ञान और समाजशास्त्र को भी महत्त्वपूर्ण देन है ।''[9]

भाव या मनोविकार : यह 'चिन्तामणि' (पहला भाग) का प्रथम निबंध है, जिसमें भाव एवं मनोविकार से सम्बंधित महत्त्वपूर्ण तथ्यों को उजागर किया गया है । भाव के अर्थ में तीन शब्दों का प्रयोग भी किया है । जैसे मनोविकार, मनोवेग एवं राग । मनोविकार की प्रथम अवस्था में सुखात्मक एवं दुखात्मक दो अनुभूतियों का वर्णन किया है । यह अनुभूति मानव जीवन का लक्षण है । जहाँ जीवन होगा, वहाँ अनुभूति अवश्य होगी और जहाँ अनुभूति है वहाँ जीवन अवश्य है । जीवन या प्राण बिना अनुभूति संभव नहीं है और अनुभूति शून्य जीवन संभव नहीं -- ''अनुभूति के द्वन्द्व ही से प्राणी के जीवन का आरम्भ होता है । उच्च प्राणी मनुष्य भी केवल एक जोड़ी अनुभूति लेकर इस संसार में आता है ।''[10] इन अनुभूतियों से ही जीवन का आरंभ होता है । इन्हीं अनुभूतियों के भिन्न-भिन्न भागों से मनोविकार या भाव उत्पन्न होते हैं -- ''नाना विषयों के बोध का विधान होने पर ही उनसे सम्बंध रखने वाली इच्छा की अनेकरूपता के अनुसार अनुभूति के भिन्न-भिन्न योग संघटित होते हैं जो भाव या मनोविकार कहलाते हैं ।''[11]

भाव या मनोविकारों का जन्म मानव के पैदा होने के साथ ही नहीं होता वरन् उनका जन्म समाज के संसर्ग में आने के बाद होता है । जैसे प्रारंभ में बच्चे में सुख और दुःख की सामान्य अनुभूतियाँ मात्र होती हैं -- भाव या मनोविकार नहीं होते । पेट के भरे होने पर उसे सुख की अनुभूति होती है और खाली होने पर दुःख की । उसका हँसाना या रोना इन्हीं दोनों अनुभूतियों के चिह्न हैं । ये अनुभूतियाँ प्रारम्भ में बिल्कुल सामान्य रूप में रहती हैं, विशेष-विशेष विषयों की ओर विशेष-विशेष रूपों में ज्ञानपूर्वक उन्मुख नहीं होतीं । यही सामान्य अनुभूति ही मूल अनुभूति भी है । सुख दुःख की मूल अनुभूति ही विषय भेद के अनुसार प्रेम, उत्साह, आश्चर्य, क्रोध, भय, करुणा, घृणा, ईर्ष्या इत्यादि मनोविकारों का जटिल रूप ग्रहण करती है । सूत्र रूप में भाव या मनोविकार मूल या सामान्य अनुभूति के ही जटिल रूप हैं ।''[12]

भाव एवं मनोविकार ही मानव-जीवन के प्रवर्त्तक होते हैं इस मान्यता की पुष्टि करते हुए शुक्ल जी कहते हैं -- ''मनुष्य की प्रवृत्तियों की तह में अनेक प्रकार के भाव ही प्रेरक के रूप में पाये जाते हैं । शील या चरित्र का मूल भी भावों के विशेष प्रकार के संगठन में ही समझना चाहिए ।''[13] उन्होंने व्यक्ति से ज्यादा लोक को प्रमुखता दी है इसलिए लोक के प्रति अपराध को वे अक्षम्य मानते हैं । लोक कल्याण के लिए करुणा, वीरता, उत्साह आदि मनोविकारों का प्रयोग किया जाना चाहिए । उन्होंने शासन की पहुँच को प्रवृत्ति एवं निवृत्ति (विधि-निषेध) तक ही सीमित बताया है । वे जानते थे कि शासन केवल इसी बात पर बन्धन लगा सकता है कि हमें कौन-सा काम करना चाहिए। शासन दंड या लालच द्वारा ही कार्यों का संचालन कर सकता है । उसमें वह शक्ति नहीं होती जो मानव मन में कार्यों के प्रति किसी प्रकार की सच्ची भावना उत्पन्न कर सके । जैसे -- हत्या करना शासन की दृष्टि में दंडनीय है इस कारण लोग हत्या करने से डरते हैं लेकिन शासन मन में वह उच्च नैतिक भावना

उत्पन्न नहीं कर सकता जिसके कारण हत्या को नैतिक दृष्टि से पाप समझा जाता है। ऐसे उच्च विचारों को कविता ही उद्‌भूत करा सकती है -- ''शासन की पहुँच प्रवृत्ति और निवृत्ति की बाहरी व्यवस्था तक ही होती है । उनके मूल या मर्म तक उनकी गति नहीं होती । भीतरी या सच्ची प्रवृत्ति-निवृत्ति को जागृत रखने वाली शक्ति कविता है, जो धर्म क्षेत्र में शक्ति-भावना को जगाती रहती है ।''[14]

कविता ही मन में आराध्य के प्रति श्रद्धा एवं प्रेम की भावना उत्पन्न करने में समर्थ है क्योंकि यह न भय दर्शाती है और न ही लालच का आकर्षण दर्शाती है, वह तो प्रिय तन समान मन की सत्वृतियों को जागृत करती है । 'भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है''[15] अर्थात् धर्म के क्षेत्र में कविता ही भक्ति भावना की सृष्टि करती है । भक्ति से मन में श्रद्धा और प्रेम का उदय होता है । यह प्रेम व्यक्ति को स्व से निकालकर सर्व कल्याण के लिए प्रेरित करता है । कविता का अध्ययन ही मानव को इस योग्य बनाता है कि वह शेष सृष्टि के साथ अपना रागात्मक सम्बंध स्थापित करने में समर्थ होता है अर्थात् कविता ही हृदय में उदारता की यह भावना उत्पन्न करती है जिसके कारण मानव में सृष्टि की प्रत्येक वस्तु के प्रति कल्याण भावना जागृत होती है, जो मानव जीवन को सार्थक बनाती है । शुक्ल जी के शब्दों में -- उसके (मानव) अवतार का उद्देश्य पूर्ण हो जायेगा और वह जगत का सच्चा प्रतिनिधि हो जाएगा । काव्य-योग की साधना इसी भूमि पर पहुँचाने के लिए है ।''[16]

उत्साह : यह 'चिन्तामणि' का द्वितीय निबंध है, इसमें उत्साह क्या है ? उत्साही कौन होते हैं तथा उनमें क्या गुण होते हैं आदि का वर्णन किया गया है । शुक्ल जी ने मनुष्य की उस उमंग को उत्साह माना है जिसमें आनन्द की भावना सर्वोपरि होती है-- ''साहस पूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है ।''[17] उन्होंने उत्साह में उमंग एवं साहस दो तत्त्व अनिवार्य माने हैं । विघ्न-बाधाओं की परवाह न कर यदि कोई व्यक्ति

कर्म करने में प्रवृत्त होता है और इस कर्म के करने में उसे आनंद मिलता है तो उसकी इस भावना को उत्साह कहा जायेगा । इसलिए सच्चे उत्साही वे ही कहे जाते हैं जिन्हें कर्म करने में आनंद मिलता है -- ''कर्म-सौन्दर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं ।''[18]

उत्साह में मानव कष्ट और हानि सहने को तत्पर रहता है । इसी कष्ट और हानि के भेद से उत्साह के भी कई भेद हो जाते हैं, जैसे - युद्ध-उत्साह-किसी विकट कर्म करने अथवा रूढ़ियों को तोडने के प्रति उत्साह, दया अथवा दान के प्रति उत्साह आदि । इन सभी प्रकार के उत्साहों में कष्ट एवं हानि के साथ आनन्द पूर्ण प्रयत्न भी अपेक्षित है । शुक्ल जी ने सभी उत्साहों में युद्धोत्साह को प्राचीन एवं प्रधान माना है क्योंकि इसमें प्रयत्न और साहस दोनों के साथ आनंद भी होता है । केवल कष्ट सहन उत्साह नहीं होता । शुक्ल जी ने साहस और उत्साह का अंतर करते हुए लिखा है-- 'बिना बेहोश हुए भारी फोड़ा चिराने को तैयार होना साहस कहा जायेगा पर उत्साह नहीं ।''[19] उत्साह में धीरज और साहस दोनों का योग होता है परन्तु उसकी मूल अनुभूति आनंद की रहती है ।

उत्साह का क्षेत्र अति व्यापक है । इसमें शारीरिक कष्ट के अतिरिक्त मानसिक कष्ट भी होता है तथापि इसका शुभ या अशुभ होना उसके परिणाम से जाना जाता है। परिणाम शुभ होने से उसे शुभ कर्म माना जाता है परन्तु जब कोई कार्य यश प्राप्ति के लिए किया जाता है तब वहाँ शुभ-अशुभ का विचार नहीं किया जाता न ही उन कार्यो की प्रशंसा होती है । उन्हीं को उत्साही एवं वीर माना जाता है जो निन्दा स्तुति की परवाह नहीं करते और बुराइयों से लड़ते हैं । इसके विपरीत कुछ लोग वीर एवं साहसी कहलवाने के लिए रूढ़ियों को तोड़ते हैं, ऐसे लोग ओछे होते हैं और सदैव निन्दनीय होते हैं । डॉ. रामकृपाल पाण्डेय, शुक्ल जी का समर्थन करते हुए लिखते

हैं-- ''उत्साही को वीर कहना उचित है, पर कभी-कभी (आजकल तो प्रायः) लोगों का उत्साह बुरे कामों में भी दिखाई पड़ता है । चोरी, डकैती, राहजनी, तस्करी, घूसखोरी, वूथ कैप्चरिंग, बलात्कार, हत्या इत्यादि के प्रति उत्साह रखने वाले को वीर नहीं कहा जा सकता । यह हमेशा याद रखना चाहिए ।''[20] शुक्ल जी ने भी शुभ एवं अशुभ कर्म का अन्तर किया है -- ''उत्साह की गिनती अच्छे गुणों में होती है । किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति के शुभ या अशुभ परिणाम के विचार से होता है । वही उत्साह जो कर्त्तव्य कर्मों के प्रति इतना सुन्दर दिखाई पड़ता है, अकर्त्तव्य कर्मों की ओर होने पर वैसा श्लाध्य नहीं प्रतीत होता । आत्म रक्षा, पर-रक्षा, देश-रक्षा आदि के निमित्त साहस की जो उमंग देखी जाती है उसके सौन्दर्य को पर पीड़न डकैती आदि कर्मों का साहस कभी नहीं पहुँच सकता।''[21]

प्रयत्न एवं कर्म संकल्प को उत्साह का लक्षण मानते हुए उत्साही को कर्मवीर एवं बुद्धिवीर माना है। साथ ही कर्म करने के आनन्द का विधान तीन रूपों में किया है-- 1. कर्म भावना से उत्पन्न, 2. फल-भावना से उत्पन्न, 3. आगन्तुक और विषयान्तर से प्राप्त । इनमें से सच्चे कर्मवीरों का आनंद कर्म-भावना से उत्पन्न आनन्द होता है क्योंकि इसमें साहस का योग अपेक्षाकृत अधिक रहता है । उसकी दृष्टि में कर्म और फल में कोई अन्तर नहीं होता । असफलता में भी वह हतोत्साहित नहीं होता । वे जानते हैं कि कभी हार तो कभी जीत । अतः कर्म-भावना का उत्साह ही सच्चा उत्साह है। ''फलासक्त उत्साही असफल होने पर खिन्न और दुःखी होता है पर कर्मासक्त उत्साही केवल कर्मानुष्ठान के पूर्व की अवस्था में हो जाता है।''[22] कर्म एवं फल की मिली-जुली अनुभूति होने पर ही मानव कर्म करने में तत्पर होता है । फलासक्ति में कार्य थोड़ा एवं फल की आसक्ति अधिक होती है । ऐसी अवस्था में कर्म गौण एवं फल प्रधान हो जाता है । इसमें मानव को धोखा ही मिलता है । अतः

वास्तविक आनन्द कर्म करने में ही मिलता है और कर्मशील ही कर्मण्य कहे जाते हैं । धार्मिक एवं उदार प्रवृत्तिगत लोग अपने किए कर्म में ही आनन्द अनुभव करने लगते हैं। वे फल को गौण मानते हैं क्योंकि कर्म पथ पर पग धरते ही उन्हें सुखानुभूति होने लगती है ।

उत्साह का सम्बंध मानव के समस्त क्रिया-कलापों से होता है । उत्साह ही मानव को कर्म प्रवृत्त बनाता है । सकारात्मक उत्साह मानव में मानवता की भावना प्रबल करता है और अपने जीवन को सफल एवं सार्थक करता है ।

श्रद्धा-भक्ति : श्रद्धा एवं प्रेम के सम्मिलन से भक्ति का संघटन होता है, इसी आधार पर शुक्ल जी ने श्रद्धा का सर्वप्रथम विवेचन किया है । श्रद्धा क्या है ? इस विषय में उन्होंने लिखा है -- ''किसी मनुष्य में जन-साधारण से विशेष गुण व शक्ति का विकास देख उसके सम्बंध में जो एक स्थायी आनन्द हृदय में स्थापित हो जाता है, उसे श्रद्धा कहते हैं ।''[23] श्रद्धेय के प्रति हृदय में अपार सम्मान होता है । उसके विशेष गुण एवं कर्मों पर सभी लुब्ध होते हैं । वह व्यक्ति-विशेष भी समाज का हित चिंतक होता है अतः श्रद्धा के मूल में लोक-कल्याण की भावना प्रमुख रहती है ।

श्रद्धा एवं प्रेम एक ही मूल अनुभूति सुख से उत्पन्न होते हुए भी उनमें बहुत अन्तर है, इन अन्तरों का शुक्ल जी ने विस्तार पूर्वक विवेचन किया है । प्रेम प्रिय के गुण और कर्मों पर उतना निर्भर नहीं होता । श्रद्धा का कार्य क्षेत्र अति विस्तृत है परन्तु प्रेम में एकान्तता रहती है । जहाँ प्रेम में घनत्व अधिक रहता है, वहीं श्रद्धा में विस्तार। किसी से प्रेम करने वाले एक या दो-तीन जबकि श्रद्धा करने वाले अनगणित । हमारा आकर्षण श्रद्धेय के कार्य के प्रति होता है, उसके रूप के प्रति नहीं । प्रिय का चिन्तन सीमित होता है परन्तु श्रद्धेय का चिन्तन सम्पूर्ण जगत को साथ लेकर किया जाता है। अर्थात् प्रेम स्वप्न समान है और श्रद्धा जागरण ।[24] प्रेम में केवल दो पक्ष होते हैं -- प्रिय

एवं प्रेमी । श्रद्धा में तीन पक्ष होते हैं -- श्रद्धालु, श्रद्धेय एवं उसके कर्म । श्रद्धा में कर्म द्वारा व्यक्ति की विशिष्टता जानी जाती है और प्रेम में व्यक्ति द्वारा कर्म की महता । श्रद्धा व्यक्तिगत स्वार्थ भावना न होकर एक सामाजिक भाव है । प्रेमी स्वार्थ की भावना के वशीभूत होता है । श्रद्धालु विश्व-कल्याण से प्रेरित होता है और संसार को साथ लेकर चलता है । प्रेमी अपना साझीदार नहीं चाहता ।

शुक्ल जी ने स्थूल रूप से श्रद्धा के तीन प्रकार बताये हैं -- 1. प्रतिभा सम्बंधिनी, 2. शील सम्बंधिनी, 3. साधन सम्पत्ति सम्बंधिनी । प्रतिभा सम्बंधिनी श्रद्धा तभी उत्पन्न होती है जब किसी व्यक्ति को किसी विशेष विषय के प्रति रूझान होता है और जब उसे उस विषय का कोई मर्मज्ञ मिल जाता है । जरूरी नहीं है ऐसी श्रद्धा सभी में हो, जिनमें नहीं है उसे शुक्ल जी ने क्षम्य माना है । साथ ही वे कहते हैं शील सम्बंधिनी श्रद्धा प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है । इससे समष्टि के कल्याण का भाव उदय होता है । उन्होंने श्रद्धा का सम्बंध धर्म से बताया है । धर्म को उन्होंने मत, मजहब एवं पंथ से ऊपर उठाकर समष्टि कल्याण रूपी कर्म बताया है । ''श्रद्धा द्वारा हम यह आनन्दपूर्वक स्वीकार करते हैं कि कर्म के अमुक-अमुक दृष्टान्त धर्म के हैं । अतः श्रद्धा धर्म की पहली सीढ़ी है । धर्म के इस प्रथम सोपान पर प्रत्येक मनुष्य को रहना चाहिए जिससे जब कभी अवसर आये तब वह कर्म-रूपी दूसरे सोपान पर हो जाए ।''[25] तृतीय रूप साधन-सम्पत्ति सम्बंधिनी श्रद्धा है जो प्रत्यत्न के प्रति होती है, प्रयत्न की पूर्णता के प्रति नहीं । यह सम्पन्नता विशेष साधन जैसे शारीरिक शक्ति, विशेष प्रयत्न या योग्यता की होती है । परन्तु इन सबकी सामाजिक उपयोगिता होनी चाहिए । अनुपयोगी विलक्षणता श्रद्धा की भाजन नहीं होती । श्रद्धान्धता को शुक्ल जी ने ठीक नहीं माना है। श्रद्धान्धता होने पर श्रद्धालु अपने श्रद्धेय के कर्मों के शुभ या अशुभ पक्ष का विचार नहीं करता । यह अन्ध श्रद्धा जब शील-सदाचार चेतना को नष्ट कर देती है तभी

समाज के लिए घातक हो जाती है । अतः शील सम्बंधित श्रद्धा ही समाज के लिए कल्याणकारी होती है और श्रद्धा के मूल में लोक कल्याण की भावना प्रधान है ।

शुक्ल जी ने श्रद्धा की आवश्यकता इसलिए मानी है क्योंकि दूसरों की श्रद्धा प्राप्त कर व्यक्ति के कार्य सुगम हो जाते हैं उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलती है । परन्तु कुछ लोग श्रद्धा का अनुचित उपयोग करते हैं । कुछ लोग अपने स्वार्थ साधन के लिए शुभ गुणों का झूठा अनुकरण करके संसार को धोखा देते हैं । ऐसे पाखण्डी सदाचारियों की नकल मात्र करते हैं । इन्हें शुक्ल जी ने दुव्यसनी मात्र माना है । सामाजिक दृष्टि से इसको अपराध मानते हुए शुक्ल जी ने इसके लिए दण्ड विधान आवश्यक माना है । "इनसे समाज को हर घड़ी सावधान रहना चाहिए ।"[26] श्रद्धेय श्रद्धालु की श्रद्धा से ही उत्साहित होता है । स्वार्थ वश श्रद्धा के प्रति अश्रद्धा प्रकट करना समाज के लिए अनिष्टकारी होता है । श्रद्धेय के गुणों के प्रतिदान में जनता द्वारा उसे श्रद्धा का दान मिलता है । जिससे श्रद्धेय सुखी तथा शक्तिशाली बनता है । इस श्रद्धावश दान में उपयोगिता का तत्त्व छिपा रहता है । श्रद्धावश दिए गए दान समाज के लिए मंगलकारी होते हैं ।

श्रद्धा की उदाहरणों सहित व्याख्या के पश्चात् शुक्ल जी श्रद्धा एवं भक्ति का सम्बंध बताते हैं । श्रद्धा और प्रेम मिलकर भक्ति की भावना उत्पन्न करते है -- "श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है ।"[27] भक्त श्रद्धेय के साथ अनन्य घनिष्ठता प्राप्त करना चाहता है, उसकी सत्ता में विशेष रूप से योग देना चाहता है -- "भक्त वे ही कहला सकते हैं जो अपने जीवन का बहुत अंश स्वार्थ, परिवार व शारीरिक सुख आदि से विभक्त करके किसी के आश्रय से किसी ओर लगा सकते हैं । इसी का नाम है-- आत्म-निवेदन । श्रद्धा द्वारा हम श्रद्धेय के महत्त्व के अधिकारी नहीं हो सकते पर भक्ति द्वारा हो सकते हैं -- जैसे राम की भक्ति करके हनुमान राम भक्त की भक्ति के

अधिकारी हुए -- श्रद्धालु महत्त्व को स्वीकार करता है, पर भक्त महत्त्व की ओर अग्रसर होता है ।''[28] भक्त की भक्ति से शक्तिशाली बनकर श्रद्धेय सदैव समाज-कल्याण में तत्पर रहता है ।

केवल शून्य सिद्धान्त नीरस एवं व्यर्थ होते हैं । मानव में उनकी स्थापना ही दीपक के समान प्रत्यक्ष अनुभूति के विषय हो सकते हैं अर्थात् व्यक्ति-विशेष के आदर्शों का स्वरूप सामने होने पर ही सिद्धांत और नीति की बात मन को आकृष्ट करती है, शून्य एवं रूखे सिद्धान्तों में कोई आकर्षण नहीं होता । गुण प्रत्यक्ष नहीं होता, उसके आश्रय और परिणाम प्रत्यक्ष होते हैं । भक्त अपने आराध्य का सतत सामीप्य चाहता है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि इसी के विधान हैं । अपने इष्ट और उसके विरोधी में क्रमशः प्रवृत्ति और निवृत्ति का प्रवाह साथ-साथ चलता है । प्रत्यक्ष फल के विपरीत आभ्यान्तर फल का परिणाम उपयोगिता खो बैठता है । दुराचारी जब संसार के सामने अपने पाप का फल भोगता है तभी उसकी उपयोगिता है । पाप, अन्याय, अत्याचार का आशु-फल संसार के सामने रखना लोक-रक्षा है । अत्याचार का विरोध न करना कायरता है ।

भगवद भक्ति की व्याख्या भी शुक्ल जी ने मनोवैज्ञानिक धरातल पर की है । भगवद भक्ति में मनुष्य अपने उच्च भावों और आदर्शों की पूर्णता अपने आराध्य में देखता है । अन्तःकरण की सार्थक उपयोगिता ही पूर्ण मनुष्यता है । उदात्त वृत्तियों की उपेक्षा मानव महत्ता को नष्ट करती है । दया, प्रेम, धर्म, सत्य आदि की स्वानुभूति द्वारा ही मानव इस परम अनुभूति का अधिकारी बनता है । जहाँ धर्म भाव है वहीं ईश्वर की भावना हो सकती है । मानव ईश्वर में ही अपने मनोभावों तथा कर्मों की पूर्णता स्थापित कर उसे अपने से श्रेष्ठ समझने लगता है । समष्टि कल्याण से प्रेरित होकर ही वह धर्म-रक्षा करता है । धर्म की रक्षा विश्व की रक्षा से ही हो सकती है ।

करुणा : यह चिन्तामणि का चतुर्थ निबंध है । करुणा की मूल अनुभूति दुख के वर्ग का भाव है । किसी दूसरे का दुख देख या जानकर मनुष्य जो एक प्रकार का दुख अनुभव करता है उसे ही करुणा कहते हैं । बालक को जब सम्बंध ज्ञान होने लगता है तभी वह अपने अनुभव के आधार पर दूसरों के दुख का अनुमान कर जिस भाव का अनुभव करता है वह करुणा कहलाती है । माँ के झूठ-मूठ रोने पर या अपने भाई-बहिनों को संकट में ग्रस्त देखकर बालक स्वयं भी रोने लगता है । यह रोना करुणा के कारण ही उत्पन्न होता है ।

शुक्ल जी ने करुणा एवं क्रोध को प्रवृत्ति की दृष्टि से विरोधी माना है -- ''दुख की श्रेणी में प्रवृत्ति के विस्तार से करुणा का उल्टा क्रोध है ।''[29] क्रोध में दूसरों को हानि पहुँचाने की भावना रहती है और करुणा में दूसरों की भलाई करने की । प्रसन्न तथा अप्रसन्न दोनों ही रूपों में हित-कार्य किया जा सकता है परन्तु आनंद की श्रेणी का मनोविकार दूसरों की हानि पहुँचाने के लिए उत्तेजित नहीं करता । मानव सामाजिक प्राणी है । अतः वह स्वभाव वश दूसरों के दुख से दुखी एवं सुख से सुखी होता है । परन्तु जितना वह दुख से दुखी होता है उतना सुख से सुखी नहीं होता शुक्ल जी यहाँ तक कहते हैं कि दूसरों के सुख को देखकर जो आनन्द होता है उसका कोई अलग नाम भी और उसमें न वेग न प्रेरणा होती है अर्थात् दूसरों के दुख को देखकर दुखी होने का नियम बहुत व्यापक है और दूसरों के सुख से सुखी होने का नियम उसकी अपेक्षा सीमित है । दुखी होने के भाव को करुणा, दया आदि नामों से पुकारा जाता है। शुक्ल जी ने करुणा की तीव्रता को जीवन-निर्वाह की सुगमता और कार्य विभाग की पूर्णता का विधान माना है ।[30]

आचार्य शुक्ल का विचार है करुणा द्वारा मानव स्वभाव सात्त्विक बनता है । मानव निरंतर सुख को स्थापना एवं दुख के निवारण में लगा रहता है । दूसरों के कष्ट

एवं दुखों को दूर करना सात्त्विक भाव है और ये भाव मानव को उन्नत बनाते हैं । जैसे किसी प्राणी में करुणा की भावना देखकर उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है । शुक्ल जी ने सात्त्विक शीलवान चरित्र निर्माण के लिए करुणा को अति आवश्यक माना है -- ''मनुष्य के अन्तःकरण में सात्त्विक की ज्योति जगाने वाली यही करुणा है ।''[31] करुणा का मूल भाव दूसरों का दुःख है, इसलिए प्रिय के वियोग से उत्पन्न दुःख में भी करुणा की भावना रहती है । यह दुख प्रिय के सुख की अनिश्चितता के कारण होती है । इसी कारण वियोग-श्रृंगार के अन्तर्गत् करुण विप्रलम्भ को स्थान प्रदान किया गया है ।

सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक है। करुणा द्वारा ही मनुष्य एक-दूसरे की सहायता को तत्पर होते हैं । शुक्ल जी उन पाश्चात्य समाजशास्त्रियों की मान्यता से सहमत नहीं हैं जो यह मानते हैं कि मनुष्य दूसरे की सहायता अपनी रक्षा भावना से ही करता है । शुक्ल जी इसके मूल में करुणा को ही मानते हैं । उन्होंने सहानुभूति को भी करुणा का ही रूप स्वीकार किया है। करुणा में प्रतिदान की भावना नहीं होती । करुणा अपना बीज अपने आलम्बन पात्र में नहीं फेंकती अर्थात् जिस पर करुणा की जाती है वह बदले में करुणा करने वाले पर भी करुणा नहीं करता । जिस पर करुणा की जाती है उसके हृदय में केवल कृतज्ञता, श्रद्धा या प्रेम के भाव उत्पन्न होते हैं । क्रोध और प्रेम तुल्य करुणा प्रतिदान नहीं चाहती ।[32]

शुक्ल जी ''मनोवेग या प्रवृत्ति में ही भावों की तत्परता'' में ही मानव सजीवता के दर्शन करते हैं, जो मनोविकारों का दमन करते हैं । शुक्ल जी उन्हें पाखण्डी मानते हैं । वे इस बात से अत्यन्त दुःखी थे कि मानव अपने हित हेतु भौतिकता अपनाकर अपने सच्चे मनोवेगों को दबा रहा है । उन्होंने यह भी माना है कि जीवन में मनोवेगों

के कार्य करते रहने से मनोवेग नष्ट हो जाते हैं । यह प्रायः आवश्यकता, नियम और न्याय के कारण होता है । अतः ऐसे अवसरों की संख्या बढ़ाना उचित नहीं है । 'करुणा' सेंत का सौदा नहीं है । ऐसा कहकर वे कहते हैं करुणा में त्याग आवश्यक है।

लज्जा और ग्लानि : इस निबन्ध में शुक्ल जी ने मनुष्य को आधार बनाकर लज्जा एवं ग्लानि का वर्णन किया है । मनुष्य सामाजिक प्राणी है अतः उसके विषय में दूसरों की क्या धारणाएँ है ? यह जानने की जिज्ञासा बनी रहती है । लज्जा की परिभाषा देते हुए लिखा है -- "दूसरों के चित्त में अपने विषय में बुरी या तुच्छ धारणा होने के निश्चय या आशंका मात्र से वृत्तियों का जो संकोच होता है - उनकी स्वछंदता के विघात का जो अनुभव होता है -- उसे लज्जा कहते हैं ।"[33] जो हमारी बुराई जानते हैं उसके सम्मुख हम लज्जा का अनुभव करते हैं जिसे इस बात की कोई परवाह नहीं होती वे निर्लज्ज कहलाते हैं । लज्जा में अपनी धारणा प्रमुख न होकर दूसरों के विचार या भाव प्रमुख होते हैं । निन्दा द्वारा भी लज्जा का भय बढ़ता है ।

मनोवृत्तियों में जो संकोच उत्पन्न होता है वह 'ग्लानि' से होता है । इसलिए शुक्ल जी ने लज्जा और ग्लानि में अन्तर दर्शाया है । "अपनी बुराई, मूर्खता, तुच्छता इत्यादि का एकान्त अनुभव करने से वृत्तियों में जो शैथिलय आता है उसे ग्लानि कहते हैं ।"[34] लज्जा अपनी बुराई के प्रति दूसरे की बुरी धारणा पर दृष्टि रखने से होती है जबकि ग्लानि में दूसरे की धारणा आवश्यक नहीं होती । दूसरों के सम्मुख न जाकर लज्जा से बचा जा सकता है ग्लानि से कदापि नहीं । ग्लानि सार्वजनिक रूप से होती है एकान्त में भी । इसके द्वारा अन्तःकरण को शुद्ध किया जाता है ।

जब मनुष्य अपनी बुराई को दूर करने का प्रबल विचार कर लेता है तो इसके तीन मनोविकार उसे बुराई से दूर करते हैं -- सात्त्विक वृत्ति वालों के लिए ग्लानि,

राजसी वृत्ति वालों के लिए लज्जा और तामसी वृत्ति वालों के लिए भय । लज्जा एवं ग्लानि के साथ संकोच का भी उल्लेख इस निबन्ध में है -- ''लज्जा का हल्का रूप संकोच है जो कि किसी काम को करने से पहले ही होता है ।''[35] संकोच की प्रवृत्ति लोगों में बहुत देखी जाती है । शुक्ल जी कहते हैं-- सिर्फ बेवकूफी के समय लोग संकोच नहीं करते और सब बातों में करते हैं ।''[36] संकोच को मन का आभ्यन्तर प्रतिबन्ध कहा जा सकता है जिसके दो भेद हैं -- 1. विवेचनात्मक, 2. स्वभावतः । शुक्ल जी ने बालक एवं स्त्रियों की लज्जा की भी चर्चा की है साथ ही कहाँ कैसी लज्जा हो या न हो इसे भी उद्घाटित किया है अर्थात् संकोच एवं लज्जा की अतिश्यता को अव्यवहारिक माना है। निर्लज्जता एवं संकोचहीनता को बुरा बताया है ।

लोभ और प्रीति : लोभ और प्रीति निबंध में सर्वप्रथम लोभ को परिभाषित करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं -- ''किसी प्रकार का सुख या आनंद देने वाली वस्तु के सम्बंध में मन की ऐसी स्थिति को जिसमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जाग पड़े लोभ कहते हैं ।''[37] इसके दो पक्ष है -- सुखात्मक एवं दुःखात्मक । ''विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर भी लोभ ही वह सात्विक रूप प्राप्त करता है, जिसे प्रेम कहते हैं ।''[38] शुक्ल जी ने लोभ को सामान्योन्मुख एवं प्रीति को विशेषोन्मुख माना है । जब किसी विशिष्ट व्यक्ति को ही प्राप्त करने के इच्छुक होते हैं तब हम उससे प्रेम करते हैं । शुक्ल जी ने वस्तुओं के प्रति लोभ एवं व्यक्तियों के प्रति प्रेम की भावना को लोभ का ही प्रकार माना है । सामान्यतः लोभ का अर्थ धन लोभ से लगाया जाता है । आचार्य शुक्ल ने अर्थ लोभ पर भी दृष्टिपात किया। उनका कहना है - अपने कष्टों को दूर करने हेतु जो लोग धन संग्रह करते हैं उन्हें लोभी नहीं माना जा सकता। वहीं जो अपने भविष्य सुरक्षित करने के नाम धन संग्रह करते हैं उनमें लोभ होता है । लोभी व्यक्ति मानव-मूल्यों से दूर होता जाता है ।

अन्ततः वह सुख एवं आनन्द से भी वंचित हो जाता है ।

लोभ वस्तु एवं व्यक्ति दोनों के प्रति होता है लेकिन जब लोभ वस्तु के प्रति न होकर व्यक्ति के प्रति होता है तो उसे प्रीति या प्रेम कहते हैं । इस प्रेम के दो रूप हैं-- एक एकान्तिक प्रेम और दूसरा लोक व्यापक प्रेम । एकान्तिक प्रेम में दो व्यक्तियों का स्वतंत्र हृदय से सम्बंध रहता है । उनका लोक के व्यापक क्षेत्र से कोई सम्बंध नहीं होता । इसके विपरीत लोक व्यापक प्रेम का जगत् में विस्तार होता है । एक सच्चा प्रेमी भक्त अपने प्रभु का सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त देखकर सम्पूर्ण जगत् से प्रेम करता है । यह प्रेम मन को उत्साहित कर जीवन में आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करता है । ''अपने चारों ओर सौन्दर्य की आभा फैली दिखाई पड़ती है । जिसके पीछे वह बड़े उत्साह और प्रफुल्लता के साथ अपना कर्म सौन्दर्य प्रदर्शित करता है ।''[39]

प्रेम की स्थितियाँ सर्वत्र एक सी नहीं होती । कहीं प्रेम दोनों पक्षों में सम रहता है, कहीं पहले एक के हृदय में उत्पन्न होकर अपने प्रभाव से दूसरों के हृदय में भी प्रेम भावना जागृत कर देता है और कभी-कभी यह विषम ही रहता है । प्रेम का स्वरूप वही सुन्दर माना जाता है जहाँ दोनों पक्षों में तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा हो -- ''दूसरों की ओर द्रवित करने वाली हृदय की कोमल वृत्तियाँ हैं - करुणा और प्रेम । इनमें से प्रेम का पात्र होने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की विशिष्टता अपेक्षित होती है । इससे दूसरे के हृदय में प्रेम उत्पन्न कर सकने का निश्चय किसी को जल्दी नहीं हो सकता । पर दया का पात्र होने के लिए केवल दुःख या पीड़ा का प्रदर्शन ही पर्याप्त होता है।''[40]

शुक्ल जी ने लोभ का उदात्त और व्यापक रूप जिसमें लक्ष्य की एकता एवं अनन्यता होती है, जो प्रेम की चरम सीमा पर पहुँचता है को आदर्श माना है । प्रेम का यह रूप लोक व्यापक है । इसमें संकुचित भावना नहीं होती । यही प्रेम विशुद्ध भक्ति मार्ग की प्रतिष्ठा करने वाला एवं अपने आराध्य तक पहुँचाने वाला है ।

घृणा : यह एक दुःखात्मक मनोविकार है । यह अप्रिय वस्तुओं का साक्षात्कार करने के उपरान्त उत्पन्न होता । यह विकार अरुचिकर वस्तुओं से दूर रहने की प्रेरणा भी देता है । घृणा की परिभाषा -- ''सृष्टि विस्तार के अभ्यस्त होने पर प्राणियों को कुछ विषम रुचिकर और कुछ अरुचिकर प्रतीत होने लगती है । इन अरुचिकर विषयों के उपस्थित होने पर अपने ज्ञान पथ से उन्हें दूर रखने की प्रेरणा करने वाला जो दुःख होता है, उसे घृणा कहते हैं ।''[41]

स्थूल एवं मानसिक ये घृणा के दो विषय हैं -- स्थूल विषयों वाला घृणा का सम्बंध प्रायः तीन ज्ञानेन्द्रियों -- आँख, नाक एवं कान से होता है । इन विषयों से उत्पन्न होने वाली घृणा सबके लिए समान होती है । अप्रिय दृश्य, सुगन्ध व दुर्गन्ध ये सभी पर प्रभाव डालते हैं । मानसिक विषयों की घृणा मन की प्रतिक्रिया और किसी वस्तु के चिन्तन के दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न होती है । विकारों से सभी घृणा करते हैं । शुक्ल जी ने मनोविकारों के प्रेष्य एवं अप्रेष्य दो वर्ग किए है -- ''प्रेष्य वे हैं जो एक के हृदय में पहले के प्रति उत्पन्न होकर दूसरे के हृदय में भी पहले के प्रति उत्पन्न हो सकते हैं । जैसे-क्रोध, घृणा, प्रेम आदि । ..... अप्रेष्य मनोविकार जिसके प्रति उत्पन्न होते हैं उसके हृदय में यदि करेंगे तो सदा दूसरे भावों की सृष्टि करेंगे । इनके अन्तर्गत् भय, दया, ईर्ष्या आदि आते हैं ।''[42]

घृणा मनोविकार हानिप्रद विकार है जिसे शुक्ल जी ने प्रेष्य माना है । इसके विस्तार से सामाजिक हानि होती है । जिससे हम घृणा करते हैं, वह हमसे भी घृणा करता है । अतः इससे अपने को दूर रखना चाहिए ।

ईर्ष्या : ईर्ष्या भी एक प्रकार का दुःख है -- जैसे दूसरों के दुख को देख दुख होता है वैसे ही दूसरों के सुख या भलाई को देखकर भी एक प्रकार का दुख होता हे जिस ईर्ष्या कहते हैं ।''[43] यह इसमें विशुद्ध भाव न होकर कई भावों का संयोग होता है ।

यह आलस्य, अभिमान और निराशा का सम्मिलित रूप है । बच्चों में ईर्ष्या का भाव थोड़ी देर से पनपता है । पशुओं में यह वृत्ति होती नहीं है । ईर्ष्या से ही स्पर्द्धा बढ़ती है क्योंकि ईर्ष्या में व्यक्ति की ओर लक्ष्य रहता है वस्तु की ओर कम । एक अमूल्य वस्तु को दूसरे के पास देख उसे वस्तु को अपना बनाने की तीव्र इच्छा में यह सोचना कि यह वस्तु जहाँ या जिसके पास रहे लेकिन उसके व्यक्ति से दूर हो जाए यह तीव्र भावना ईर्ष्या का ही रूप है ।

ईर्ष्या की अपेक्षा स्पर्द्धा उन्नत मानी जाती है क्योंकि स्पर्द्धा में किसी अन्य वस्तु के सुख, ऐश्वर्य, गुण या मान को देखकर अपनी त्रुटियों की ओर ध्यान जाता है और फिर व्यक्ति उन्हें प्राप्त करने के लिए अनवरत प्रयत्न आरम्भ कर देता है जिससे कालान्तर में उसकी भी उन्नति होती है -- ''स्पर्द्धा में अपनी कमी या त्रुटि पर दुख होता है दूसरे की सम्पन्नता पर नहीं । स्पर्द्धा में दुःख का विषय होता है । मैंने उन्नति क्यों नहीं की और ईर्ष्या में दुःख का विषय होता है, उसने उन्नति क्यों की ?' स्पर्द्धा संसार में गुणी, प्रतिष्ठित और सुखी लोगों की संख्या में कुछ वृद्धि करना चाहती है और ईर्ष्या में कमी ।''[44]

आचार्य शुक्ल ने इर्ष्या का व्यावहारिक विवेचन किया है । उनके अनुसार ईर्ष्या व्यक्ति विशेष से होती है । यह उन्हीं के प्रति होती है जिनके विषय में यह धारणा हो जाती है कि लोगों की दृष्टि हमारे साथ-साथ उन पर भी अवश्य पड़ेगी । ईर्ष्या सामाजिक जीवन की कृत्रिमता से उत्पन्न एक विष है । इसके प्रभाव से हम दूसरे की उन्नति में अपनी हानि होने की संभावना न होने पर भी दुःखी होते हैं । इसमें क्रोध, द्वेष, अभिमान भरा होता है । अतः यह सामाजिक पतन का कारण है ।

भय : शुक्ल जी द्वारा लिखित यह मनोविश्लेषणात्मक निबन्ध है । भय की परिभाषा करते हुए वे लिखते हैं -- ''किसी आती हुई आपदा की भावना या दुःख के साक्षात्कार

से जो एक प्रकार का आवेग पूर्ण अथवा स्तम्भ कारक मनोविकार होता है उसी को भय कहते हैं ।''[45] भय एवं क्रोध की भिन्नता को स्पष्ट करते हुए कहा कि क्रोध दुःख के कारण पर प्रभाव डालने के लिए आकुल रहता है और भय उसकी पहुँच से बाहर जाने के लिए । क्रोध कारण जानने के बाद होता हे लेकिन भय में कारण जानना आवश्यक नहीं है । भय दुःख एवं हानि की आशंका पर निर्भर करता है । भय के दो रूप हैं-- साध्य एवं असाध्य ।

भय के स्वभावगत हो जाने पर व्यक्ति कमजोर बन जाता है, तब वह भीरूता कहलाती है । भीरूता में व्यक्ति को स्वयं पर भी अविश्वास होता है । धर्म भीरूता को भीरूता से अच्छा माना गया है फिर भी बुराइयों से बचने का प्रयत्न करना चाहिए । व्यर्थ की आशंका भी भय से ही होती है । यही आशंका दुःखों का कारण है । मानव अपनी क्षमता अनुसार दुःखो का निवारण करता है । अपने ज्ञान एवं शरीर बल से वह भूत-प्रेत, जंगली पशु आदि के भय से मुक्त हो रहा है लेकिन वर्तमान में उसे सबसे ज्यादा भय मानव से ही लगा रहता है -- ''अब मनुष्यों के दुःख का कारण मनुष्य ही है । सभ्यता से अन्तर केवल इतना ही पड़ा है कि दुःख दान की विधियाँ बहुत गूढ़ और जटिल हो गई हैं । मनुष्य की धोखेबाजी आज भय का सबसे बड़ा कारण बनी हुई है ।''[46]

शुक्ल जी का मानना है जिस प्रकार प्रत्येक प्राणी को सुखी होने का अधिकार है उसी प्रकार भय से मुक्त होने का भी । इसके लिए दो बातों का ज्ञान आवश्यक है । एक तो हम किसी को आतंकित न करें दूसरी यह कि कोई अन्य हमें कष्ट पहुँचाने का साहस न करे । पहले में शील की आवश्यकता है दूसरे में शक्ति की । क्षात्र धर्म की प्रतिष्ठा से ही इस भय से छुटकारा पाया जा सकता है ।

क्रोध : क्रोध का व्यावहारिक विवेचन करते हुए शुक्ल जी ने सामाजिक जीवन के लिए

क्रोध को आवश्यक माना है । मन में यदि क्रोध न उत्पन्न हो तो मनुष्य अपने दुख के कारणों को दूर नहीं कर सकता और हमेशा दुष्टो द्वारा सताया जायेगा । क्रोध का उद्वेग अत्याचार और दुष्ट-दमन की प्रेरणा देता है । चेतन सृष्टि में क्रोध का भाव अति आवश्यक है । क्रोध से सामाजिक जीवन में दुष्टों और अत्याचार के समाप्त होने में सहायता प्राप्त होती है । जब कोई व्यक्ति हमें कष्ट पहुँचाता है और फिर हमें उससे कष्ट प्राप्त करने की संभावना नहीं रहती तो हम बदले में उसे जो कष्ट पहुँचाते हैं वह प्रतिकार कहलाता है । अन्य को दुःख पहुँचाने के लिए जो प्रतिकार किया जाता है शुक्ल जी उसे शुद्ध प्रतिकार नहीं मानते । व्यावहारिक जीवन से क्रोध प्रतिकार रूप में ही होता है । इसमें कभी-कभी लोक-कल्याण की भावना भी निहित रहती है ।

शुक्ल जी क्रोध को सभी मनोविकारों से फुर्तीला मानते हैं क्योंकि अवसर पड़ने पर यह और दूसरे मनोविकारों का साथ देकर उनकी तुष्टि का साधक होता है । कभी वह दया के साथ कूदता है कभी घृणा के ।''[47] क्रोध को प्रेरित करने वाले दो प्रकार के दुःख हैं । पहला अपना दुःख और दूसरा दूसरे का दुःख । जिसे क्रोध में धैर्य का उपदेश दिया जाता है, वह पहले प्रकार के दुःख से उत्पन्न क्रोध है । दूसरे दुःख से उत्पन्न क्रोध बुराई की सीमा से बाहर समझा जाता है । क्रोध को उत्तेजित करने वाला दुःख जितना ही अपने सम्पर्क से दूर होता है उतना ही उस क्रोध का स्वरूप सुन्दर और मनोहर प्रतीत होता है ।

क्रोध, बैर, चिड़चिड़ाहट, अमर्ष आदि मिलते-जुलते मनोविकार हैं, परन्तु इनमें अन्तर है । शुक्ल जी ने बैर को क्रोध का अचार या मुरब्बा कहा है ।[48] जब यही क्रोध लम्बे समय तक हृदय में दबा रहता है, तब वह बैर कहलाता है।[49] क्रोध में तत्काल प्रतिशोध लेने की भावना होती है बैर में अवसर की तलाश रहती है । चिड़चिड़ाहट भी क्रोध का हल्का रूप है । छोटी-छोटी बातों से भी चिड़चिड़ाहट हो सकती है । शुक्ल

जी इसे मानसिक दुर्बलता मानते हैं जो प्रायः वृद्ध एवं रोगियों में होती है । अमर्ष में क्षोभ एवं आवेश होता है ।

क्रोध की सामाजिक उपादेयता सिद्ध करते हुए शुक्ल जी ने इसके विविध रूपों का वर्णन किया । यह शान्ति को भंग करता है इसलिए धर्म-नीति में इसका विरोध भी किया जाता है । इसका निषेध आवश्यक है ।

3. क. II समीक्षात्मक निबन्ध :

शुक्ल जी के समीक्षात्मक निबन्ध भी दो भागों में हैं । 1. सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बंधी निबन्ध 2. व्यावहारिक समीक्षा सम्बंधी निबन्ध ।

1 सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बंधी निबन्ध :

शुक्ल जी द्वारा लिखित सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बंधी निबन्ध हैं -- 1. कविता क्या है 2. काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था 3. साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद 4. रसात्मक बोध के विविध रूप । इन निबन्धों की विषय-वस्तु का प्रतिपादन मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ है । इन निबन्धों में शुक्ल जी ने काव्य को भाव योग मानकर ज्ञान योग के समक्ष प्रतिष्ठित कर उसे जनमात्र के लिए उपयोगी एवं कलयाणकारी सिद्ध किया है । रस-सिद्धान्त और प्रकृति को एक नवीन दीप्ति के साथ काव्य और जीवन में अपनाया है । साधारणीकरण की समस्या को सुलझाकर कला-कला के लिए के समर्थक साहित्यक-सिद्धान्त का खण्डन कर काव्य को जीवन के लिए ही सिद्ध किया है । डॉ. त्रिभुवन राय लिखते हैं -- "नवजागरण की चेतना की ठोस जमीन पर खड़े पं. रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के वह पहले आचार्य चेता चिन्तक हैं जिन्होंने पारम्परिक भारतीय चिन्तन के उदात्त मूल्यों के साथ मनुष्य की प्रतिष्ठा की दृष्टि से उपयोगी एवं ग्राह्य पश्चिम की वैज्ञानिक एवं चिन्तनात्मक अवधारणाओं के आलोक में जीवन एवं साहित्य पर अपेक्षया वस्तुन्मुखी दृष्टि से विचार किया । अपनी विचारणा के उपक्रम में

उन्होंने काव्य को जीवन से सम्पृक्त करके तो देखा ही उसे जीवन का उन्नयनकारी उत्कृष्ट माध्यम के रूप में देखने-परखने की एक अभिनव दृष्टि भी दी ।''[50]

शुक्ल जी के सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बंधी निबंधों की विशेषता है कि इनमें बुद्धि पक्ष का प्राधान्य है । ये निबन्ध गूढ़, गम्भीर चिन्तन से ओतप्रोत हैं । इनमें शुक्ल जी के व्यक्त्वि की झलक मात्र दिखती है और पुनः गायब हो जाती है । ये निबन्ध गम्भीर और क्लिष्ट भले ही हैं, परन्तु अपनी शैली की एक विशेष सजीवता लिए हुए हैं ।

कविता क्या है : भावात्मक अभिव्यक्ति करते हुए ही मानव मानव से कंधा मिलाकर जीवन यापन करता है । जब तक व्यक्ति स्वार्थ वश या मोह वश अपनी एवं अपनी वस्तुओं की देख-रेख करता है तब तक उसका हृदय बद्ध एवं संकुचित रहता है । जब इन संकुचित सीमाओं को त्यागकर वह स्ववृत्ति से ऊपर उठकर चैतन्य मात्र रह जाता है तब उसका हृदय मुक्त हो जाता है । शुक्ल जी हृदय की इसी मुक्तावस्था को रसदशा कहते हैं जिस प्रकार कि आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है । ''हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विचार करती आई है, उसे कविता कहते हैं ।''[51] उन्होंने कविता को भाव-योग मानते हुए उसे कर्म-योग एवं ज्ञान-योग के समकक्ष माना है । ''कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बंधों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है ।''[52]

शुक्ल जी ने इस निबन्ध में कविता के स्वरूप एवं उसकी उपयोगिता का विवेचन किया है । कविता क्या है और उसका किस से क्या सम्बंध है इस विषय में उन्होंने महत्त्वपूर्ण बिन्दु प्रस्तुत किए हैं --

1. कविता बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तः प्रकृति का सामंजस्य कराती है ।

2. यह मनुष्य के भावों का परिष्कार करती है ।

3. सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बंध की स्थापना और निर्वाह करती है।

4. जगत् के मूल रूप व्यापार ही कविता के आलम्बन बन सकते हैं ।

5. कविता संसार के सुख-दुःख आदि को यथार्थ रूप में अनुभव कराती है।

6. कवि बनने के लिए जन्मजात वासनाजन्य संस्कार और सहृदयानुभूति चाहिए । केवल तर्क बुद्धि या विवेचना के बल पर कोई कवि नहीं बन सकता।

7. कविता का लक्ष्य केवल मनोरंजन या चमत्कार प्रदर्शन नहीं होना चाहिए उसका उद्देश्य मानव हृदय को उच्च भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित करना है ।

8. यह कविता बाह्य सौन्दर्य के साथ-साथ अन्तः सौन्दर्य का भी प्रकाशन करती है।

9. सभ्य एवं असभ्य सभी दशा में कविता किसी न किसी रूप में पाई जाती है।

10. कविता मार्मिक पक्षों का उद्‌घाटन करके उनके साथ मनुष्य हृदय का सामंजस्य स्थापित करती है ।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि कविता द्वारा कवि मानव को संसार के सुख-दुःख, आनंद-क्लेश आदि का शुद्ध स्वार्थ-मुक्त रूप में अनुभव कराता है । किसी जाति में ज्ञान-विज्ञान, इतिहास आदि का प्रचार हो न हो, परन्तु कविता का प्रचार किसी न किसी रूप में अवश्य होता है । यह स्वार्थ पूर्ण पशुवृत्ति को हृदय से निकाल फेंकती है। मानव अपने चारों ओर जो सभ्यता के आवरण करता जा रहा है उनको हटाने के लिए कविता की आवश्यकता सदैव रहेगी । कविता मनुष्य जाति के उसके जन्म से ही चली आ रही है और चलती ही रहेगी ।

काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था : प्रस्तुत निबन्ध में शुक्ल जी ने काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था और सिद्धावस्था का विवेचन किया है । ब्रह्म के सत्, चित्

और आनन्द तीन स्वरूपों में काव्य भक्ति के ही समान आनन्द स्वरूप को लेकर चलता है । इस आनन्द अभिव्यक्ति की भी दो (साधनावस्था एवं सिद्धावस्था) अवस्थाएँ हैं । काव्य में कतिपय कवि स्वरुचि अनुसार सिद्धावस्था को ग्रहण कर हर्ष-उल्लास माधुर्य आदि का चित्रण करते हैं, उदाहरणार्थ सूरदास । कुछ कवि साधनावस्था को ग्रहण कर पीड़ा, अन्याय, अत्याचार के दमन की ओर उन्मुख हो काव्य का विषय बनाते हैं, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास ने अपने काव्य में किया है । इस अनुसार काव्य को शुक्ल जी ने दो विभागों में बाँटा है -- 1. आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले 2. आनंद की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाले । डन्टन का शक्ति काव्य साधनावस्था का रूप है । यह काव्य पाठकों के हृदय में भावों की स्थायी प्रेरणा उत्पन्न करता है । जबकि कला काव्य मनोरंजन को ही प्रधान लक्ष्य बनाता है । शुक्ल जी ने कला के महत्त्व को दोनों पक्षों में स्वीकार किया है ।

आनन्द की साधनावस्था : समाज की रक्षा के निमित्त आनन्दमय रूप को लेकर ब्रह्म की शक्ति अवतरित होती है । यह शक्ति राम, कृष्ण समान अवतारी होती है । लोक धर्म का सौन्दर्य ''भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता, प्रचण्डता और मृदुता''[53] परस्पर विरोधी गुणों के सामंजस्य में ही प्रस्फुटि होता है । वाल्मीकि के काव्य को इसी का उद्‌घाटक दिव्य संगीत माना गया है। आनन्द कला के प्रकाश की ओर बढ़ती हुई गति की विफलता में भी सौन्दर्य का दर्शन कराने वाले अनेक कवि हुए हैं । शैली ने 'रिवोल्ट ऑफ इस्लाम' में नायक और नायिका को लोकमंगल में रत दिखाकर भी अन्त में उनकी विफलता का वर्णन किया है । शुक्ल जी का मानना है, सच्चे कवि अधर्म के ऊपर मंगल शक्ति की विजय कर्म-सौन्दर्य द्वारा ही दिखाते हैं । वे कोरा उपदेश नहीं देते । रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं -- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समाज-दृष्टि मूलतः लोक मांगलिक है । ऐसा नहीं है कि उनमें भाषिक संरचना की

कोई दृष्टि नहीं थी, किन्तु उन्होंने सदैव लोक-मंगल पर ही बल दिया है।''[54]

शुक्ल जी अत्याचारी के दमन में ही रूप एवं कर्म का सौन्दर्य देखते हैं । उन्हें टाल्सटाय के अत्याचारी के प्रति भी प्रेम और भातृ भाव प्रदर्शित करने वाले कर्म-सौन्दर्य से विरोध है । कर्म का वास्तविक सौन्दर्य लोकमंगल की साधनावस्था में ही होता है। काव्य का उत्कर्ष मानने का जो एक नया फैशन टाल्सटाय के समय से चला है, वह एकदेशीय है ।''[55] आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी लिखते हैं -- ''शुक्ल जी के लोक धर्म का सिद्धान्त मध्य वर्ग की उन आदर्शात्मक प्रेरणाओं से ओतप्रोत है जो बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण की विशेषता थी ।''[56]

आनन्द की सिद्धावस्था : आनन्द की सिद्धावस्था में दृष्टि प्रयत्न पक्ष पर न रहकर उपभोग पक्ष पर ही रहती है । उपभोग पक्ष में गति की रुचिरता नृत्य-कला आदि में दिखाई पड़ती है । काव्य में आनन्द की सिद्धावस्था वहाँ होती है, जहाँ सब प्रकार के प्रयत्नों की अशान्ति तिरोहित और उपभोग की कला जागृत रहती है । काव्य-भूमि में जहाँ आनन्द अपनी सिद्धावस्था में दिखाई पड़ता है उसका प्रवर्तक प्रेम भाव है । 'प्रेम' आनन्द स्वरूप है । वियोगकाल में सारी अश्रुधारा आनन्द स्वरूप को धो नहीं पाती । प्रेम-कला जीवन का आनन्द काल है । लोक-कल्याण के निमित्त काव्य में प्रयत्न एवं साध्य दोनों पक्षों का विधान आवश्यक है और सत्वगुण से प्रभावित करुणा और प्रेम की प्रकट अथवा अप्रकट भावना द्वारा लोक-मंगल का विधान । उच्च दशा का प्रेम और करुणा दोनों सतोगुण प्रधान है । सत्व गुण के सहायक रज एवं तम हैं । ''सत्व गुण के इस शासन में कठोरता, उग्रता और प्रचण्डता भी सात्विक तेज के रूप में भासित होंगी। इसी से अवतार रूप में हमारे यहाँ भगवान की मूर्ति एक ओर तो व्रजादपि कठोर और दूसरी ओर 'कुसुमादपि मृदु रखी गई है ।''[57]

सत्येन्द्र शर्मा लिखते हैं -- ''आचार्य शुक्ल ने कर्म-सौन्दर्य के प्रकाशन को बहुत

महत्ता दी है । दीन-दुःखियों, पीड़ितों, शोषितों के प्रति कोरी सहानुभूति और उनके प्रेम प्रकट करने में ही कर्म-सौन्दर्य का उद्‌घाटन नहीं होता वरन उपेक्षितों की पक्षधरता ग्रहण करते हुए क्रूर आताताइयों से लोहा लेने में ही कर्म-सौन्दर्य है ।''[58] डॉ. विजयेन्द्र स्नातक लिखते हैं -- 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' शीर्षक निबंध शैली की दृष्टि से बहुत ही पुष्ट निबन्ध है । लोकमंगल की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर काव्य लिखने वाले कवियों तथा सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर काव्य रचना करने वाले कवियों का भेद-प्रदर्शन इस निबन्ध का मूलाधार है ।''[59]

साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद : शुक्ल जी ने साधारणीकरण का समर्थन करते हुए उसके सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष का उद्‌घाटन किया है । किसी काव्य के पठन या श्रवण से उत्पन्न भाव व्यक्ति-विशेष के न होकर मनुष्य मात्र के हृदय पर प्रभाव डालने वाले होते हैं । उस काव्य में व्यक्ति भावों का भी थोड़े-बहुत रूप में अनुभव कर सकते हैं । ''जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्‌बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती । इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है। यह सिद्धांत घोषित करता है कि सच्चा कवि वही है जिसे लोक हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके । इसी लोक हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस दशा है।''[60]

काव्य का वर्णन भाव-प्रदर्शक के साथ ही साथ विभाव विधायक भी होना चाहिए। अर्थात् यदि काव्य किसी के हृदय में स्थित रति भाव का प्रदर्शक तो बन गया परन्तु सर्व साधारण के हृदय में उसी भाव को उत्पन्न करने में असमर्थ । शुक्ल जी ने उसी काव्य को श्रेष्ठ माना जो उक्त दोनों कार्यों का एक साथ सम्पादन करने में समर्थ हो । काव्य का विषय सदा विशेष होता है सामान्य नहीं । आधुनिक कला समीक्षक

इसमें पूर्णतया समर्थ हैं । ''काव्य का काम है कल्पना में बिम्ब या मूर्त भावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार लाना नहीं । बिम्ब जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं ।''[61] अर्थात् काव्य भावना-प्रधान है, विचार प्रधान नहीं । विभावादिक साधारणतया प्रतीत होते हैं परन्तु वे सामान्य के प्रतीक न होकर विशेष की मूर्त भावना उपस्थित करते हैं । साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता की कल्पना में यह व्यक्ति विशेष उपस्थित रहता है, वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का अवलम्बन होती है ।''[62]

साधारणीकरण की उपयोगिता के सम्बंध में शुक्ल जी कहते हैं --

1. साधारणीकरण से हमारी सहानुभूति का क्षेत्र बढ़ जाता है ।
2. मनुष्य दूसरों के साथ भावों का तादात्म्य करना सीख जाता है ।
3. भाव परिष्कृत होकर एक दूसरे से परस्पर सामंजस्य स्थापित करते हैं ।
4. श्रृंगार का जो लौकिक अनुभव विषय का आनन्द है, वह आत्मानन्द या अलौकिक आनन्द का रूप ग्रहण करता है ।
5. रति सात्विकोन्मुखी हो जाती है ।
6. व्यक्ति उत्तरोत्तर विकास पथ पर अग्रसर होता है ।

शुक्ल जी ने साधारीणकरण की उपयोगिता को काव्यानुशीलन की उपयोगिता माना है क्योंकि दोनों में कोई अन्तर नहीं है ।

व्यक्ति वैचित्र्यवाद : शुक्ल जी ने काव्य का मूल उद्देश्य रसाभिव्यक्ति माना है केवल चमत्कार या मनोरंजन नहीं । ''हमारे यहाँ आचार्यों ने श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य दोनों में रस की प्रधानता रखी है, इसी से दृश्य-काव्य में उनका लक्ष्य तादात्म्य की ओर, साधारणीकरण की ओर रहता है ।''[63] पर यूरोप के दृश्य काव्यों में शील वैचित्र्य अन्तः प्रकृति वैचित्र्य की ओर ही प्रधान लक्ष्य रहता है जिसके साक्षात्कार से दर्शक को

आश्चर्य और कुतूहल मात्र की अनुभूति होती है ।''[64] शुक्ल जी इस वैचित्र्य में तीन बातें मानते हैं -- 1. आश्चर्यपूर्ण प्रसादन 2. आश्चर्यपूर्ण अवसादन 3. कुतूहल मात्र।

रसात्मक बोध के विविध रूप : प्रस्तुत निबन्ध 'रस-मीमांसा' के रसात्मक बोध में संगृहीत है । इसमें शुक्ल जी ने रस की व्याप्ति तथा स्वरूप को स्पष्ट करते हुए रस को काव्य की सीमा से उसका प्रत्यक्ष जीवन तक में व्याप्ति दिखाई है । मानव सामाजिक प्राणी है इसलिए उसकी कल्पना का आधार यही वस्तु जगत् है । ''जब हमारी आँखें देखने में प्रवृत्त रहती हैं तब रूप हमारे बाहर प्रतीत होते हैं, जब हमारी वृत्ति अन्तर्मुखी होती है तब रूप हमारे भीतर दिखाई पड़ते हैं । बाहर भीतर दोनों ओर रहते रूप ही हैं।''[65] शुक्ल जी ने तीन प्रकार के रूप विधान माने हैं -- 1. प्रत्यक्ष रूप विधान 2. स्मृत रूप विधान 3. कल्पित रूप विधान । वे सब प्रकार की अनूभूति का मूल प्रत्यक्ष रूप विधान को ही मानते हैं । प्रत्यक्ष से अभिप्राय चाक्षुष ज्ञान के साथ ही साथ शब्द, बन्ध, रस और स्पर्श से भी होता है । प्रत्यक्ष रूप विधान की तरह भूतकाल में प्रत्यक्ष की हुई कुछ वस्तुओं का स्मरण भी कभी-कभी रसात्मक होता है, यह स्मृति-रूप विधान है । स्मृति दो प्रकार की होती है - 1. विशुद्ध स्मृति , 2. प्रत्यक्षाश्रित स्मृति या प्रत्यभिज्ञान। विशुद्ध स्मृति मानव को एक उन्मुख भाव-भूमि में ले जाती है । जबकि ''प्रत्यभिज्ञान में थोड़ा-सा अंश प्रत्यक्ष होता है और बहुत-सा अंश उसी के सम्बंध से स्मरण द्वारा उपस्थित होता है ।''[66]

शुक्ल जी ने कल्पित रूप-विधान का वर्णन भी किया है । कल्पना के दो आधार हैं -- 1. प्राप्त शब्द , 2. शुद्ध अनुमान । वही कल्पना काव्य के लिए प्रयोजनीय है, जो हृदय की प्रेरणा से निसृत हुई हो और हृदय पर प्रभाव डालने में समर्थ हो । कवि एवं श्रोता दोनों में काव्य की पूर्ण अनुभूति के लिए कल्पना का होना वांछनीय है ।

2. व्यावहारिक समीक्षा सम्बंधी निबंध :

व्यावहारिक समीक्षा सम्बंधी तीन निबंध हैं -- 1. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र 2. तुलसी का भक्ति मार्ग 3. मानस की धर्म भूमि। ये तीनों निबन्ध शुक्ल जी की तुलसी, जायसी और सूर पर लिखी विस्तृत आलोचना की परम्परा के निबन्ध हैं । इन निबन्धों में भारतेन्दु एवं तुलसी के समीक्षा सिद्धांतों के अनुसार मूल्यांकन एवं व्याख्या है । शुक्ल जी का काव्य सम्बंधी मत, प्रकृति प्रेम, लोकादर्शवाद, सगुणवाद, लोक जीवन बद्ध प्रेम एवं एकान्तिक प्रेम की तुलना में उत्कृष्टता तथा व्यापकता, रहस्यवाद का खण्डन आदि विचारधाराओं का प्रतिपादन है । विषय प्रतिपादन पद्धति, व्यक्तित्व आदि की दृष्टि से ये निबन्ध मनोविकार सम्बंधी निबन्धों से भिन्न हैं । इनकी शैली व्याख्यात्मक है । उनके निबन्धों में उच्चकोटि की विचारशील स्थापना शक्ति, संवेदनशीलता एवं आदर्श प्रवणता के दर्शन अनायास किए जा सकते हैं । डॉ. रामप्रसाद मिश्र लिखते हैं -- ये तीनों निबन्ध उत्कृष्ट हैं । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पर जितने उत्कृष्ट और गम्भीर निबन्ध शुक्ल ने व्यक्त किए हैं उतने डॉ. रामविलास शर्मा समेत किसी आलोचक ने नहीं ।''[67]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : इस निबन्ध में शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य को भारतेन्दु की देन पर चिन्तन किया है । शुक्ल जी ने भारतेन्दु को युग प्रवर्त्तक माना है, जिन्होंने हिन्दी गद्य के विकास, भाषा-परिष्कार, कविता में नवीन संस्कार आदि करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया । हिन्दी गद्य साहित्य के प्रथम चार लेखकों - मुंशी सदासुखलाल, इंशा अल्लाहखाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र जिन्होंने हिन्दी का नमूना मात्र दिखाया । हिन्दी गद्य साहित्य की अखण्ड परम्परा का प्रवर्त्तन भारतेन्दु से ही हुआ । भारतेन्दु जिस प्रकार वर्तमान गद्य भाषा के स्वरूप के प्रतिस्थापक थे, उसी प्रकार वर्तमान परम्परा के प्रवर्त्तक भी । शुक्ल जी ने भारतेन्दु एवं उसके युग में साहित्य की जो विशेषताएँ थी उन्हें प्रस्फुटित करते हुए कहा --

1. भारतेन्दु ने काव्य भाषा में अप्रचलित शब्दों का बहिष्कार किया ।

2. भारतेन्दु हिन्दी साहित्य में युग प्रवर्त्तक रूप में आये, ''प्राचीन और नवीन के उस सन्धिकाल में बैठी शीतल और मृदुल कला का संचार अपेक्षित था, वैसे ही शीतल और मृदुल कला के साथ भारतेन्दु का उदय हुआ । इसमें सन्देह नहीं।''[68]

3. भारतेन्दु के साहित्य में सबसे ऊँचा स्वर देश भक्ति का है।

4. उन्होंने मानव-प्रकृति का वर्णन किया, परन्तु मानवेतर प्रकृति की ओर उनकी कोई विशेष रुचि नहीं रही ।

5. गद्य एवं पद्य दोनों क्षेत्रों में भारतेन्दु ने क्रान्तिकारी परिवर्तन किए ।

6. आधुनिक हिन्दी निबन्ध, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि के जन्मदाता भारतेन्दु ही हैं ।

शुक्ल जी कहते हैं -- ''बाबू हरिश्चन्द्र अधिकांश भाषा कवियों के समान प्रथम प्रकार के कवियों में से थे ।''[69]

तुलसी का भक्ति मार्ग : शुक्ल जी भक्ति रस का पूर्ण परिपाक तुलसी में मानते हैं । तुलसी की भक्ति की तीन विशेषताएँ हैं -- 1. आलम्बन के प्रति रति 2. आलम्बन का महत्त्व 3. अपना दैन्य । आलम्बन के प्रति रति का प्रस्फुटन उनके आराध्य राम के अनन्त शील, अनन्त शक्ति और अनन्त सौन्दर्य के रूप में हुआ है । तुलसी की भक्ति की यही विशेषता है कि इस भक्ति में लोक व्यवहार से युक्त केवल अपने ही आत्म-कल्याण में मग्न रहने वाले तथा लोक व्यवहार में व्यस्त रहने वाले दोनों ही प्रकार के व्यक्ति भगवान के शील, शक्ति और सौन्दर्य में आनन्द की ज्योति प्राप्त कर सकते हैं । इसमें आत्मोन्नति तथा आत्म कल्याण के साथ-साथ लोक कल्याण और विश्व मंगल की भावना भी होने के कारण संकीर्णता अथवा साम्प्रदायिकता के लिए कोई

स्थान नहीं रह जाता । शुक्ल जी लिखते हैं -- ''सूर और तुलसी को हमें उपदेशक के रूप में नहीं देखना चाहिए । भक्त और भगवान उपदेशक नहीं होते । लोक व्यवहार में मग्न होकर जो मंगल-ज्योति इन अवतारों ने उसके भीतर जगाई उसके माधुर्य का अनेक रूपों में साक्षात्कार करके मुग्ध करना ही इन भक्तों का प्रधान व्यवसाय है ।''[70]

शुक्ल जी ने तुलसी के भक्ति की निम्नलिखित विशेषताएँ दर्शाई हैं --

1. तुलसी ने जगत् के साथ, मानव के सम्बंध, राम के सम्बंध अर्थात् भगवान के सम्बंधों से ही माना है ।
2. तुलसी का भक्ति मार्ग लोकादर्श उपस्थित करने वाला है ।
3. निष्कामता तुलसी भक्ति पद्धति की प्रमुख विशेषता है ।
4. तुलसी ने राम दर्शन हृदय में न करके वन में किए हैं ।
5. रहस्य की प्रवृत्ति को सच्ची भक्ति-भावना में बाधक माना है ।

गोस्वामी तुलसीदास एवं शुक्ल जी के सम्बंध में डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं-- ''शुक्ल जी के कोई आदर्श हिन्दी कवि थे तो वे तुलसीदास थे । शुक्ल जी की जिस रचना में सबसे ज्यादा असंगतियाँ और अन्तर्विरोध हैं, वह तुलसीदास पर उनकी पुस्तक है । साथ ही तुलसी और उनके युग को समझने के लिए जितनी मौलिक स्थापनाएँ यहाँ हैं, उतनी हिन्दी की किसी भी दूसरी आलोचना पुस्तक में नहीं ।''[71]

मानस की धर्म भूमि : इस निबन्ध में शुक्ल जी ने धर्म के उस रूप का चित्रण किया है, जो तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में किया है । शुक्ल जी भक्ति की परिभाषा देते हैं कि -- ''धर्म की रसात्मक अनुभूति का नाम भक्ति है ।''[72] यह धर्म बाह्य के सत्य स्वरूप की अभिव्यक्ति है, जिसकी असीमता का आभास अखिल विश्व की स्थिति में मिलता है । धर्म का साक्षात्कार छोटे क्षेत्र से लेकर समस्त विश्व में व्याप्त है । मानव कर्म क्षेत्र के विस्तार के साथ में जैसे ही ब्रह्म की व्यापक सत्ता के विस्तार का अनुभव

करता है वैसे ही धर्म का विस्तार होता चला जाता है । भक्त सम्पूर्ण जगत् में ब्रह्म के दर्शन करता है, तभी आनन्द का आविर्भाव होता है । क्योंकि तुलसी के राम बहिर्यामी भी हैं।

शुक्ल जी ने धर्म को ऊँची-नीची तीन भूमियाँ मानी हैं -- ''गृह-धर्म, लोक धर्म और विश्व-धर्म ।''[73] इनमें तुलसी ने विश्व-धर्म पर दृष्टि रखने वाला समस्त मनुष्य जाति की रक्षा देखकर आनन्द का अनुभव करता है। तुलसी ने राम-विरोधी को धर्म-विरोधी माना है । भरत के राम को कठोर वचन कहने पर भी तुलसी ने उन्हें धर्म विरोधी नहीं माना क्योंकि भरत ने राम विरोधी से कटु शब्द कहे थे -- ''राम पूर्ण धर्म स्वरूप है ।''[74] गोस्वामी तुलसीदास ने स्पष्ट कहा है कि जिसे राम प्रिय न हों, उसको कोटी बैरी समान छोड़ दो:

जाके प्रिय न राम वैदेही ।

सो नर तजिय कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ।[75]

इस प्रकार धर्म क्षेत्र के विस्तार के अनुरूप ही भक्त अपनी कल्याण भावना का प्रसार करता है । मानव में संकुचित धर्म की अपेक्षा व्यापक धर्म को श्रेष्ठ बतलाया गया है । यही 'मानस की धर्म भूमि' है । भरत और विभीषण इस धर्म भूमि के ज्वलन्त उदाहरण हैं ।

3.ख. चिन्तामणि (द्वितीय भाग) :

शुक्ल जी के संकलित निबन्धों का द्वितीय संकलन 'चिन्तामणि' (द्वितीय भाग) के नाम से प्रकाशित हुआ । डॉ. राम कृपाल पाण्डेय लिखते हैं -- 'चिन्तामणि' (पहला भाग) तो आचार्य शुक्ल के जीवन काल में ही प्रकाशित हो गया था, किन्तु द्वितीय भाग उनके दिवंगत होने के पश्चात सन् 1945 में प्रकाशित हुआ । इसका सम्पादन आचार्य शुक्ल के शिष्य आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने किया । चूँकि द्वितीय भाग का संग्रह

शुक्ल जी स्वयं कर गए थे । अतः सम्पादन का कार्य नाम मात्र रह गया था ।''[76] इस भाग में शुक्ल जी के तीन विस्तृत निबन्ध संकलित हैं - 1. काव्य में प्राकृतिक दृश्य 2. काव्य में रहस्यवाद 3. काव्य में अभिव्यंजनावाद । रामचन्द्र तिवारी ने लिखा है -- ये तीनों निबन्ध उनके विस्तृत अध्ययन और मौलिक विवेचन के साक्षी हैं ।[77] इसका प्रकाशन 'नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी' ने किया । इसमें संकलित तीनों 'निबन्ध' पहले किसी पत्रिका में प्रकाशित हुए या भाषण के रूप में तैयार किए गए थे।

काव्य में प्राकृतिक दृश्य : यह निबन्ध सर्वप्रथम 'माधुरी' पत्रिका के जून-जुलाई संस्करण सन् 1923 में प्रकाशित हुआ था । इस निबन्ध में शुक्ल जी ने अपनी प्रकृति-वर्णन सम्बंधी मान्यताएँ स्थापित की हैं । उन्होंने विविध उदाहरण एवं तर्कों के माध्यम से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि प्रकृति-वर्णन हमारे रति-भाव को जागृत करता है । प्रकृति में रस उद्दीप्त करने की पूर्ण शक्ति है और प्रकृति का प्रयोग उद्दीपन के रूप में ही न होकर आलम्बन रूप में भी होना चाहिए, क्योंकि प्रकृति हमारे रति-भाव का स्वतंत्र आलम्बन हो सकती है । कुँवरपाल जोशी ने लिखा है -- ''शुक्ल जी की दृष्टि में प्रकृति के सुन्दर और असुन्दर समस्त रूपों का चित्रण करने वाला कवि ही सच्चा प्रकृति प्रेमी होता है ।''[78]

निबंध में शुक्ल जी ने संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी, फारसी आदि के प्रसिद्ध कवियों के प्रकृति वर्णन की समीक्षा भी की है । अलंकार एवं रस का वर्णन भी किया है । प्रकृति दर्शन में भी रस-परिपाक माना है -- ''जबकि प्राकृतिक दृश्य हमारे भावों का आलम्बन है तब इस शंका के लिए कोई स्थान ही नहीं रहा कि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कौन-सा रस है ।''[79] यह निबन्ध प्रकृति-वर्णन सम्बंधी सिद्धान्तों, मान्यताओं एवं विचारों को जानने समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी है ।

काव्य में रहस्यवाद : यह निबन्ध पुस्तक आकार में सर्वप्रथम विजयदशमी सं. 1986

वि. तदनुसार सन् 1929 ई. में प्रकाशित हुआ था । इसका प्रकाशन तत्कालीन रहस्यवाद एवं छायावाद सम्बंधी भ्रान्तियों के निवारण के लिए हुआ था । शुक्ल जी ने रहस्यवाद अथवा छायावाद की प्रवृत्ति को विदेशी मानते हुए कहा कि इसके द्वारा काव्य में एर्व-सामान्य के भावों की अभिव्यक्ति का होना सर्वथा असंभव है । डॉ. कमला सिंह के शब्दों में - ''आचार्य शुक्ल एक प्रबुद्ध आलोचक थे । उनकी नीर-क्षीर विवक की प्रकृति अच्छाइयों को ग्रहण करने में सदैव तत्पर रही । वे साहित्य को जन-जीवन के निकट लाना चाहते थे । दुरुह एवं अटपटी शैली भाग्यवाद, निराशावाद, अतिशय रहस्यात्मकता और पश्चिमी कविता के रूझानों से पीड़ित छायावादी काव्य जन-जीवन से बहुत दूर चला गया था । इसी कारण उन्होंने छायावाद की कटु आलोचना की । यहाँ तक की छायावादी प्रवृत्ति के प्रसार से हिन्दी काव्य को बचाने के लिए उन्होंने अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली औषधि के रूप में काव्य में रहस्यवाद ? शीर्षक एक निबन्ध लिखा । इस निबन्ध में उन्होंने अपने साहित्यिक सिद्धान्त, मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त और दार्शनिक सिद्धान्त की समन्वित कसौटी पर आधुनिक हिन्दी काव्यधारा को परखा और यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि तत्कालीन हिन्दी काव्य में प्रचलित रहस्यवाद अथवा छायावाद सम्बंधी कविताएँ काव्य के स्वभाविक स्वरूप को अभिव्यक्त नहीं कर पाती, क्योंकि ये वादग्रस्त रचनाएँ हैं ।''[80]

शुक्ल जी यह भी कहते हैं कि ''मैं रहस्यवाद का विरोधी नहीं । मैं इसे कविता की शाखा विशेष मानता हूँ, पर जो इसे काव्य का सामान्य स्वरूप समझते हैं उनके अज्ञान का निवारण में बहुत ही आवश्यक समझता हूँ ।''[81] छायावादी कविताओं के लाक्षणिक प्रयोग की शुक्ल जी ने प्रशंसा की है । वे स्वाभाविक रहस्य भावना के पक्षधर हैं, लेकिन वाद के विरूद्ध हैं ।

काव्य में अभिव्यंजनावाद : यह निबन्ध एक भाषण के रूप में तैयार किया गया था,

जिसे शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन की साहित्य परिषद् के सभापति पद से इन्दौर में दिया था । इसका प्रकाशन सर्वप्रथम 1935 ई. में किया गया था । सर्वप्रथम इसमें साहित्य की परिभाषा, व्याप्ति, साहित्य के प्रमुख तत्त्व, उसके विविध रूप आदि पर विचार किया गया है । तत्पश्चात् साहित्य की विविध विधाओं-काव्य, समालोचना, नाटक, उपन्यास, कहानी, गद्य काव्य, निबन्ध आदि का वर्णन है । काव्य में विद्यमान अभिव्यंजनावाद की प्रवृत्तियों एवं उसके प्रभाव की समीक्षा प्रस्तुत की है ।

शुक्ल जी ने काव्य के क्षेत्र में प्रचलित कलावाद या अभिव्यंजनावाद के अंधानुकरण का खंडन किया है और भारतीय काव्य-दृष्टि को अपनाने को कहा है । इसी प्रकार समालोचना, नाटक, उपन्यास, कहानी, गद्य काव्य, निबन्ध आदि के क्षेत्र में बहते हुए पाश्चात्य साहित्य के अंधानुकरण का खंडन करते हुए उन वादों एवं साहित्यिक मान्यताओं को अपनाने का सुझाव दिया है, जिनसे अपना साहित्य दृढ़ होता है तथा जो अपने साहित्य की वृद्धि करते हैं । उन्होंने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद द्वारा अपने साहित्य में आये बदलाव एवं प्रभाव की सोदाहरण व्याख्या की है ।

अभिव्यंजना के सही रूप एवं तथ्य को उजागर करना ही इस निबन्ध का बहुत महत्त्वपूर्ण विषय है जिसका शुक्ल जी ने विस्तारपूर्वक विवेचन किया है । अभिव्यंजनावाद के सम्बंध में जयचन्द राय ने लिखा है -- 'अभिव्यंजनावाद' का प्रवर्तन इटली के आलोचक क्रोचे ने किया । शुक्ल जी ने इसका विरोध इन्दौर वाले भाषण में किया । विरोध का मुख्य कारण था कि क्रोचे अद्वैतवादी थे और शुक्ल जी द्वैतवादी। क्रोचे कला को बोध-स्वरूप या ज्ञान स्वरूप मानते थे । शुक्ल जी की दृष्टि में भावना द्वारा नहीं, बुद्धि द्वारा ज्ञान की प्राप्ति सम्भव थी ।'[82]

3.ग. चिन्तामणि (तीसरा भाग) :

'चिन्तामणि' का तीसरा भाग आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अब तक अ[illegible]लित

103935

ऐसे इक्कीस निबंधों का संग्रह है जो पुरानी पत्रिकाओं में बिखरे रहने और अप्राप्य पुस्तकों की भूमिका के रूप में प्रकाशित होने के कारण प्रायः दुर्लभ रहे हैं ।''[83] 'चिन्तामणि' का तीसरा भाग सन् 1983 में प्रकाशित हुआ । प्रकाशित किया राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ने । सम्पादन किया है डॉ. नामवर सिंह ने ।''[84] विषय वस्तु की दृष्टि से निबन्धों को कई भागों में विभाजित किया गया है -- साहित्यिक निबंध, अनूदित निबंध, भाषा सम्बंधी निबंध, भूमिका एवं जीवनी सम्बंधी निबंध, स्वागत भाषण सम्बंधी निबंध ।

3.ग. । साहित्यिक निबंध :

साहित्यिक निबन्धों के अन्तर्गत् निबन्ध रखे गए हैं - कविता क्या है, उपन्यास, क्षात्र धर्म का सौन्दर्य, सभ्यता के आवरण और कविता, प्रेम आनंद स्वरूप है, गद्य प्रबंध के प्रकार, कविता की परख, शेष स्मृतियों की प्रवेशिका ।

कविता क्या है : यह शुक्ल जी का पहला मौलिक निबन्ध है । इसका प्रथम प्रकाशन अप्रैल 1909 की सरस्वती पत्रिका में हुआ था । डॉ. नामवर सिंह लिखते हैं -- यह वही लेख नहीं है जो 'चिन्तामणि' के पहले भाग में संकलित है । इस लेख में इतनी बार परिवर्तन और परिवर्धन हुआ है कि लगता है, शुक्ल जी इसे आजीवन लिखते रहे।''[85] इस निबन्ध में शुक्ल जी ने कविता की उदात्त भावमयी महत्ता को बताते हुए भाषा एवं अलंकार पर मौलिक विचार किया है।

उपन्यास : तीन पृष्ठों का यह निबन्ध नागरी प्रचारिणी पत्रिका में 15 जुलाई, 1910 में प्रकाशित हुआ था । इस निबन्ध की रचना का उद्देश्य तत्कालीन हिन्दी उपन्यास को अस्वभाविक स्तर से उठाकर यथार्थ मार्ग पर लाना था ।

क्षात्र धर्म का सौन्दर्य : ''यह लेख गोरखपुर से पं. दशरथ द्विवेदी के सम्पादन में निकलने वाले 'स्वदेश' के 1 अक्टूबर 1921 के अंक में प्रकाशित हुआ था ।''[86] इस

निबन्ध में शुक्ल जी की कर्म सौन्दर्य एवं वीर भावना के प्रति अनन्य भक्ति उजागर हुई है । रामलीला का विस्तृत वर्णन है, शुक्ल जी की राष्ट्रीय चेतना का आभास भी इसमें मिलता है । शोषण के विरूद्ध भी उन्होंने आवाज उठाई है -- ''किसी अनाथ अबला पर अत्याचार करने पर एक कूट पिशाच को हम उद्यत देख रहे हैं ।''[87]

सभ्यता के आवरण और कविता : यद्यपि यह निबन्ध 'कविता क्या है' निबन्ध का अंतिम रूप है तथापि इसे स्वतंत्र माना गया है । शुक्ल जी का मानना है कि सभ्यता की वृद्धि के साथ ही मूल-भाव छिपते जाते हैं और व्यापारों में बौद्धिक जटिलता बढ़ती जाती है। क्रोध, लोभ, घृणा आदि भावों के विषय अपने मूल रूपों से भिन्न रूप धारण करने लगते हैं । किन्तु जटिल एवं अप्रत्यक्ष रूपों का भी सम्बंध मूल विषयी एवं व्यापारों से अवश्य रहता है । सभ्यता के नाम पर सत्य पर झूठ का पर्दा डालकर झूठ को ही सत्य मानने का नाम सभ्यता का आवरण है । मनुष्य की रागात्मिक वृत्ति से सीधा सम्बंध रखने वाले रूपों को सामने लाने के लिए उसे बहुत से परदों को हटाना पड़ेगा ।''[88] इस आवरण को कवि को अपनी कविता के माध्यम से हटाना होगा ।

प्रेम आनंद स्वरूप है : यह निबन्ध सर्वप्रथम 'प्रेमा' में अप्रैल-मई, 1932 ई. में प्रकाशित हुआ था । शुक्ल जी के अनुसार -- काव्य का अंतिम पर्याय जहाँ आनंद से अपनी पूर्णावस्था प्राप्त करते हैं, उसका प्रवर्त्तक भाव है - प्रेम । इस प्रेम के भी दो भेद हैं -- सुखात्मक एवं दुःखात्मक । दोनों ही रूपों में प्रेम आनंद स्वरूप है । 'प्रेम वास्तव में राग' का ही पूर्ण विकसित रूप है ।''[89] इसी राग के कारण चिरकाल से प्राणियों में प्रेम की परम्परा चलती आ रही है ।

गद्य प्रबन्ध के प्रकार : यह निबन्ध शुक्ल जी ने हाई स्कूल के विद्यार्थियों के लिए लिखा था । भाषा का सम्पूर्ण विकास गद्य में ही संभव है । इसका क्षेत्र अति विस्तृत है। गद्य प्रबन्ध के शुक्ल जी ने वर्णनात्मक, विचारात्मक, कथात्मक, भावात्मक आदि

रूप में कई प्रकार के माने हैं । लेख में लेखक रचा-बसा होना चाहिए ।

कविता की परख : यह निबन्ध भी विद्यार्थियों के लिए लिखा गया था । शुक्ल जी ने कहा - कविता का उद्देश्य है हमारे हृदय पर प्रभाव डालना और जिसमें ये शक्ति नहीं है उसे कविता नहीं कहा जा सकता । कवि कल्पना द्वारा यह प्रभाव दूसरों में डालते हैं - ''इस शक्ति के बिना न तो अच्छी कविता ही हो सकती है, न उसका पूरा आनन्द ही लिया जा सकता ।''[90]

शेष स्मृतियों की प्रवेशिका : यह एक समीक्षात्मक निबन्ध है । इसका प्रारंभिक अंश रस-मीमांसा में रसात्मक बोध के विविध रूप और स्मृत रूप-विधान में भी अन्तर्भुक्त किया गया । यह शुक्ल जी की प्रिय रचना है । इसमें उन्होंने जीवन को रसात्मक बनाने की प्रेरणा दी है । वे जीवन को अखंड मानते थे । उन्होंने अतीत को वर्तमान से जोड़कर अंखडता का अनुभव किया । स्वयं अपने जीवन के अतीत में भी वे झाँकते और उससे उन्हें बल मिलता था । हर व्यक्ति को अतीत की स्मृति लुभाती है, अतीत के पन्नों को वह हृदय में संजोकर रखता है इसलिए हृदय को मुक्ति लोक कहा है जहाँ वह अनेक बंधनों से मुक्त रहता है । शुक्ल जी लिखते हैं -- ''वर्तमान हमें अन्धा बनाए रखता है ; अतीत बीच-बीच में हमारी आँखे खोलता रहता है । मैं तो समझता हूँ कि जीवन का नित्य स्वरूप दिखाने वाला दर्पण मनुष्य के पीछे रहता है, आगे तो बराबर खिसकता हुआ परदा रहता है ।''[91]

3.ग. II अनूदित निबन्ध :

चिंतामणि भाग तीन में शुक्ल जी द्वारा अनूदित दो निबन्ध संकलित हैं -- 1. साहित्य 2. कल्पना का आनन्द । शुक्ल जी के अनुवाद के विषय में कमला प्रसाद द्विवेदी लिखती हैं -- हिन्दी के उन्नायकों में आचार्य शुक्ल का शीर्ष स्थान है । निबन्ध, समीक्षा और इतिहास के क्षेत्र में जिस प्रकार उन्होंने एक रिक्त खाई को पाटने का

प्रयास किया, उनका वैसा ही योगदान अनुवाद के क्षेत्र में भी रहा है । हिन्दी के तत्कालीन अभावों की पूर्ति में उनके अनूदित साहित्य का योगदान महत्त्वपूर्ण है । शुक्ल जी का अनूदित वाङमय हिन्दी जगत् में व्यापक रूप से समादृत और चर्चित हुआ ।''[92] शुक्ल जी ने अनुवाद कभी अक्षरशः नहीं किया । उन्होंने मूल कृति की भाषा को परिवर्तित एवं परिवर्द्धित करके हिन्दी की अमूल्य धरोहर बना दी है ।

साहित्य : सर्वप्रथम यह निबन्ध सन् 1904 की सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। यह निबन्ध अंग्रेजी के साहित्यकार न्यूमैन के 'लिटरेचर' नाम का लेख के आधार पर लिखा गया था। इसमें साहित्य की भाव-सम्पदा और उच्च सांस्कृतिक महत्ता पर बल दिया गया है। साहित्य उन श्रेष्ठ मनुष्यों की शिक्षा और वार्ता है जिन्हें अपनी जाति के प्रतिनिधि रूप में बोलने का अधिकार प्राप्त है और जिनके शब्दों में उनके स्वदेशीय गुणों से बँधकर अपने-अपने भावों का प्रतिबिम्ब देखते हैं और अपने अनुभव के सारांश का पता लगाते हैं ।''[93]

शुक्ल जी इस निबन्ध में साहित्य और कविता की मनुष्यता की उच्च भाव-भूमि पर पहुँचे हैं । यहीं से उन्होंने कोरे शब्द चमत्कार या अलंकरण का विरोध करना आरंभ किया । उन्होंने भारतीयकरण या हिन्दीकरण के प्रयास में कालिदास, तुलसीदास, शेक्सपीयर आदि कवियों का भी उल्लेख किया, उससे यह सिद्ध होता है कि शुक्ल जी की मानसिकता आरंभ से ही महाकाव्य की उदात्त और व्यापक मानसिकता रही है । डॉ. नामवर सिंह लिखते हैं -- ''शुक्ल जी के सामने साहित्य का यही ऊँचा आदर्श था और कहने की आवश्यकता नहीं कि वे हिन्दी साहित्य को सदियों की रीतिवादी शब्द-क्रीड़ा से मुक्त करके इसी महान लक्ष्य की ओर उन्मुख करने के लिए तत्पर थे ।''[94]

कल्पना का आनन्द : यह निबन्ध एडिसन के प्लेजर्स ऑफ इमैजिनेशन (Pleasures

of Imagination) का अनुवाद है । इसका प्रकाशन सन् 1905 की नागरी प्रचारिणी पत्रिका में धारावाहिक रूप में हुआ था । यह शुक्ल जी के रसात्मक बोध के विविध रूप, काव्य में प्राकृतिक दृश्य आदि निबन्धों की पृष्ठभूमि है । इस 'साहित्य' शीर्षक से पहले लिखा गया था लेकिन इसका प्रकाशन बाद में हुआ । शुक्ल जी ने अपनी मानसिकता अनुरूप ही ऐसे अंग्रेजी निबन्धों को अनूदित किया जो उनकी साहित्यिक मान्यताओं से मेल खाते थे ।

इस निबन्ध से शुक्ल जी की प्रत्यक्षानुभूति को आनन्दानुभूति मानने की धारणा पुष्ट हुई है । एडिसन ने प्रत्यक्ष-रूप-विधान के सौन्दर्य को कल्पना का आनन्द कहा है-- कल्पना के आनन्द से मेरा अभिप्राय उस आनन्द से है जो दृश्य पदार्थों से प्राप्त होता है ।''[95] एडिसन की तरह शुक्ल जी ने भी इन्द्रिय ज्ञान या दृष्टि अर्थात् प्रत्यक्ष या प्राकृत-रूप-विधान को ही कल्पना के आनन्द का आधार माना है । शुक्ल जी द्वारा मूर्त बिम्बों को रस के आलंबन का आधार मानना भी इसी कल्पना का आनंद से शुरु हुआ । इसी निबंध के आधार पर शुक्ल जी ने प्रकृति के स्वतंत्र आलम्बनगत रूप चित्रण को महत्त्व प्रदान करते हुए प्रकृति के साधारण दृश्यों में आनन्द अनुभव किया ।

3.ग. III भाषा सम्बंधी निबन्ध :

भाषा सम्बन्धी चार निबन्ध चिन्तामणि (तीसरा भाग) में संकलित हैं --

1. अपनी भाषा पर विचार
2. हिन्दी की पूर्व एवं वर्तमान स्थिति
3. हिन्दी और हिन्दुस्तानी
4. बुद्धद्धचरित की भूमिका

अपनी भाषा पर विचार : इस निबन्ध में शुक्ल जी ने भाषा के सर्जनात्मक पक्ष पर ध्यान दिया है । उन्होंने राजा शिव प्रसाद की मुसलमानी हिन्दी का विरोध करते हुए भारतेन्दु

द्वारा हिन्दी के वास्तविक रूप को प्रचलित करने की प्रशंसा की है । उर्दू-फारसीनुमा हिन्दी या हिन्दुस्तानी का विरोध किया है -- हम हिन्दी हैं, हिन्दुस्तान हमारा देश है, हिन्दी हमारी भाषा ।[96] भाषा की ज्यंजक शक्ति क दो आधार -- शब्द-विस्तार और शब्द-योजना का हिन्दी के सन्दर्भ में महत्त्व प्रतिपादित किया है ।

हिन्दी की पूर्व एवं वर्तमान स्थिति : यह निबन्ध नागरी प्रचारिण पत्रिका - भाग - 5, मार्च, 1915 में प्रकाशित हुआ था । इसमें हिन्दी की स्थिति क्या थी ? अब कैसी है ? तथा देश की अन्य भाषाओं के साथ इसका कैसा सम्बंध है आदि विषयों पर प्रकाश डाला है । उन्होंने भाषा के अधिकाधिक प्रचार पर बल दिया है । अपने भाषा में अपने शब्दों का प्रयोग हो इस पक्ष पर भी बल दिया है ।

हिन्दी और हिन्दुस्तानी : इसका प्रकाशन नागरी प्रचारिणी पत्रिका में 1995 वि. को हुआ था । प्रथम शुक्ल जी ने फैजाबाद के प्रान्तीय सम्मेलन में इसका पाठ किया था । 'हिन्दी और हिन्दुस्तानी' प्रश्न पर अपना अभिमत प्रस्तुत किया है । उनके अनुसार वही भाषा ग्रहण योग्य होनी चाहिए जिसे साधारण लिखा-पढ़ी आदि के लिए भी प्रयोग किया जाता हो । उर्दू-संस्कृत के प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग हो ।

बुद्धचरित की भूमिका : यह निबन्ध मौलिक रचना न होकर अनूदित रचना है । शुक्ल जी ने सर एडविन आरनोल्ड द्वारा लिखित - 'लाइट ऑफ एशिया' का अनुवाद ब्रजभाषा में किया है । अध्ययन में यह अनूदित न हो मूल कृति सी प्रतीत होती है । इस सम्बंध में शुक्ल जी लिखते हैं -- ''यद्यपि इसका ढंग ऐसा रखा गया है कि एक स्वतंत्र काव्य के रूप में इसका ग्रहण हो पर साथ ही मूल पुस्तक के भावों को स्पष्ट करने का भी पूर्ण प्रयत्न किया गया है ।''[97]

आचार्य शुक्ल केवल साहित्य और साहित्यशास्त्र के ही ज्ञाता न थे । वे भाषाविद् और भाषावैज्ञानिक भी थे । बुद्धचरित की भूमिका में हिन्दी भाषा के सम्बंध

जो विवेचना शुक्ल जी ने की है उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने विभिन्न कालीन हिन्दी साहित्य का भाषापरक अध्ययन बड़ी पैनी दृष्टि से किया है । जगदीश वाजपेयी लिखते हैं -- ''बुद्ध चरित आधुनिक ब्रजभाषा काव्य को उन आचार्य शुक्ल की एक अनुपम देन है, जो मुख्य रूप से गद्य लेखक, विशेष रूप से मूर्धन्य समीक्षक तथा श्रेष्ठ निबंधकार के रूप में प्रख्यात हैं ।''[98]

3.ग. IV भूमिका एवं जीवनी सम्बंधी निबन्ध :

चिन्तामणि के तीसरे भाग में भूमिका विषयक दो निबंध हैं -- विश्व प्रपंच की भूमिका और शशांक की भूमिका । जीवनी विषयक चार निबंध हैं --

1. बाबू काशीनाथ 2. फ्रेडरिक
3. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी 4. हिन्दी प्रेमघन की छायास्मृति ।

विश्व प्रपंच की भूमिका : डॉ. नामवर सिंह लिखते हैं -- ''भूमिकाओं में सबसे लम्बी और आचार्य की जीवन-दृष्टि की संभवतः आधारशिला विश्व प्रपंच की भूमिका है जो एक अरसे तक बहुत कुछ दुर्लभ रही है ।''[99] शुक्ल जी का विज्ञान सम्बंधी व्यवस्थित चिंतन इस निबन्ध में मिलता है, जो उस युग का ही नहीं वर्तमान का भी अप्रतिम निबन्ध है । भगवानदीन मिश्र ने लिखा है -- ''सन् 1920 में रचित 'विश्व प्रपंच' शीर्षक कृति अर्नस्ट हैकल की कृति 'दि रिडल ऑफ दि यूनिवर्स' (मूल जर्मन 1899 ई.) का अनुवाद है । इसकी भूमिका के ज्ञातव्य से न केवल शुक्ल जी के उद्देश्य का पता चलता है अपितु उनकी अनुवाद कला का संकेत भी हैं ।''[100]

शुक्ल जी यह जानते थे कि विज्ञान की पुस्तक धार्मिक क्षेत्र में खलबली मचाती है । यहाँ धर्म की प्रतिगामी भूमिका स्पष्ट है कि उसने हमेशा विज्ञान से बैर रखा है । वैज्ञानिक विश्व दर्शन से धर्म की कभी पट ही नहीं सकती । पोप और पादरियों ने हमेशा विज्ञान का विरोध एवं वैज्ञानिक का दमन किया है । पश्चिम में मध्यकालीन

मूल्यों से वैज्ञानिकों और विचारकों को कड़ा संघर्ष करना पड़ा । जिसके प्रमाण गैलिलियों, ब्रनो और डार्विन हैं । इस संघर्ष की अनुगूँज शुक्ल जी के मस्तिष्क में कहीं न कहीं अवश्य रही है । उनका चिन्तन सही है कि गत शताब्दी के वैज्ञानिक विकास ने जगत् के सम्बंध में लोगों की धारणाएँ बदली और छोटी-छोटी बातों का कारण ईश्वर नहीं रह गया । विज्ञान के प्रभाव से ही शुक्ल जी ज्ञान प्रसार के भीतर भाव प्रसार मानते हैं ।[101]

शशांक की भूमिका : शशांक की भूमिका बंगला उपन्यासकार राखालदास बंधोपाध्याय का अनुवाद है ।इस उपन्यास में प्राचीन भारत वर्ष के इतिहास की सम्पूर्ण जानकारी दी गई है । गुप्त वंश का आरंभ तथा इस वंश के राजाओं का काल क्रमानुसार परिचय है । इन्हीं में से एक राजा थे शशांक । शशांक के विषय में शुक्ल जी लिखते हैं-- इस प्रकार ऐतिहासिक अनुमान तो शशांक को गुप्त वंश का मानकर ही रह जाता है। पर इस उपन्यास के विज्ञ पुरातत्त्वदर्शी लेखक शशांक को महासेन का ज्येष्ठ पुत्र और माधव गुप्त का बड़ा भाई मानकर चले हैं । यदि कोई उपन्यास लेखक ऐसा मानकर चलता तो हम कोरी कल्पना कहते । जिसे उपन्यास या नाटक लिखने वाले प्रायः अपने अधिकार के भीतर समझते हैं - पर राखालदास ऐसे पुरातत्त्व व्यवसायी के इसे मानने को हमें अनुमान कोटि के भीतर ही रखना पड़ता है ।''[102] ''शशांक की भूमिका लिखकर रामचन्द्र शुक्ल ने केवल इतिहास-बोध का ही परिचय नहीं दिया बल्कि अपनी पैनी दृष्टि से गुप्त साम्राज्य की उत्पत्ति से हर्ष तक और उसके साथ ही मालवा, मगध और गौर प्रदेश के इतिहास पर प्रकाश डाला है ।'[103]

बाबू काशीनाथ खत्री : इस निबन्ध में आचार्य शुक्ल ने बाबू काशीनाथ खत्री का विस्तृत साहित्यिक परिचय दिया है । शुक्ल जी बाबू काशीनाथ की हिन्दी सेवा से बहुत प्रेरित थे। उनके विषय में लिखा है -- ''कर्तव्यनिष्ठा, सदाचार तथा लोकहित ही का

मार्ग ढूँढ़ने को इनकी लेखनी उठती थी, चाहे वह मार्ग शुष्क और नीरस सहारा के रेगिस्तान से गया हो, चाहे शीतल सलित सिंचित हरे-भरे उद्यानों से ।''[104]

फ्रेडरिक पिन्काट : इस निबन्ध में फ्रेडरिक पिन्काट के जीवन एवं व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है । यूरोपीय विद्वान को महत्त्व देने का सबसे बड़ा कारण था उन्होंने हिन्दी को हिन्दुस्तान की सर्वप्रधान भाषा मानकर हिन्दी का समर्थन किया था । आचार्य शुक्ल फ्रेडरिक पिन्काट के विषय में लिखते हैं -- ''यूरोपियन लोगों में हिन्दी लिखने की योग्यता पहले-पहल इन्होंने प्राप्त की । उनकी भाषा की त्रुटियों पर ध्यान देने के पहले इस बात का विचार कर लेना चाहिए कि ये विदेशी थे और हिन्दी भाषा उस समय क्या, अब तक इस योग्य बन सकी है, कि कोई विदेशी उसे पूर्ण रूप से सीख सके।''[105]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी : यह निबन्ध चिन्तामणि भाग - 1 में प्रकाशित निबन्ध भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का प्रथम प्रारूप है । निबन्ध के आरंभ में ही शुक्ल जी लिखते हैं -- ''हिन्दी की वर्तमान गति का आरंभ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की लेखनी ही से है। इनके पूर्व हिन्दी का प्रवाह किस ओर को था और इन्होंने उसे किस ओर फेरा यही दिखलाने का यत्न इस लेख में किया जायेगा ।''[106] शुक्ल जी ने भारतेन्दु जी के हिन्दी भाषा के लिए किए गए सत्प्रयासों का उल्लेख इसमें किया गया है ।

प्रेमघन की छायास्मृति : यह शुक्ल जी का आत्म संस्मरणात्मक निबंध है । बाल्यावस्था की मधुर स्मृतियों तथा प्रेमघन की रचनाओं से आकृष्ट हो, उनसे मिलने आदि का सुन्दर वर्णन है । प्रेमघन जी के संपर्क से उन्होंने क्या सीखा, प्रेमघन जी की रइसी, वाक पटुता आदि का रोचक वर्णन किया है ।

3.ग. V स्वागत भाषण सम्बंधी निबन्ध :

चिन्तामणि तीसरा भाग के अंतिम निबन्ध का शीर्षक है -- 'स्वागत भाषण' ।

यह भाषण सन् 1939 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के काशी अधिवेशन की साहित्य परिषद् के स्वागताध्यक्ष के रूप में पढ़ने के लिए तैयार किया गया था । इस भाषण का अधिकांश भाग हिन्दी साहित्य के इतिहास में समाविष्ट किया गया है । यह भाषण शुक्ल जी के व्यक्तित्व की झलक दिखलाता है । हिन्दी की विविध विधाओं का परिचय भी इसमें दिया गया है ।

3.घ. तात्त्विक विवेचन :

हिन्दी निबन्ध के क्षेत्र में शुक्ल जी का योगदान अद्वितीय है । शुक्ल जी से पूर्व भी निबन्ध लिखे जा चुके थे, किन्तु उनके विषय वही घिसे-पिटे थे । उनमें कोई नवीनता नहीं थी । शुक्ल जी ने इस क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित की । नवीन विषयों पर निबन्ध लिखे । उनकी निबन्ध सम्बंधी मान्यताएँ अपनी निजी थीं । यों तो आधुनिक निबन्ध साहित्य पश्चिम से प्रभावित है और शुक्ल जी के निबन्धों में भी पाश्चात्य मान्यताओं की सत्ता दिखाई पड़ती है, फिर भी उनके निबन्धों में निजी मान्यतायें अधिक हैं । शुक्ल जी ने जितने भी निबंध लिखे वे सभी परिष्कृत, परिमार्जित, परिनिष्ठित एवं उत्कृष्ट हैं । कालात्मकता के साथ-साथ निबन्ध का आदर्श प्रस्तुत करने में वे सक्षम एवं समर्थ हैं । बुद्धि, अभुभूति, कल्पना, अंह एवं शैली तत्त्व के आधार पर उनके निबंधों की विवेचना की गई है ।

3.घ. I बुद्धि-तत्त्व :

शुक्ल जी के प्रायः सभी निबन्ध विचार-प्रधान हैं । अतः इनमें बुद्धि तत्त्व अपनी प्रौढ़ता, गहनता एवं उत्कृष्टता के साथ अभिव्यक्ति हुआ है । इसी के आधार पर निबन्धों में जब विचारों का स्वरूप उपस्थित होता है, तब उनकी आन्तरिक एवं बाह्य भाव-व्यंजना के अन्तर्गत् एक अद्‌भुत सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है । विचार एक के पश्चात् दूसरे इस प्रकार व्यक्त होते हैं कि विचारों की श्रृंखला बन जाती है । विचार

शक्ति का संघटन इतनी गुस्ता एवं महत्ता के साथ निबन्ध-सृष्टि में योग प्रदान करता है। जिस प्रकार श्रद्धा-भक्ति में प्रथम श्रद्धा का पूर्ण विवेचन तत्पश्चात् प्रेम एवं श्रद्धा का अन्तर दर्शाया गया है । लज्जा-ग्लानि में लज्जा का विवरण, क्रोध का वर्णन । मनोविकार सम्बंधी निबन्धों की परिभाषा एवं विश्लेषण - में बुद्धि-तत्त्व का प्राधान्य दिखता है । समीक्षात्मक निबन्धों में भी शुक्ल जी का जो गहर-मनन चिन्तन है वही, वहाँ उनके बुद्धि-तत्त्व का अद्‌भुत कौशल दृष्टिगोचर होता है । डॉ. राम प्रसाद मिश्र लिखते हैं -- ''शुक्ल जी के प्रायः सभी निबंधों में उच्च कोटि की विचार शीलता, स्थापना शक्ति संवेदनशीलता एवं आदर्श प्रवणता के दर्शन अनायास ही किए जा सकते हैं । उनके निबन्धों में बुद्धि और हृदय तथा विषय और व्यक्ति का अद्वितीय समन्वय प्राप्त होता है। विचारात्मक निबन्धकार की दृष्टि से शुक्ल जी हिन्दी या भारत के ही नहीं समग्र विश्व के एक अग्रणी साहित्य द्रष्टा हैं ।''[107] काव्य एवं कविता का वर्णन करते समय यह तत्त्व पूर्णतः विद्यमान रहा है ।

योगेन्द्र प्रताप सिंह ने लिखा है -- आचार्य शुक्ल के मन में साहित्य के बहुआयामी स्वरूप के अंतरंग विश्लेषण की चिन्ता थी जिसमें अंतरंगता के रूप में समग्र सामाजिक संघर्ष की स्थिति किसी भी पारम्परिक उदात्तता से न जुड़कर मात्र सामयिक जीवन की अभिव्यक्ति के विविध व्यवहारों से जुड़ी थी ।''[108] इस प्रकार शुक्ल जी के निबन्धों में बुद्धि-तत्त्व अपनी पूर्ण गरिमा एवं महिमा के साथ प्रतिष्ठित होकर उनके चिन्तन एवं उत्कृष्टता को व्यक्त कर रहा है । बुद्धि-तत्व के कारण शुक्ल जी के निबन्ध विचार जगत् की अद्‌भुत एवं अनुपम निधि कहलाते हैं ।

3.घ ॥ अनुभूति-तत्त्व :

आचार्य शुक्ल के निबंधों में जिस प्रकार बुद्धि-तत्त्व अपनी गुरुता एवं गम्भीरता के साथ विद्यमान है, उसी प्रकार अनुभूति-तत्त्व भी अपनी प्रांजलता के साथ विद्यमान

है। सभी मनोविकार सम्बंधी निबन्ध उनकी अनुभूति के परिचायक हैं । सभी निबन्धों में वैयक्तिक एवं सामाजिक अनुभूति व्यक्त हुई है । 'उत्साह' निबन्ध में उनकी तीव्र अनुभूति इस प्रकार अभिव्यक्त हुई है -- "जिस व्यक्ति या वस्तु पर प्रभाव डालने के लिए वीरता दिखाई जाती है उसकी ओर उन्मुख कर्म होता है और कर्म की ओर उन्मुख उत्साह नामक भाव होता है ..... समुद्र लाँघने के लिए जिस उत्साह के साथ हनुमान उठे हैं उसका नाम समुद्र नहीं, समुद्र लाँघने का विकट कर्म है । कर्म-भावना ही उत्साह उत्पन्न करती है, वस्तु या व्यक्ति की भावना नहीं।"[109] व्यंग्य चित्रण, प्रकृति-चित्रण, व्यक्तित्व चित्रण आदि में उनकी गहन अनुभूति दिखाई पड़ती है।

3.घ. III कल्पना-तत्त्व :

शुक्ल जी स्वयं कल्पना को भावना मानते हैं -- "जो वस्तु हमसे अलग है, हम से दूर प्रतीत होती है, उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही उपासना है । साहित्य वाले इसी को भावना कहते हैं और आजकल के लोग कल्पना । जिस प्रकार भक्ति के लिए उपासना या ध्यान की आवश्यकता होती है उसी प्रकार भावों के प्रवर्त्तन के लिए भी भावना या कल्पना अपेक्षित है ।"[110] शुक्ल जी के अनुसार कल्पना तत्त्व द्वारा उन वस्तुओं, भावी व्यापार या कार्यों को मूर्ति मन में लाकर हमें उनके सामीप्य का अनुभव कराया जाता है, जो हम से दूर होती है । इस क्षेत्र में शुक्ल ने अपने कितने ही प्रयोग किए हैं । जैसे -- क्रोध में, चाणक्य का क्रोध, प्रेम में सीता की निश्चिंतता लोभ का मोहक दृश्य है । साहित्यिक निबन्धों, भूमिका एवं जीवनी से सम्बंधित निबन्धों में भी कल्पना के चित्र अंकित हैं । अपनी पूर्ण कुशलता के साथ कल्पना-तत्त्व का समावेश शुक्ल जी ने अपने निबन्धों में किया है ।

3.घ. IV अहं तत्त्व :

अपने व्यक्तित्व को निबन्ध में समावेश करने हेतु निबन्धकार अहं-तत्त्व का सहरा

लेता है । शुक्ल जी का व्यक्तित्व उनके निबन्धों में झलकता है । उनके निबन्धों में जो गंभीरता, प्रांजलता, गुरुता एवं गहनता है । उसका कारण शुक्ल जी का गंभीर व्यक्तित्व है । अहं तत्त्व शुक्ल जी के निबन्धों में विविध प्रकार से अभिव्यक्त है । कभी तो यह वैयक्तिक रूप में व्यक्त है तो कभी सामूहिक रूप में । वैयक्तिक -- ''मेरे विचार में तो सदा सत्य बोलना, बड़ों का कहना मानना'' आदि नियम के अन्तर्गत् आते हैं, शील या सद्भाव के अन्तर्गत् नहीं ।''[111] सामूहिक – देश की वर्तमान दशा के वर्णन में हम केवल इस प्रकार वाक्य कहते जायें कि ''हम मूर्ख, बलहीन और आलासी हो गए हैं ..... ।''[112] यह अहं तत्त्व शुक्ल जी के गम्भीर व्यक्तित्व का द्योतक है ।

3.घ. V शैली - तत्त्व :

शुक्ल जी के निबंध आकर्षक, मनोरंजक, रोचक एवं प्रभावोत्पादक है । इसका कारण है निबन्धों में शैली तत्व का अत्यन्त प्रौढ़ता एवं प्रांजलता के साथ प्रयोग करना। इस तत्व के अन्तर्गत् भाषा-रचना, अलंकार, उक्ति वैचित्र्य, व्यंग्य आदि आते हैं । सर्व विदित है शुक्ल जी ने शुद्ध परिनिष्ठित भाषा का प्रयोग किया है जिसमें तत्सम शब्दों की बहुलता है । उनकी शैली सूत्रात्मक है । सूत्र रूप में कितने ही गूढ़ एवं गम्भीर वाक्यों का प्रणयन किया है -- प्रेम में घनत्व अधिक और श्रद्धा में विस्तार''[113] यदि प्रेम स्वप्न है, तो श्रद्धा जागरण,[114] आदि कहीं-कहीं शुक्ल जी ने समासान्त पदावली का प्रयोग करते हुए कवित्व मयी अलंकृत भाषा-शैली का भी प्रयोग किया है । उक्ति चमत्कार का प्रयोग भी हुआ है । व्यंग्य के प्रयोग से शैली रोचक एवं आकर्षक बन गई है -- ''जो तुलसी, सूर आदि भारतीय पद्धति के भक्तों में भी रहस्यवाद सूँघा करते हैं, उन्हें रहस्यवाद के स्वरूप का अध्ययन करना चाहिए ।''[115] अलंकारों का सफल प्रयोग अपने निबन्धों में किया है । अलंकारों में उपमा, रूपक आदि अलंकारों का विषयानुकूल

प्रयोग हैं -- मनुष्य विश्व-विधान का एक क्षुद्र चेतन अंश है ।''[116] लोकोक्ति एवं मुहावरों के प्रयोग ने निबन्धों को बोधगम्य एवं सरल बनाया है । इस प्रकार शुक्ल जी ने शैली-तत्त्व द्वारा निबन्धों में रोचकता लाने का प्रयास किया है साथ ही उन्हें समृद्ध, सम्पन्न एवं सम्मुन्नत बनाया है ।

शुक्ल जी के निबन्धों की तात्त्विक विवेचनोपरान्त निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि उनके निबन्धों में जीवन और जगत् के विविध विषयों के साथ साहित्यिक क्षेत्र के विविध पहलूओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार व्यक्त हुए हैं । ये निबन्ध मनोविकारों की व्यावहारिक समीक्षा प्रस्तुत करने में पूर्णतः समर्थ हैं । मनोभावों के सजीव चित्रण के साथ व्यावहारिक जीवन का मोहक रूप प्रस्तुत किया है । शुक्ल जी के निबन्ध व्यंग्य-विनोद के पुट सहित उनके व्यक्तित्व की गम्भीरता दर्शाते हैं । जहाँ मनोवैज्ञानिक निबन्धों में चिन्तन पद्धति है वहीं समीक्षात्मक निबन्धों में विषय प्रधानता है । साथ ही उनमें नैतिकता, आदर्शवादिता भी है । दर्शन, साहित्यशास्त्र, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र एवं धर्मशास्त्र के साथ मानव जीवन को सार्थक बनाने वाले मनोभावों की तात्त्विक समीक्षा की गई है । प्रकृति की मनोरमा छटा उकेरी गई है । व्यंग्य-विनोद द्वारा निबन्ध-कला को रोचक एवं मनोरंजक बनाने का प्रयास किया गया है । निबन्ध-कला की एक नई धारा का प्रवर्त्तन हुआ है । अतः शुक्ल जी के निबन्ध हिन्दी-साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं ।

संदर्भ :

1. काव्य के रूप : गुलाबराय, पृ. 45
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रामचन्द्र तिवारी, नृ. 36
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 238
4. वही, पृ. 242
5. चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुकल, पृ. 178
6. वही, , पृ. 177
7. वही, पृ. 5
8. वही, पृ. 178
9. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना : डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 191
10. चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 1
11. वही, पृ. 1
12. वही, पृ. 200
13. वही, पृ. 3
14. वही, पृ. 3
15. वही, पृ. 3
16. वही, पृ. 4
17. वही, पृ. 5
18. वही, पृ. 5
19. वही, पृ. 5
20. वही, पृ. 204
21. वही, पृ. 7
22. वही, पृ. 9
23. वही, पृ. 12
24. वही, पृ. 15
25. वही, पृ. 16
26. वही, पृ. 19
27. वही, पृ. 22
28. वही, पृ. 23
29. वही, पृ. 30
30. वही, पृ. 31
31. वही, पृ. 32
32. वही, पृ. 35

33. चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 37
34. वही, पृ. 39
35. वही, पृ. 44
36. वही, पृ. 44
37. वही, पृ. 47
38. वही, पृ. 47
39. वही, पृ. 58
40. वही, पृ. 60
41. वही, पृ. 64
42. वही, पृ. 67
43. वही, पृ. 70
44. वही, पृ. 71
45. वही, पृ. 81
46. वही, पृ. 84
47. वही, पृ. 88
48. वही, पृ. 90
49. वही, पृ. 90
50. सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल, पृ. 468
51. चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 93
52. वही, पृ. 93
53. वही, पृ. 144
54. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रामचन्द्र तिवारी, पृ. 77
55. चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 147
56. हिन्दी आलोचना के आधार-स्तम्भ : सं. रामेश्वरलाल खंडेलवाल, पृ. 71
57. वही, पृ. 150
58. रामचन्द्र शुक्ल : सं. सुरेश चन्द्र त्यागी, पृ. 137
59. सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल, पृ. 32
60. चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 151
61. वही, पृ. 152
62. वही, पृ. 153
63. वही, पृ. 155
64. वही, पृ. 155
65. वही, पृ. 161

66. चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 170
67. सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल, पृ. 229
68. चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 127
69. वही, पृ. 129
70. वही, पृ. 134
71. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना : डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 95
72. चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 138
73. वही, पृ. 138
74. वही, पृ. 140
75. वही, पृ. 140
76. वही, पृ. 178
77. रामचन्द्र शुक्ल : रामचन्द्र तिवारी, पृ. 22
78. रामचन्द्र शुक्ल : सं. सुरेश चन्द्र त्यागी, पृ. 323
79. चिन्तामणि (दूसरा भाग) : सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 25
80. सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल, पृ. 414
81. चिन्तामणि (दूसरा भाग) : सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 34
82. हिन्दी आलोचना के आधार स्तम्भ : रामेश्वर लाल खंडेलवाल, पृ. 78
83. चिन्तामणि (तीसरा भाग) सं. डॉ. नामवर सिंह, पृ. 33
84. वही, पृ. 179
85. वही, पृ. 13
86. वही, पृ. 20
87. वही, पृ. 189
88. वही, पृ. 227
89. वही, पृ. 232
90. वही, पृ. 236
91. वही, पृ. 250
92. रामचन्द्र शुक्ल : सं. सुरेश चन्द्र त्यागी, पृ. 222
93. चिन्तामणि (तीसरा भाग) सं. डॉ. नामवर सिंह, पृ. 32
94. वही, पृ. 9
95. वही, पृ. 34
96. वही, पृ. 72
97. वही, पृ. 1
98. रामचन्द्र शुक्ल : सं. सुरेश चन्द्र त्यागी, पृ. 241

99. चिन्तामणि (तीसरा भाग) सं. डॉ. नामवर सिंह, पृ. 2
100. रामचन्द्र शुक्ल : सं. सुरेश चन्द्र त्यागी, पृ. 227
101. चिन्तामणि (तीसरा भाग) सं. डॉ. नामवर सिंह, पृ. 23
102. वही, पृ. 104
103. वही, पृ. 105
104. रामचन्द्र शुक्ल : सं. सुरेश चन्द्र त्यागी, पृ. 299
105. चिन्तामणि (तीसरा भाग) सं. डॉ. नामवर सिंह, पृ. 39
106. वही, पृ. 106
107. सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल, पृ. 229
108. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल निबन्ध संरचना और काव्य चिंतन : योगेन्द्र प्रताप सिंह, पृ. 45
109. चिन्तामणि (पहला भाग) रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 7
110. वही, पृ. 156
111. वही, पृ. 30
112. वही, पृ. 95
113. वही, पृ. 12
114. वही, पृ. 127
115. वही, पृ. 128
116. वही, पृ. 132

चतुर्थ अध्याय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंधों में प्रतिबिम्बत विभिन्न दृष्टिकोण

चतुर्थ अध्याय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंधों में प्रतिबिम्बित विभिन्न दृष्टिकोण

निबन्धकार अपने विशेष रूप में जीवन का व्याख्याता एवं जीवन का आलोचक होता है । वह इतिहास-वेत्ता या दार्शनिक या कवि या उपन्यासकार की तरह जीवन का अवलोकन नहीं करता, किन्तु इन सबका मिश्रित रंग उसमें पाया जाता है । इस कथनानुसार शुक्ल जी की अन्यतम विशेषता है उनका सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक एवं आध्यात्मिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में जीवनावलोकन । यद्यपि उन्होंने समाजवादी लेखक या राजनैतिक व्यक्तित्व, धार्मिक अथवा नीतिज्ञ की भाँति जीवन की व्याख्या नहीं की तथापि उनके निबन्धों में समाज शास्त्री की तरह सामाजिक व्यापकता एवं मार्मिक अनुभूति, राजनेता के समान सूझ-बूझ, दार्शनिक तुल्य गहराई एवं सूक्ष्मता, नीतिज्ञ समान चिंतन प्राप्त होता है । उन्होंने समाज शास्त्रीय, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक विषयों पर लेखनी नहीं चलाई फिर भी उनके निबन्धों में जीवन एवं समाज सम्बंधी विचारधारा इतनी व्यापक एवं सूक्ष्म है कि उन्हें समाज शास्त्री तक मान लिया जाता है। उनके निबन्धों में जीवन सम्बंधी अमूल्य विचार मोती समान बिखरे पड़े हैं ।

हिन्दी निबन्ध को व्यवस्थित रूप देने वालों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अग्रगण्य हैं। श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' लिखते हैं -- ''आचार्य शुक्ल की बहुमुखी प्रतिभा को देखते हुए उनकी साहित्य सेवा पर जब दृष्टि जाती है, तो मस्तक कृतज्ञता के ऋण से झुक जाता है । इस विद्वान् ने जितना किया उतना शताब्दियों के सहस्त्रों साहित्यिक मिलकर नहीं कर सके । हिन्दी गद्य को तो शुक्ल जी ने एक संयत शैली और सुव्यवस्थित रूप दिया । आचार्य शुक्ल ने दर्शन को साहित्य का आधार बनाकर अपने गंभीर चिंतन को एक बड़े ही ओजपूर्ण ढंग से हिन्दी संसार के सामने रखा । शुक्ल जी ने गद्य में जो कुछ भी लिखा, वह उनके प्रगाढ़ चिंतन और मनन का ही परिणाम था । चिंतक के रूप में शुक्ल जी के सामने हिन्दी साहित्य

में कोई हुआ ही नहीं । लिखने से पहले शुक्ल जी अपने अन्तस के आलोक में समग्र सृष्टि को अपने दृष्टिकोण से एक बार देख लेते हैं और इसलिए उनका व्यक्तित्व उनके प्रत्येक शब्द में ओत-प्रोत है । उनके लेखों को पढ़ने से यही प्रकट होता है कि किसी भी विषय को बहुत दूर तक और बहुत गंभीरता पूर्वक वे देखते सोचते हैं । लिखते समय भी वे अपने चिंतन की दिव्य मनोभूमि में ही विराजते हैं और शब्द आप ही आप बढ़ते जाते हैं । शुक्ल जी ने ऐसे विषयों पर लेखनी चलाई है जिन पर दूसरों को न साहस हुआ, न हो सकता है ।''[1]

आचार्य शुक्ल का युग नव जागरण या समाज सुधार का युग है, जहाँ पुरानी राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक मान्यताओं का पुनर्मूल्यांकन होता है और पुनः परीक्षा भी । यह वह युग था, जब स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए कर्मठता, अनाम उत्सर्ग की भावना के लिए एकता, मूल चेतना थी । उत्सर्ग के भाव ने राष्ट्र को न केवल प्रेरित और आंदोलित किया, एकजुट होकर अंग्रेज सत्ता के समूल विनाश के लिए कटिबद्ध भी किया । शुक्ल जी के चिंतन की महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि उनके निबन्धों में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्यिक प्रश्न एक दूसरे से जुड़े हुए हैं । इनका जोड़ना स्वतः स्फूर्त ढंग से नहीं हुआ, शुक्ल जी ने उन्हें सचेत रूप से जोड़ा है । राजनीतिक विद्वेष, सामाजिक उद्वेग, धार्मिक रूढ़ियाँ, अंधविश्वास, जाति-पाँति, छूआछूत, स्त्री सुधार, साहित्यिक विचार उनमें हैं । 19 वीं शताब्दी में समाज में प्रचलित सामाजिक प्रथाओं एवं धार्मिक विश्वासों ने प्रगति के मार्ग को अवरूद्ध कर दिया था । यह अज्ञानता आम जनता में ज्यादा थी । ब्रिटिश सरकार 'फूट डालो - राज करो' की नीति अपनाकर अपनी साख बचाने में प्रयत्नरत थी । इस संक्रांति काल में महात्मा गाँधी का आविर्भाव हुआ । गाँधी जी ने अनुभव किया कि भारत की आत्मा उसके साठ लाख गाँवों में निवास करती है । इसलिए उसे राजनीति और विकास की मुख्य धारा से जोड़ना चाहिए, जिसे अंग्रेजों ने खोखला बना दिया है । वहाँ की जनता छूत-अछूत, वर्ण-अवर्ण, कुरीति, अंधविश्वास और रूढ़ियों के जाल में फसी है । जो समाज की आर्थिक

ईकाई है, वही उपेक्षित है । बिना इसके उद्धार के न अजादी का स्वप्न साकार हो सकता है, न आर्थिक विकास की दिशा । गाँधी जी ने अपने रचनात्मक कार्यों में अछूतोद्धार, नारी जागरण, राष्ट्रीय शिक्षा आदि को शामिल किया । हिन्दू-मुस्लिम इन दोनों संप्रदायों के बीच परस्पर प्रेम सौहार्द्र, सद्‌भाव लाने का प्रयास किया । साहित्यकारो ने भी विभिन्न दिशाओं से प्राप्त होने वाली विविध प्रकार की विचार धाराओं का अवलोकन किया । उन विचार धाराओं एवं परिस्थितियों पर लेखनी चलाई और देश को स्वतंत्र करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया । अपनी कविताओं, कहानियों, निबन्धों, नाटकों के माध्यम से देश की विभिन्न परिस्थितियों का वर्णन किया ।

आचार्य शुक्ल ने भी अपने निबन्धों द्वारा लोगों को संबोधित किया । राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों का गहनता से निरीक्षण किया और उसे अपना विषय बनाया । वे अपनी मातृभाषा हिन्दी के लिए कहते हैं – ''अब हमें चाहिए कि राजनीति, विज्ञान, दर्शन, कला आदि के जो भाव हम अपनी संसार यात्रा में प्राप्त करते जाएँ उन्हें अपनी मातृभाषा हिन्दी को बराबर सौंपते जाएँ क्योंकि यही उन्हें हमारी भावी संतति के लिए संचित रखेगी ।''[2]

4.क. राजनीतिक दृष्टिकोण :

हिन्दी नवजागरण काल की अगवानी करने वाली विभूतियों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का महत्त्वपूर्ण स्थान है । इस काल के विचारकों की अग्रिम पंक्ति में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालमुकुन्द गुप्त, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रताप नारायण मिश्र, प्रेमचंद, सुमित्रानंदन पंत, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, जयशंकर प्रसाद और सूर्यकांत त्रिपाठी निराला आदि सम्मिलित थे। ''जिस काल-खण्ड में एक साथ इतनी बड़ी संख्या में स्वाधीनता प्रेमी विचारकों का उदय हुआ हो, इतिहास का वह गलियारा निस्संदेह साहित्यिक यात्रियों के लिए प्रेरणा का स्थायी स्थल बना रहेगा ।''[3] नवजागरण के विचारक स्वयं

में अंतर्विरोधों के अवतार थे और शुक्ल जी इन सबमें प्रमुख थे। भारतीय समाज के जिन अंतर्विरोधों की अभिव्यक्ति नवजागरण काल में हुई, उसका प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर सहज ही पड़ा ।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का एक अभिन्न पहल होने के कारण नवजागरण काल सम्पूर्ण समाज के जीवंत क्षेत्र को प्रतिबिम्बित करता है । पराधीनता और स्वाधीनता का विरोध जन चेतना का अंतर्विरोध था । नवजागरण काल के प्रमुख कार्यों में स्वतंत्रता प्राप्ति भी प्रमुख थी क्योंकि वही समाजोद्धार कर नव भारत का निर्माण कर सकती थी । इसी कारण स्वतंत्रता को एक प्रमुख जीवन मूल्य माना गया । स्वतंत्रता को जन्म सिद्ध अधिकार घोषित किया गया क्योंकि स्वतंत्रता मानवीय आकांक्षा है, जो सामाजिक संबंधों में प्रकट होती है । सत्ताधारी शासक अपने से कमजोर की स्वतंत्रता को सीमित करना चाहता है । आर्थिक स्रोतों को कम करके वह कमजोर को पूरी तरह परतंत्र बना देता है । शुक्ल युग में भारत की दशा ऐसी ही थी । ब्रिटिश सरकार भारत पर हुकूमत कर रही थी जिससे भारतीयों का जीवन नारकीय बना हुआ था ।

स्वतंत्रता के दूसरे चरण अर्थात् सन् 1857 के बाद लोगों में जो क्रान्ति हुई उसने स्वाधीनता के स्वर को प्रबल बना दिया । समाज के बुद्धिजीवी लोगों को क्रान्तिकारी बनने को प्रेरित करने लगे । शुक्ल जी का रचना काल बीसवीं सदी के प्रथम दशक से आरम्भ होता है। उन्होंने भी तत्कालीन राजनैतिक समस्याओं का अवलोकन किया । आजादी के स्वप्न से वे भी पुलकित हुए लेकिन सन् 1905 की लड़ाई में जब एशिया के देश जापान ने रूस को हरा दिया तो उन्हें लगा जापानी आगे बढ़ रहे हैं । उनके मन में ब्रिटिश शासन के प्रति अति आक्रोश था । प्रारंभ में उन्होंने अपने इस आक्रोश को देशद्रोही को दुत्कार, 'अपनी भाषा पर विचार' आदि शीर्षक लेख में प्रकट किया । अपनी भाषा, संस्कृति, देश के प्रति लागाव को इन पंक्तियों में देखा जा सकता है– ''यहाँ पर एक बात हम स्पष्ट रूप से कह देना चाहते

हैं । हम हिन्दू हैं, हिन्दुस्तान हमारा देश है । हिन्दी हमारी भाषा है । इस भाषा में अवश्य हिन्दुओं के आचार-विचार का आभास रहेगा इसमें अवश्य उनके प्राचीन गौरव की गन्ध रहेगी। कुढ़ने वाले भले ही कुढ़े ।''[4]

भारतेन्दु युग की रचनाओं में उग्र राजनीतिक चेतना के अभाव का कारण शुक्ल जी ने तत्कालीन कमजोर राजनीतिक आन्दोलन को ठहराया है । द्विवेदी युगीन राजनीतिक आन्दोलन थोड़े ही शिक्षित तथा बड़े आदमियों तक सीमित था । द्विवेदी युग के बाद राजनीतिक परिस्थिति कैसे बदल गई इस पर शुक्ल जी ने लिखा है – आन्दोलनों ने सक्रिय रूप धारण किया और गाँव-गाँव राजनीतिक और आर्थिक परतंत्रता के विरोध की भावना जगाई गयी ।''[5] शुक्ल जी का अपने समय के राजनेताओं से अच्छा सम्पर्क था । वे देश के लिए चिंतित थे इसलिए राजनेताओं से चर्चा-परिचर्चा होती ही रहती थी । ''महात्मा गाँधी के काशी आने पर मालवीय जी के निवास पर उनसे शुक्ल जी की बातचीत हुई थी ।''[6]

शुक्ल जी की मुलाकात चन्द्रशेखर आजाद से भी हुई थी । वहाँ आजाद एवं शुक्ल जी के बीच लम्बी बातचीत हुई जिसका उल्लेख गोकुल चन्द्र शुक्ल ने किया है – ''आजाद ने कहा - अब तो हम फाँसी के तख्ते पर भारत माँ को ढूँढ़ते हैं ।' शुक्ल जी ने उत्तर दिया - बेटे भारत माँ को खेतों में ढूँढ़ों । विश्व आन्दोलन के मेले में हमारा स्वाधीनता आन्दोलन होना चाहिए । किसानों का संगठन किए बिना आन्दोलन सफल नहीं होगा ।' आजाद ने हँसते हुए पूछा – ''और हिंसा को कहाँ रखते हैं गुरुजी ?' शुक्ल जी बोले – 'भीष्म भगवान नहीं हुए । लोक व्यापी अत्याचार के विरूद्ध शस्त्र उठाने वाले राम कृष्ण ही भगवान कहलाए । भगवान के नाम पर चलने वाले धर्म को राजनीति से अलग रखना चाहिए । आजाद ने कहा - इसी से मैंने क्रांति का रास्ता अपनाया है । शुक्ल ने कहा - बहुत से लोग क्रान्ति के नाम पर गला फाड़ते हैं पर मानसिक दृष्टि से पुरखों की श्रेणी में हैं । तुम्हारे जैसे पाँच सौ भी हो जायें तो देश एक दिन में स्वतंत्र हो जाये ।' आजाद ने कहा – ''अंग्रेज हमें कमजोर समझकर शर्तें

रखते हैं । उसे वह सबक सिखऊँगा कि वह अपने घर में भी चैन से न बैठ सके । शुक्ल जी ने कहा - चोर का मुकाबला करने के लिए डकैत बनना होता है । अब तो छीनकर बाटने वाली आदत भी आ गई है । कोठी वाले उनको साथ दे रहे हैं । इधर कांग्रेस से भी मिले हैं। आजाद ने कहा – ''गाँधी जी के पास हमने संदेश भेजे थे पर उन्हें हमारे रास्ते में विश्वास नहीं है । शुक्ल जी ने उत्तर दिया – 'उनका भी रास्ता बदलेगा । अपकी और उनकी भावना का उद्‌गम एक है । संगम भी एक है ।' आजाद ने कहा – उन्होंने बड़े-बड़े जमींदारों और व्यापारियों को छूट दे दी है ।' शुक्ल जी ने कहा - बस एक यही कमजोर पक्ष है । अंग्रेजों ने अपनी नीति से महाजन, जमींदार पैदा किए हैं । इन्हें छोड़िए । औसत जमींदार टैक्स आदि देने के बाद किसान की ही तरह हो जाता है । अपने संगठन में उन्हें भी लीजिए । किसानों के साथ वे भी विद्रोह करने के लिए तैयार बैठे हैं । बहुत जुल्म हुआ । अब केवल शक्ति का मार्ग रह गया है । आजाद ने अपने मन की व्यथा प्रकट की – ''दुःख तब होता गुरुजी जब हमारे देशवासी ही हमारी दृष्टि नहीं समझते'' शुक्ल जी बोले – 'आप अपना काम कीजिए आपके मानसिक स्तर पर पहुँचने के बाद ही वे समझेंगे । आजाद उठकर खड़े हो गए और कहा – 'पंडित जी मेरे रिवाल्वर की गोलियाँ कभी खत्म नहीं होंगी । आप मुझे हमेशा याद रहेंगे । चलूँ प्रणाम ! शुक्ल जी की आँखें भीग गईं । वे बोले – 'अपने उद्देश्य में सफल होओ बेटे । यह संसार प्रेम करने के लिए है । पर कुछ मुट्‌ठी भर लोगों ने अधिकार हस्तगत करके हिंसा को अनिवार्य बना दिया । जाओ संकट के समय यह घर तुम्हारा है ।''[7]

नये राजनीतिक आन्दोलन की दो विशेषताओं पर शुक्ल जी ने जोर दिया है । एक तो यह कि जब जो आन्दोलन चले वे सामान्य जन समुदाय का भी साथ लेकर चले । दूसरी यह कि सभी स्वाधीनता आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय रूप मानें । फ्रेडरिक पिन्काट नामक निबन्ध में उन्होंने भारतीय राजनीतिक स्थितियों का वर्णन पिन्काट के माध्यम से किया है । पिन्काट भारत हितैषी थे इसलिए शुक्ल जी ने उन्हें अपने निबन्ध का विषय बनाया – ''कुछ

दिन हुए कि मेरे एक हिन्दुस्तानी दोस्त ने हिन्दुस्तान के पुलिस के जुल्म की ऐसी तस्वीर खिंची है कि मैं हैरान हो गया । मैंने यह जानने के लिए कि मेरा दोस्त कहाँ तक सच कहता है एक चिट्टी लाहौर नगर के ट्रिब्यून नामी समाचार पत्र को लिखी । उस चिट्टी के छपते ही मेरे पास बहुत से लोगों ने चिट्ठियाँ भेजीं जिनसे प्रकाशित हुआ कि पुलिस का जुल्म उससे भी ज्यादा है कि जितना मैंने सुना था । अब मैंने पक्का इरादा कर लिया है कि जब तक हिन्दुस्तान की पुलिस वैसी ही न हो जाए जैसी कि इंग्लिस्तान की है, इस बात का पीछा न छोड़ूँगा ।''[8]

उक्त पत्र पिन्कॉट ने बाबू कार्तिक प्रसाद को लिखा था । शुक्ल जी ने भारत की राजनीतिक परिस्थितियों को उजागर करने के उद्देश्य से ही इसे अपने निबन्ध में स्थान दिया। वे पुनः लिखते हैं – भारतवर्ष की उन्नति में सहायता पहुँचाने वाली जितनी बाते थीं पिन्कॉट साहब का प्रायः उन सबसे सम्बंध रहता था । इनके राजनीति व्यापार तथा साहित्य सम्बंधी लेख बराबर इंग्लैण्ड और भारतवर्ष के समाचार पत्रों में निकला करते थे । यद्यपि ये विलायत में रहते थे पर देशी भाषाओं के अध्ययन द्वारा ये भारत वर्ष की बहुत सी भीतरी बातों के जानकार थे । इस पर भी यहाँ की वास्तविक दशा जानते रहने के लिए आप यहाँ के समाचार पत्रों को पढ़ा करते थे । राजनैतिक विचार आपके उदार थे ।''[9]

शुक्ल जी ने अपने निबन्ध 'क्षात्र धर्म का सौन्दर्य' में भी राजनीतिक स्थित को दर्शाया है । उन्होंने राजनीतिक को पैसा कमाने का साधन माना है – ''ब्राह्मण धर्म और क्षात्र धर्म दोनों का लोप हो गया - केवल वर्णिक धर्म रह गया । व्यापार नीति राजनीति का प्रधान अंग हो गयी । बड़े-बड़े राज्य माल की बिक्री के लिए लड़ने वाले सौदागर हो गए हैं । अब सदा एक देश दूसरे देश का दबे पाँव धन हरण करने की ताक में रहता है । कोई-कोई देश लोभ वश इतना अधिक माल तैयार करते हैं कि उसे किसी देश के गले मढ़ने की फिक्र में

दिन-रात मरते रहते हैं ।''[10]

डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल लिखते हैं – ''शुक्ल जी को अपनी धरती का कण-कण प्रिय था । उनके हृदय में राष्ट्र-प्रेम की धारा सतत प्रवाहित रहती थी । उनका सम्पूर्ण भाव जगत् स्वदेश की गरिमा से व्याप्त था । भारत-भूमि, भारतीय संस्कृति, सभ्यता और भारत की हिन्दी पर उन्हें गर्व था । उनके समक्ष राष्ट्र-प्रेम और हिन्दी-प्रेम ये दोनों परस्पर पर्याय थे। हिन्दी साहित्य का समुन्नयन करके आपने हमारे राष्ट्रीय गौरव को समुन्नत किया । 'भारत का हृदय गाँवों में बसता है ।' इस भावना से वे ग्राम्य जीवन के प्रति विशेष ममत्व रखते थे । वन्य प्रकृति के प्रति उनका सहज आकर्षण था ।''[11]

सुरेश चन्द्र त्यागी ने लिखा है – ''आचार्य शुक्ल का चिन्तन मात्र साहित्य शास्त्र तक सीमित नहीं है। वह धर्म, राजनीति, समाज, राष्ट्र, शिक्षा आदि को भी अपने भीरत लिए हुए है । वे अपने परिवेश से उदासीन होकर सोचने वाले लेखक नहीं थे । सन् 1921 में प्रकाशित अपने लेख ''नॉन कोपरेशन एण्ड नॉन मर्केन्टाइल कलासेज में उन्होंने गाँधी जी से भेंट के समय इसी बारे में बातचीत की हो । इस लेख में उन्होंने नवयुवकों को संबोधित करते हुए कहा है कि – ''थोड़े से भी चिन्तन से वे यह देखने में समर्थ हो जायेंगे कि यह असहयोग केवल एक सतही विद्रोह है, जिसमें बहुत से परस्पर विरोधी असंतुलनीय तत्त्व स्वयं को स्थापित करने का प्रयास कर रहे हैं । हमें इस आन्दोलन में ऐसे व्यक्ति मिल जायेंगे जो यूरोप के किसी नवीनतम उन्माद को मानव-प्रगति का चरम बिन्दु समझकर स्वीकार कर लेते हैं और उस प्रत्येक वस्तु का पूरा सफाया कर देना चाहते हैं जो अतीत से उपलब्ध हुई है । साथ ही साथ ऐसे व्यक्ति भी इसमें सम्मिलित हैं जो प्राचीन भारत के स्वप्न चिंतन में निरत हैं एवं पुरातन अवशेषों की प्रत्येक वस्तु के पुनरुत्थान का विचार कर रहे हैं । इस आन्दोलन में लगे हुए ऐस व्यक्ति भी हैं जो अपनी जन्मभूमि के देश के प्रति भक्ति के आधुनिक बोध से ओत-प्रोत हैं । साथ ही साथ ऐसे व्यक्ति हैं जो जाति, धर्म या मत के आधार पर एकता के

विचारों को दृढ़ता से पकड़े हुए हैं । ये सभी व्यक्ति-समूह इस विश्वास से अभिप्रेरित हैं कि वे अपने भिन्न आदर्शों एवं उद्देश्यों की पूर्ति की ओर बढ़ते जा रहे हैं । इस प्रकार का विलक्षण सम्मिश्रण अपने विभिन्न घटकों को अधिक दिन एक साथ नहीं रख पायेगा । अतएव मिस्टर गाँधी के स्वराज्य सम्बंधी विचार कल्पना विलासी हैं । वह या अन्य कोई भी महात्मा इस प्रकार की परस्पर विरोधी चीजों में सामंज्य लाने का चमत्कार नहीं दिखा सकता ।''[12]

शुक्ल जी ने तत्कालीन देश की राजनीतिक परिस्थिति का सूक्ष्मता के साथ निरीक्षण किया था । किशोरावस्था में लोकमान्य तिलक से प्रभावित होकर तिलक दल भी बनाया था और अंग्रेज अधिकारियों को परेशान करने का जाल फैलाया था ।''[13] उनकी देश भक्ति की भावना को इन पंक्तियों में देखा जा सकता है – ''यदि किसी को अपने देश से सचमुच प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि सबसे प्रेम होगा, वह सबको चाह भरी दृष्टि से देखेगा, वह सबकी सुध करके विदेश में आँसू बहायेगा ।''[14] उनकी दृष्टि में सच्चे देश-प्रेम का सम्बंध सम्पूर्ण देश के हित-चिंतन तथा हित साधन की प्रवृत्ति से है जो देश के बाह्य तथा आन्तरिक रूपों के परिचय से उत्पन्न होती है । देश का बाह्य या आन्तरिक रूप-परिचय तथा सान्निध्य देश प्रेम का प्रवर्त्तक है अर्थात् देश का आन्तरिक तथा बाह्य स्वरूप ही देश प्रेम का आलम्बन होता है जिसकी सच्ची पहचान के बिना देश के लिए प्रेम नहीं उत्पन्न हो सकता उसके प्रति बलिदान की भावना नहीं जग सकती ।''[15]

शुक्ल जी की दृष्टि में देशबद्ध मनुष्यत्व की अनुभूति से सच्चे देश प्रेम की स्थापना होती है – ''देश को स्वतंत्र करने के लिए उत्साह या त्याग उत्पन्न नहीं हो सकता, देशवासियों के सुख-दुःख से सहानुभूति नहीं हो सकती । देशवासियों की रक्षा तथा समृद्धि की भावना नहीं जग सकती । इसलिए उन्होंने अपने देश के मनुष्यों, उनकी संस्कृति, सभ्यता तथा देश की बाह्य प्रकृति को आँखें खोलकर देखने, जानने, पहचानने और प्यार करने पर

जोर दिया ।''[16] उनका राष्ट्र-प्रेम अत्यन्त व्यापक कोटि का था । वह प्रान्त प्रेम, हिन्द प्रेम, हिन्द देश की स्वतंत्रता तक ही सीमित नहीं था वरन् वह सम्पूर्ण मानवता तक व्याप्त था । वह मानव ही नहीं, छोटे-छोटे जीवों के प्रेम तथा संरक्षण तक व्याप्त था ।''[17] उन्होंने देश प्रेम की क्रमिक सीढ़ियाँ मानीं । उनकी दृष्टि में - जो व्यक्ति अपने माता-पिता, पास-पड़ोस, जन्मभूमि के फूल-पौधों, देश के रीति-रिवाज, पर्व, उत्सव, सभ्यता, संस्कृति, साहित्य से प्रेम नहीं करता, जो अपने देश की रूप-माधुरी पर मुग्ध नहीं होता, उसका देश प्रेम झूठा है, आडम्बर है ।''[18]

शुक्ल जी ने स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग लेने वाले हिन्दी कवियों (माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', रामधारी सिंह 'दिनकर' आदि) की प्रशंसा की है। स्वतंत्रता के उन्मत्त उपासक तथा घोर क्रान्तिकारी अंग्रेजी कवि शैली की भी उन्होंने सराहना की है।''[19] भारतीय संस्कृति तथा दर्शन की रक्षा करने वाले हिन्दी के भक्त कवियों जायसी, सूर, तुलसी, रसखान आदि की भी मुक्त कंठ से प्रशंसा की है । अपने मनोविकार तथा साहित्य सम्बंधी शाश्वत विषय के निबन्धों में अपने देश की तत्कालीन लगभग सभी प्रमुख समस्याओं तथा प्रश्नों पर व्यंग्य करते हुए उनका समाधान देश भक्ति की दृष्टि से उपस्थित किया है। उन्होंने देश की समस्याओं से उदासीन रहने वाले रीतिवादी, छायावादी, कलावादी, रहस्यवादी, संवेदनावादी, प्रतीकवादी कवियों की निन्दा तथा पाश्चात्य देशों का अन्धानुकरण करने वालों की कटु आलोचना की है ।।''[20]

शुक्ल जी ने साहित्य से राजनीति को बाहर रखने की बात नहीं की । राजनीति साहित्य से बाहर न रखी जाए, साहित्य में वह आये, लेकिन साहित्य के अपने गुणों की रक्षा करते हुए । राजनीति और साहित्य के सम्बंध में शुक्ल जी के विचार अवलोकनीय हैं – ''यदि किसी जन समुदाय के बीच कहा जाए कि अमुक देश तुम्हारा इतना रुपया प्रति वर्ष उठा ले जाता है तो संभव है कि उस पर कुछ प्रभाव न पड़े । पर यदि दारिद्रय और अकाल

का भीषण और करुण दृश्य दिखाया जाए, पेट की ज्वाला से जले हुए कंकाल कल्पना के सम्मुख रखें जायें और भूख से तड़पते हुए बालक के पास बैठी हुई माता का आर्त क्रंदन सुनाया जाये तो बहुत से लोग क्रोध और करुणा से व्याकुल हो उठेंगे और इस दशा को दूर करने का यदि उपाय नहीं तो संकल्प अवश्य करेंगे । पहले ढंग की बात कहना राजनीति या अर्थशास्त्री का काम है और पिछले प्रकार का दृश्य भावना में लाना कवि का ।''[21] डॉ. राम स्वरूप चतुवेर्दी उनकी समकालीन राजनीति के प्रति दृष्टिकोण के विषय में लिखते हैं – ''रामचन्द्र शुक्ल का समकालीन राजनीति के प्रति रवैया इस बात से भी प्रकट होता है कि अपने लेखन में वे मार्क्स का उल्लेख नहीं करते । विदेशी चिन्तकों को उन्होंने बड़े मनोयोग से पढ़ा था और अपने विवेचन क्रम में वे बराबर उनसे टकराते हैं । फ्रायड, हैवेल, शाहनहवर जैसे दार्शनिक, क्रोचे, डंटन, रिचड्र्स जैसे आलोचक, इलिएट और कमिंग्ज जैसे कवि – जिनमें वे अधिकतर आचार्य शुक्ल के समकालीन थे और सम्पूर्ण यूरोपीय परिदृश्य पर अत्यन्त सक्रिय उनका उल्लेख और साधिकार विवेचन वे बार-बार करते हैं, पर मार्क्स को अपनी विचार परिधि में वे स्वीकार नहीं करते ।''[22]

डॉ. शिवकुमार मिश्र शुक्ल जी की भारतीय राजनीति एवं उनके विचारों के सम्बंध में लिखते हैं – ''साहित्य को मानवीय और लौकिक जीवन से जोड़कर देखने वाली उनकी दृष्टि, पतनशील सामंती पूँजीवादी रूझानों से उनका अथक संघर्ष, अवैज्ञानिक रचना शीलता का उनके द्वारा किया गया विरोध, लोक जीवन तथा लोक हृदय की खरी पहचान पर आधारित उनका काव्य-विवेक, उनकी सेक्युलर तथा जनतांत्रिक विश्व दृष्टि, बाह्य जगत् की सच्चाई को अकंठ भाव से स्वीकार करने वाला और उसी की केन्द्रीयता में साहित्य तथा काव्य में रूपायित होने वाले पदार्थ के प्रति उनकी अदम्य निष्ठा, समस्त प्रकार की दकियानूसी से परहेज और घृणा करने वाला वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में विकसित और पुष्ट होने वाला उनका प्रखर पांडित्य आचार्य शुक्ल की वह विरासत है जिसके प्रति हर प्रगतिशील

जनवादी रचनाकार और विचारक को गर्व है ।''[23]

डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं – ''निःस्संदेह आचार्य शुक्ल का हृदय साम्राज्यवादी उत्पीड़न से व्यथित था। इस उत्पीड़न के प्रति वे तटस्थ नहीं थे । प्रेमचन्द के साथ उन्होंने बिना किसी दुविधा के उसकी निन्दा की, उसका जघन्य राक्षसी रूप जनता के सामने प्रकट किया । कांग्रेसी नेता रूस के साम्राज्य विरोधी साहित्य को सोद्देश्य कहकर रेलवे स्थलों से उसका बहिष्कार कर रहे थे । उन्हें चाहिए कि शुक्ल जी की आलोचना से भी ऐसे तमाम सोद्देश्य स्थल निकाल दें क्योंकि उनसे लोगों को याद आयेगा कि भारत आज भी कंकालों का कारागार है और इसका कारण कांग्रेस राज है । कांग्रेसी नेताओं को उन्हीं व्यापारियों से प्रीति है, जिनकी आचार्य शुक्ल ने रोष पूर्ण शब्दों में निन्दा की है ।''[24] वे पुनः लिखते हैं – ''शुक्ल जी देश भक्त लेखक थे, वे साहित्य में देश भक्ति के हामी थे । उन्होंने देश के मनुष्यों और उसकी प्रकृति को देखने, जानने, पहचानने और प्यार करने पर जोर दिया था । अंग्रेजी में जिसे कौस्मोपालिटनिज्म कहा जाता है यानि हम तो विश्व नागरिक हैं, हमें देश प्रेम है और राष्ट्रीय स्वाधीनता से क्या मतलब, उसका शुक्ल जी ने विरोध किया है। यह विश्ववाद साम्राज्यवादियों के प्रभुत्व का साधन है । जनता की देश भक्ति, अपनी जातीय संस्कृति से उसका प्रेम उनके साम्राज्यवादी प्रभुत्व में बाधक होता है इसलिए वे विश्ववाद का प्रचार करते हैं ।''[25]

शुक्ल जी का दृष्टिकोण था कि राजनीतिक परिस्थिति एवं सामाजिक परिस्थिति को बदलने के लिए समाज सुधारकों एवं राजनीतिज्ञों की एक साथ एक ही समय में जरूरत होती है । राजनीतिक परिस्थिति के सुधारने के पश्चात् ही देश उन्नति करता है । रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं – ''वे एक सच्चे देश भक्त थे । देश को स्वतंत्र देखना चाहते थे । उनकी स्वातंत्र्य चेतना व्यापक थी । उन्हें राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ ही मानसिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता भी अभीष्ट थी । इसलिए उन्होंने अपने सुचिंतित पारंपरिक काव्य-मूल्यों

रस, अलंकार और शब्द-शक्ति को दृष्टि में रखकर अपनी दृष्टि से विश्व साहित्य को परखने की बात कही ।''[26] शुक्ल जी की राजनीतिक विचारधारा क्रान्तिकारी थी । उनके निबन्धों में शुक्ल जी के क्रान्तिकारी राजनीतिक व्यक्तित्व की पूर्ण झलक मिलती है ।

4.ख. सामाजिक दृष्टिकोण :

समाज में प्रचलित परम्परा, रीति-रिवाज एवं प्रथाएँ जब गतिमान समय के वेग से पिछड़ जाती हैं तो सर्वसाधारण का जीवन व्यग्र हो उठता है । महत्वाकांक्षी, प्रगतिकामी व्यक्ति की होड़ समय की द्रुत गति से होती है किन्तु सम्पूर्ण समाज उतना गतिमय नहीं हो पाता । परिणामतः सामाजिक शिकंजे एवं प्रतिमान शिथिल पड़ जाते हैं । मनुष्य उस समाज से कहीं आगे बढ़ चुका होता है । ऐसी स्थिति में व्यक्ति एवं समाज और सामयिकता एवं परम्परा का अन्तराल एक अव्यवस्था को जन्म देता है । इस अव्यवस्था का प्रभाव व्यक्तिगत आचरण, पारिवारिक जीवन तथा सामाजिक व्यवहार सभी पर पड़ता है । मृतप्राय परम्पराएँ जब नूतन अन्वेषणों के मार्ग में रोड़ा अटकाती हैं तो सुधी सचेत साहित्यकार इन नग्न कुरीतियों, सड़ी-गली परम्पराओं पर प्रहार करता है । इस प्रकार का उद्देश्य समाज की सड़ी-गली व्यवस्था की निन्दा द्वारा उसकी अनुपयोगिता साबित कर समाज को प्रगति पथ पर अग्रसर करना होता है ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बहुआयामी व्यक्तित्व का मूल्यांकन मात्र साहित्य-समीक्षक के रूप में करना अपूर्ण है क्योंकि उनका कृतित्व भाषा एवं समाज चिंतक के रूप में भी सशक्त रहा है । वास्तविकता तो यह है कि उनके साहित्य चिंतन एवं हिन्दी साहित्य के विवेचन के पीछे उनका सामाजिक दर्शन कार्यरत रहा है । भाषा सम्बंधी नवीन एवं क्रांतिकारी धारणाएँ भी उसी सामाजिक दर्शन का प्रतिफलन प्रतीत होती हैं ।[27] किशारी लाल व्यास ने लिखा है – ''भावों की सामाजिक प्रतिष्ठा तथा उपादेयता, धर्म एवं समाज की विकासवादी व्यवस्था, व्यष्टि के बदले समष्टि का मापदण्ड आदि बातें शुक्ल जी के

समाजोन्मुखी वैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करती हैं । शुक्ल जी का समग्र चिंतन लोकबद्ध तथा प्रवृत्तिवादी था । चाहे प्रकृति का सौन्दर्य हो, चाहे पौराणिक पात्रों का चरित्र-चित्रण हो, इनके मूल्यांकन में शुक्ल जी की लौकिक दृष्टि ही प्रधान रही । रवीन्द्रनाथ ठाकुर के या जयशंकर प्रसाद जी के 'रहस्यवाद' ने उन्हें आकर्षित नहीं किया । तुलसी के 'मानस' ने इन्हें सर्वाधिक अभिभूत किया, जिनके राम का मार्ग इसी जगत् के बीच से होकर जाता है।''[28] विज्ञान के अनुसार – विश्व की स्थिति विद्युत अणुओं में निहित शक्ति के आकर्षण एवं अपसारणा स्वरूपों के कारण है । अणुओं से विहीन होने पर कोई भी पिंड अपनी अस्मिता ही खो देता है । आचार्य शुक्ल की समाज सम्बंधी धारणा असंदिग्ध रूप से विज्ञान से प्रभावित है। उन्होंने लिखा है – ''सामाजिक महत्त्व के लिए आवश्यक है कि या तो आकर्षित करो या आकर्षित होओ । जैसे इस आकर्षण-विधान के बिना अणुओं द्वारा व्यक्त पिंडों का आविर्भाव नहीं हो सकता, वैसे ही मानव जीवन की विशद् अभिव्यक्ति भी नहीं हो सकती ।''[29]

अतः यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी की दृष्टि में सामाजिकता परस्पर आकर्षण से उद्भूत मानव-जीवन की विशद् अभिव्यक्ति है । यह भी सत्य है कि यदि व्यक्ति, व्यक्ति के प्रति आकर्षित न हो, आकर्षित भी न करे तो हर व्यक्ति एक पृथक् अणु होगा । समाज की संरचना संभव न हो सकेगी । समाज की सत्ता के लिए मानव अणुओं का संघात अति आवश्यक है । शुक्ल जी की समाज दृष्टि मूलतः लोक मांगलिक है । रामचन्द्र तिवारी ने लिखा है – ''ऐसा नहीं है कि उनमें (शुक्ल जी में) सामाजिक संरचना की कोई दृष्टि नहीं थी, किन्तु उन्होंने सदैव लोक-मंगल पर ही बल दिया है । उन्होंने अपनी काव्य-समीक्षा के केन्द्र में भी लोक-मंगल को ही रखा है । वस्तुतः शुक्ल जी एक निबन्ध लेखक, आलोचक और इतिहासकार भी थे । उनकी साहित्य दृष्टि समाज निरपेक्ष नहीं है । वे समाज की ओर से आँख मूँदकर विचार नहीं करते थे, किन्तु प्रयोग उन्होंने प्रायः लोक मंगल शब्द का ही किया है ।''[30]

शुक्ल जी ने समाज शब्द का प्रयोग न करके लोक शब्द ही क्यों चुना इस विषय पर रामचन्द्र तिवारी का कहना है – ''शुक्ल जी की इस लोक मंगल भावना को प्रगतिशील आलोचकों ने अपने अनुकूल बना लिया । उनकी दृष्टि में 'लोक' का अर्थ पीपुल या जनता है। इस प्रकार शुक्ल जी की लोक-मंगल की भावना एक प्रकार से जनता के हित की भावना है और शुक्ल जी का लोकवाद अपनी सीमाओं के बावजूद जनवाद है । किन्तु वास्तविकता यह नहीं है । तुलसीदास को 'लोकवादी' कहते हुए शुक्ल जी ने स्पष्ट कर दिया है कि उनका लोकवाद वह 'लोकवाद' नहीं है, जिसका अखण्ड तांडव आज रूस में हो रहा है । यदि यह मान लिया जाए कि 'रूस' में जो कुछ हो रहा था, शुक्ल जी उससे पूरी तरह अवगत नहीं थे । उनकी दृष्टि अंग्रेजों के मिथ्या प्रचार से बाधित थी, फिर भी यह सत्य है कि तुलसी को 'लोकवादी' कहते समय उनके सामने रूसी समाजवाद नहीं था । वस्तुतः संस्कृत में भी 'समाज' शब्द 'सोसाइटी' या सामाजिक संरचना के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। आप्टे के संस्कृत-हिन्दी कोश में उसका अर्थ है – सभा, मिलन, मजलिस, गोष्ठी, समिति, परिषद्, मंडल आदि । ये शब्द व्यापक जन-समाज या सोसाइटी के द्योतक नहीं हैं । इसकी तुलना में 'लोक' शब्द अधिक व्यापक है । यहाँ 'वेद' के साथ 'लोक' की ही कल्पना की गई है। संस्कृत के कोशों में भी लोक का अर्थ दुनिया, संसार, मानव जाति, प्रजा आदि दिया गया है। इसीलिए शुक्ल जी ने लोक-मंगल शब्द का ही अधिक से अधिक प्रयोग किया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे देश की वर्तमान सामाजिक दुर्दशा से परिचित नहीं थे और उनकी कोई समाज दृष्टि नहीं थी ।''[31]

समाज एवं सामाजिक कार्यों के प्रति शुक्ल जी कभी उदासीन नहीं रहे । डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं – ''वे वास्तव में सामाजिक कार्यों को राजनीतिक कार्यों से अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे । महत्त्व के लिहाज से जिस चीज पर हमें सबसे पहले ध्यान देना चाहिए, वह है सामाजिक बुराइयों को दूर करने का काम । इनमें उन्होंने सबसे पहले बाल विवाह की

कुप्रथा को लिया क्योंकि यह हमारे अन्दर सारी राष्ट्रीय भावनाओं के विकास को अवरूद्ध कर देती है । स्वाधीनता संग्राम के दौरान सामाजिक रूप से राष्ट्र को अपना कायाकल्प करना है।''[32] वे पुनः लिखते हैं – ''नए ढंग का समाज चाहिए, 'शक्तिशाली समाज', इसकी पहचान यह है कि उसके 'सदस्य कोई भी काम करने को तैयार हों ।' फिर उनकी शिक्षा का प्रबंध करना चाहिए । शिक्षा का उद्देश्य सरकारी नौकरियाँ पाना नहीं, सामाजिक दायित्व के निर्वाह की क्षमता होना चाहिए । नयी शिक्षा ऐसी हो जो दूसरी बातों के अतिरिक्त एक उच्च उत्तरदायित्व के भाव से किसी को युक्त कर देती है और उसकी महत्वाकांक्षाओं के लिए ऐसे क्षेत्र प्रदान करती है, जो सलाम बजाने या मालगुजारी 'इकट्ठा करने के काम से बड़े होते हैं।''[33]

शुक्ल जी ने सन् 1907 में एक निबंध लिखा था । जिसका शीर्षक है – ''ह्वाट हैज इंडिया टु डू' इसमें उन्होंने भारतीय समाज की दुर्दशा के प्रति चिन्ता व्यक्त की थी । परतंत्र भारत में दिन-प्रतिदिन बढ़ती गरीबी एवं बेरोजगारी के प्रति अपनी चिन्ता दर्शाते हुए कहते हैं– ''प्रत्येक ग्रामवासी को यह जानना चाहिए कि अधिक काम करने के बाद भी उसे उसके बदले में कम क्यों दिया जाता है, प्रत्येक नागरिक को यह बताया जाना चाहिए कि उसकी सेवाओं की इतनी कम माँग क्यों है ? और वस्तुतः प्रत्येक भारतीय को यह साफ-साफ पता होना चाहिए कि उसका देश दिन-ब-दिन और गरीब होता जा रहा है ।''[34]

मनुष्य विश्व का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है । उसमें शक्ति की सत्ता स्वयं सिद्ध है । अतः आकर्षण के कारण लोक से पृथक् उसका अस्तित्व ही संभव नहीं है – ''आकर्षण विहीन होकर, सम्पूर्ण से टूटकर, लोक से विच्छिन्न होकर, वह जी नहीं सकता ।''[35] आचार्य शुक्ल इस वस्तु-सत्य से अवगत थे तभी उन्होंने कहा – ''मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है ।''[36] लोकबद्ध होने के कारण वह समाज से दूर नहीं हो सकता । मनुष्य की लोकबद्धता एवं सामाजिकता को शुक्ल जी ने लाखों वर्ष की विकास परम्परा का परिणाम माना है । जीवन की लोकबद्धता

व्यक्ति का समाज से घनिष्ठ सम्बंध स्थापित करती है । शुक्ल जी ने 'लोकरंजन' तथा 'लोकमंगल' के बीच लोकमंगल को ही उच्च माना है, किन्तु लोकरंजन या कलाधार्मिता की उपेक्षा न करके उसकी भी प्रशंसा की है । उनके अनुसार – लोकमंगल की साधनावस्था का मूलभाव करुणा या प्रेम है । करुणा तथा प्रेम – ये दोनों अधिक व्यापक, चराचर में व्याप्त, मानवीय आत्मीयता, सहानुभूति आदि के व्यंजक तत्त्व हैं । करुणा की वृत्ति लोकरक्षण की है। शुक्ल जी मानव जाति को भय, पीड़ा, संकट, शोषण, उपद्रव एवं हिंसा से मुक्त देखना चहते थे । वे समाज में उन उच्च मूल्यों की स्थापना करना चाहते थे, जो 'रामचरितमानस' जैसे महान ग्रन्थ में अभिव्यक्त हैं ।

शुक्ल जी समाज में प्रचलित सौदेबाजी को नापसंद करते थे । उन्होंने सौदेबाजी बहुल प्रवृत्ति देखकर वर्तमान समय को व्यापार युग की संज्ञा दी – ''पर जबकि इस व्यापार युग में ज्ञान बिकता है, न्याय बिकता है, धर्म बिकता है – तब श्रद्धा जैसे भाव क्यों न बिकें ?''[37] धन का बोलबाला ज्यादा होने से सामाजिक मूल्यों का ह्रास हुआ है । इस पतन को देखकर शुक्ल जी कहते हैं – ''लक्ष्य की इस एकता से समाज में एक-दूसरे की आँखों में खटकने वाले की वृद्धि हुई । जब एक ही को चाहने वाले बहुत से हो गए, तब एक ही चाह को दूसरे कहाँ तक पसन्द करते हैं ? लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गयी, उपासक सब पत्थर के हो गए, धीरे-धीरे यह दशा आई कि जो बातें पारस्परिक प्रेम की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से की जाती थीं । वे भी रुपये-पैसे की दृष्टि से होने लगीं । आजकल तो बहुत सी बातें धातु के ठीकरों पर ठहरा दी गई हैं । पैसे से राज सम्मान की प्राप्ति, विद्या की प्राप्ति और न्याय की प्राप्ति होती है, जिसके पास कुछ रुपया है बड़े-बड़े विद्यालयों में अपने लड़कों को भेज सकते हैं, न्यायालयों में फीस देकर अपने मुकदमे दाखिल कर सकते हैं, अत्यन्त भीरु और कायर होकर बहादुर कहला सकते हैं, राज धर्म, आचार्य धर्म, वीर धर्म, सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टका धर्म हो गया । धन की पैठ मनुष्य के सब कार्य-क्षेत्र में करा देने

से, उसके प्रभाव को इतना विस्तृत कर देने से, बाह्मण-धर्म और क्षात्र-धर्म का लोप हो गया ; केवल वणिक धर्म रह गया ।''[38]

समाज में बेवजह बड़प्पन दिखाने से समाज में शान्ति एवं सुव्यवस्था नहीं बनाई जा सकती । समाज में शक्ति बल आधिक्य व प्रदर्शन को वे श्रेष्ठ नहीं मानते हैं – ''इस प्रकार की शान प्रायः किसी शक्ति के अनुचित प्रयोग में अधिक समझी जाती है । कोई पुलिस का कर्मचारी जब अपने पद का अभिमान प्रकट करता है तब यह नहीं कहता है कि मैं जिस बदमाश को चाहूँ उसको पकड़कर तंग कर सकता हूँ बल्कि यह कहता है कि मैं जिसको चाहूँ उसको पकड़कर तंग कर सकता हूँ ।''[39]

सामाजिक वर्ण-व्यवस्था का समर्थन शुक्ल जी ने गुण-कर्म के आधार पर किया है। उन्होंने तुलसीदास के वर्णाश्रम का ही समर्थन किया है । इस व्यवस्था के समर्थन में शुक्ल जी ने लिखा है – ब्राह्मणों और क्षत्रियों को लोक हित के लिए अपने व्यक्तिगत सुख को हर घड़ी त्याग करने के लिए तैयार रहना पड़ता था । ब्राह्मणों को तो सदा अपने व्यक्तिगत सांसारिक सुख की मात्रा कम रखनी पड़ती थी । क्षत्रियों को अवसर विशेष पर अपना सर्वस्व अपने प्राण तक छोड़ने के लिए उद्यत होना पड़ता था । शेष वर्णों को अपने व्यक्तिगत या पारिवारिक सुख की व्यवस्था के लिए सब अवस्थाओं में पूरा अवकाश रहता था । अतः उच्च वर्ण में अधिक मान या अधिक अधिकार के साथ कठिन कर्त्तव्यों की योजना और निम्न वर्णों में कम मान और कम सुख के साथ अधिक अवस्थाओं में आराम की योजना जीवन-निर्वाह की दृष्टि से सामंजस्य रखती थी । तत्कालीन सामाजिक परिवेश में नीची श्रेणियों में उच्च श्रेणियों के प्रति ईर्ष्या-द्वेष का भाव क्यों नहीं जागृत होता था, इसके लिए शुक्ल जी कहते हैं – ''जब तक उच्च श्रेणियों के कर्त्तव्य की कठिनता प्रत्यक्ष रहेगी – कठिनता के साक्षात्कार के अवसर आते रहेंगे – तब तक नीची श्रेणियों में ईर्ष्या-द्वेष के भाव नहीं जागृत हो सकते ।''[40]

शुक्ल जी ने गृह धर्म या कुल धर्म से समाज धर्म को श्रेष्ठ माना है – ''गृह धर्म

या कुल धर्म से समाज धर्म श्रेष्ठ है, समाज धर्म से लोक धर्म, लोक धर्म से विश्व धर्म, जिसमें धर्म अपने शुद्ध और पूर्ण स्वरूप में दिखाई पड़ता है ।''[41] अपने समकालीन समाज की व्याख्या करते हुए शुक्ल जी जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, वह उनके विकासवादी और द्वन्द्वात्मक चिंतन का विकृत रूप उजागर करता है । पूँजीवादी युग को उन्होंने ह्रास का युग माना । ह्रास का कारण है – अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद । इसने वर्णाश्रम का नाश कर दिया, यहाँ मुकुटधारी ईश्वर के परिमण्डल की लोक व्यवस्थापक शक्तियाँ तिरोभूत हो गईं । वे लिखते हैं– जिस समाज में सुख और वैभव के रंग में रंगी ऐसी लीक दिखाई पड़े उसमें रक्षा करने वाली आत्मा का अभाव तथा विश्वात्मा की विशेष कला के अवतार की आवश्यकता समझनी चाहिए ।''[42] उन्होंने समाज की रक्षा हेतु क्षात्र-धर्म की कल्पना की थी । वे राम-कृष्ण को समाज के राजा के रूप में देखना चाहते हैं – ''जनता के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाला क्षात्र धर्म है । क्षात्र धर्म के इसी व्यापकत्व के कारण हमारे मुख्य अवतार राम और कृष्ण क्षत्रिय हैं – ''कोई राजा होगा तो अपने घर का होगा इससे बढ़कर झूठ बात शायद ही कोई मिले ।''[43] क्षात्र धर्म की प्रतिष्ठा से ही समाज में सुख-शान्ति स्थापित हो सकती है – ''जब तक यह व्यापारोन्माद दूर न होगा, तब तक पृथ्वी पर सुख-शान्ति न होगी । दूर वह अवश्य होगा। क्षात्र-धर्म की संसार में एक बार फिर प्रतिष्ठा होगी, चोरी का बदला डकैती से लिया जायेगा।''[44]

शुक्ल जी समाज सुधार के अभिलाषी थे । ''वे आधुनिक व्यक्ति थे । उन्होंने आधुनिक वैज्ञानिक उपलब्धियों का विधिवत अध्ययन किया था । उन्हें भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों की भी अच्छी समझ थी । उन्होंने कभी भी अंध रूढ़ियों का समर्थन नहीं किया । वे सामंतीय मूल्यों के भी विरोधी थे । उन्हें अधिकारियों की जी हजूरी से चिढ़ थी । वे चित्तवृत्तियों के परिवर्तन में विश्वास करते थे और सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों के परिवर्तन को उसका कारण मानते थे । वे मर्यादावादी होने के कारण सुधारों की झोंक में

बिना सोचे-समझे पारंपरिक मूल्यों में परिवर्तन नहीं करना चाहते थे । उन्हें अपने देश की दुर्दशा की चिंता थी । सामान्य जनता से उन्हें गहरी सहानुभूति थी । उन्हें देश की पराधीनता खलती थी । वे आधुनिक विश्व व्यवस्था से परिचित थे और उसकी दुर्बलताओं को भी अच्छी तरह समझते थे । उनकी शक्ति या दुर्बलता जो चाहे कह लें, यह थी कि वे अपनी दृष्टि से दूसरों का आकलन करते थे । वे अपनी उदात्त परम्परा के उदात्त तत्त्वों को आधुनिक संदर्भ के अनुकूल विकसित करना चाहते थे । ..... उनके सामाजिक विचारों को हमें मुख्यतः एक संवेदनशील और प्रबुद्ध आलोचक की समाज चिन्ता के रूप में ही देखना चाहिए । उन्होंने समाज हित की भावना को अपनी रसवादी आलोचना का महत्त्वपूर्ण अंग बना लिया था। उनका मानना था कि जब लोक में अन्याय, अनीति, अनाचार और अधर्म बढ़ जाता है, तब सज्जन और सात्विक वृत्ति के लोग कष्ट पाने लगते थे, तब दुःख की छाया को हटाने के लिए ब्रह्म की आनन्द कला शक्तिमय रूप धारण करके मनुष्य रूप में अवतरित होती है । राम और कृष्ण इसी प्रकार के अवतार थे । थे वे मनुष्य ही - उनकी विशेषता थी कि उनमें 'सत्व गुण' का प्रधान्य था । रज और तम सत्त्व के अधीन रहकर अपने कार्य करते हैं । करुणा और उच्च दशा का प्रेम ये सत्त्व गुण के द्योतक हैं । राम जैसे हमारे राष्ट्र नायक ने करुणा से प्रेरित होकर रावण जैसे तमोगुणी लोक पीड़क का संहार किया । उसके बाद ही उन्होंने रामराज्य की स्थापना की । इस रामराज्य को शुक्ल जी आदर्श शासन-व्यवस्था मानते हैं । यह व्यवस्था लोक मंगल करने वाली है ।''[45]

इस प्रकार शुक्ल जी की समाज चिन्ता लोक-मंगल में अवस्थित है । उन्हें समाज एवं सामाजिक परिस्थितियों का पूर्ण ज्ञान था । समाज में उपस्थित कुरीतियों एवं अंधविश्वास से भी वे अनभिज्ञ न थे । वे दोष मुक्त समाज की स्थापना के पक्षपाती थे जिसमें सभी सुख एवं आनंद के साथ मिलजुलकर रह सकें । समाज का नेतृत्व अच्छे लोग करें तभी एक आदर्श समाज का निर्माण हो सकता है । दरअसल हमें समाज-सुधारक, राजनीतिक

आन्दोलन कर्ता, कवि और शिक्षाविद् – इन सबकी एक ही साथ एक ही समय में जरूरत है, लेकिन उससे भी ज्यादा हमें ऐसे लोगों की जरूरत है, जिनको यह देखना हो कि किसी विशेष कार्य क्षेत्र में किसी विशिष्ट अवसर की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त लोग हैं या नहीं ?''[46] ये ही लोग समाज की आधारशिला है । इनसे ही सामाजिक सम्बंधों की नींव मजबूत होती है । सामाजिक एकता इसी पर निर्भर है ।

4.ग. धार्मिक दृष्टिकोण :

धर्म संस्कृति का अनिवार्य और प्रमुख अंग है । धर्म मानव हृदय की एक उच्च और उदार, पुनीत और पवित्र भावना है । धार्मिक भावना से मनुष्य में सात्विक प्रवृत्तियों का उदय होता है । परोपकार, समाज सेवा, सहयोग, सहानुभूति की भावनाएँ जागृत होती हैं । धर्म के लिए मानव को शुभ कार्य करना चाहिए और अशुभ का परित्याग । धार्मिक मनुष्य भौतिक सुखों की अवहेलना करता है, कष्ट सहता है परन्तु अपने कर्म के मार्ग से विचलित नहीं होता । हिन्दू धर्मानुसार मनुष्य की आत्मा अजर-अमर है और शरीर नाशवान है । मृत्यु के पश्चात् भी मनुष्य अपने सूक्ष्म शरीर से अपने किए हुए शुभ और अशुभ कर्मों का फल भोगता है । धार्मिक लोग स्वर्ग, नरक और परलोक में आस्था रखते हैं । उनका विचार है इस अल्प जीवन में सुख भोगने की अपेक्षा अपने परलोक को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए और इसके लिए पुण्य कर्म परमावश्यक हैं । इन धार्मिक शिक्षाओं से असंख्य भारतीयों का जीवन पुण्य कार्यों की ओर बढ़ा है और उन्होंने मनुष्यत्व से देवत्व प्राप्त किया । कितने ही महापुरुषों ने अपना जीवन धर्म और परहित के लिए उत्सर्ग कर दिया । कई पथभ्रष्टों को सही रास्ता दिखाया, इन महापुरुषों के प्रभाव से कितने ही नीच एवं दुष्ट व्यक्तियों का जीवन सुधर गया । ऐसे महापुरुषों के प्रति लोगों में श्रद्धा उमड़ती है । उनके संकेत पर अनेक देवालयों की स्थापनाएँ हुईं । धार्मिक लोगों के अन्तःकरण में लोक-सेवा की व्यापक भावना होती है ।

धर्म की आड़ में अधर्म भी पनपता है । धर्म के वास्तविक सिद्धान्तों में विकार भी उत्पन्न हुए । धर्मोपदेशकों, महात्माओं, साधुओं ओर पंडितों में मिथ्याडम्बर की भावना भर गई। त्याग, सेवा, पथ-प्रदर्शन की भावनाएँ समाप्त होने लगीं । धर्म के ठेकेदार भोली-भाली जनता को धार्मिक प्रपंच से ठगने लगे और जनता उनके भुलावे में आकर पथ भ्रष्ट होने लगी। जो धर्म समाज को उन्नति की ओर ले जा रहा था वह अंधविश्वास और अंध श्रद्धा में बदलकर पतन का कारण बन गया । पंडित, पुरोहित तथा धर्म गुरु धन लेकर यजमान का स्थान स्वर्ग में सुनिश्चित करने लगे । अनुष्ठानों एवं कर्मकाण्डों के बीच पाखण्ड, आडम्बर, व्यभिचार और भ्रष्टाचार पनपने लगा । धर्म का रूप कुत्सित और मलिन होने लगा । सत्य तो यह है कि धर्म ने अधर्म का चोला पहन लिया। धर्म की ऐसी विषम एवं विकृत स्थिति को देखकर साहित्यकार भला कैसे चुप रहते । उन्होंने लोगों को पुनः धार्मिकता की ओर बढ़ने का आह्वान किया ।

शुक्ल युग को धार्मिक परिस्थितियों की दृष्टि से संक्रातिकाल कहा जा सकता है । भारतीय सभ्यता संस्कृति पर पाश्चात्य सभ्यता संस्कृति का जो प्रभाव पड़ा उसका परिणाम इस युग में दिखाई पड़ने लगा । वैज्ञानिक बुद्धिवादी दृष्टिकोण और विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं आदि से मिलकर हमारे धार्मिक स्वरूप के खोखलेपन को उभारकर रख दिया। जहाँ भारतीय समाज विदेशी धर्म, संस्कृति और सभ्यता की ओर झुकता गया वहीं कुछ महिमा मंडित व्यक्तियों ने धर्म के सही स्वरूप को उजागर करना शुरू किया । स्वामी दयानन्द सरस्वती, राजा राममोहन राय आदि के प्रयासों से धर्म का सच्चा स्वरूप प्रकट हुआ और भारतीय धर्म की प्रतिष्ठा विदेशों में भी फैली । परिणाम स्वरूप भारतीय समाज में अपने धर्म के प्रति निष्ठा, श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न हुआ । पाश्चात्य के प्रति आकर्षण कम हुआ ।

इस बदलती तस्वीर को शुक्ल जी ने अपनी आँखों से देखा था । उन्होंने अपने निबन्धों में मानवोचित धर्म का ही प्रतिपादन किया है – ''संसार जैसा है, वैसा मानकर उसके

बीच से एक-एक कोने को स्पर्श करता हुआ, जो धर्म निकलेगा वही लोक-धर्म होगा । जीवन के किसी एक अंग मात्र को स्पर्श करने वाला धर्म-लोक धर्म नहीं ।''[47] लोक धर्म के साथ स्वभावतः व्यक्ति धर्म भी संलग्न रहता है । इसको स्पष्ट करने के लिए वे कहते हैं – ''जो धर्म उपदेश द्वारा न सुधरने वाले दुष्टों और अत्याचारियों को दुष्टता के लिए छोड़ दे, उनके लिए कोई व्यवस्था न करे वह लोक धर्म नहीं व्यक्तिगत साधना है । यह साधना मनुष्य की वृत्ति को ऊँचे से ऊँचे ले जा सकती है और जहाँ वह लोक धर्म से परे हो जाती है । पर सारा समाज उसका अधिकारी नहीं । जनता की प्रवृतियों का औसत निकालने पर धर्म का जो मान निर्धारित होता है, वही लोक धर्म होता है।''[48]

विकासवाद के सिद्धान्त को शुक्ल जी ने क्रमशः धर्म एवं समाज पर प्रतिफलित करके देखा । उन्होंने धर्म को ईश्वर प्रदत्त व्यवस्था न मानकर सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रिया स्वरूप समुत्पन्न माना है । उन्होंने धर्म का आधार अध्यात्म या रहस्यवाद में न ढूँढकर सामाजिक सुरक्षा एवं लोक रक्षा में देखा है । परस्पर व्यवहार द्वारा समाज में जो मूल्य विकसित हुए कालान्तर में समाज ने उन्हें ही धर्म स्वीकार किया । इनका आधार जीवन एवं जगत् के अनिवार्य व्यापार थे – ''इसी प्रकार धर्माधर्म या कर्त्तव्य शास्त्र की नींव भी लोक रक्षा और फलतः आत्म रक्षा पर डाली गई । ..... लोक व्यवहार और समाज विकास की दृष्टि से ही धर्म और आचार की व्याख्या की गई है, परलोक और अध्यात्म की दृष्टि से नहीं। दूसरों के प्रति जो आचरण हम करते हैं उसी में अच्छे और बुरे का आरोप हो सकता है । व्यवहार सम्बंध से ही क्रमशः सद् सद् विवेक बुद्धि उत्पन्न हुई है । व्यवहार सम्बंध जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक था ।''[49] धर्म मानव को इन्द्रियों पर अंकुश लगाना सिखाता है । परस्पर एकता बनाए रखने के लिए भी धर्म अति आवश्यक है – ''इस धर्म के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्वार्थ वृत्ति और इच्छा पर कुछ अंकुश रखना पड़ता था । यदि प्रत्येक मनुष्य मन माना कार्य करने लगे, दूसरों का कुछ भी ध्यान न रखे, तो धर्म व्यवस्था और

उसके आधार पर स्थित समाज व्यवस्था नहीं रह सकती । अतः किसी समाज को बद्ध रखने के लिए यह धर्म व्यवस्था आवश्यक है । चोरों और डाकुओं तक के दल में यह धर्म व्यवस्था पाई जाती है। चोर चाहे दुनिया भर का माल चुराया करें पर अपने दल के भीतर उन्हें धर्म व्यवस्था रखनी पड़ती है । वे यदि आपस में अन्याय और बेइमानी करने लगें तो उनका दल टूट जायेगा । अतः सिद्ध हुआ कि लोक या समाज को धारण करने वाला धर्म है । इसी से कहा गया है कि – ''धर्मो रक्षति रक्षितः ।''[50]

धर्म की मान्यता कहाँ से आरंभ हुई इस विषय में शुक्ल जी लिखते हैं – ''विकासवाद की व्याख्या के अनुसार धर्म कोई अलौकिक नित्य और स्वतंत्र पदार्थ नहीं है । समाज के आश्रय से ही उसका क्रमशः विकास हुआ है । धर्म का कोई ऐसा सामान्य लक्षण नहीं बताया जा सकता जो सर्वत्र और सब काल में - मनुष्य जाति की जब से उत्पत्ति हुई है तब से अब तक बराबर मान्य रहा हो । समाज की ज्यों-ज्यों वृद्धि होती गई त्यों-त्यों धर्म की भावना में भी देश कालानुसार फेरफार होता गया । ..... धर्म का विकास धीरे-धीरे समाज की उन्नति के साथ हुआ है । अतः विकासवादियों के अनुसार इहीलोक या समाज से परे धर्म कोई नित्य और स्वतः प्रमाण पदार्थ नहीं है ।''[51] शुक्ल जी ने यह माना है कि हमारी प्राचीन धार्मिक चेतना प्राकृतिक शक्तियों से जुड़कर चलती है और उसे न समझ पाने के कारण उन प्राकृतिक शक्तियों में विभिन्न देवताओं की परिकल्पना कर लेती है । कालान्तर में धार्मिक उपासना, प्रार्थना, पूजा आदि रिवाजों का प्रचलन बढ़ा और अनेक धार्मिक सम्प्रदाय मत मजहबों का जन्म हुआ । जब मानव प्रकृति की दासता के विरूद्ध संघर्ष करते हुए आगे बढ़ा तो मानव और भगवान के बीच मध्यस्थता करने वाले पंडित, मौलवी, काजी या पुरोहित पैदा हुए । पहले तो ये विधि-विधान पूर्वक पूजा-अर्चना करते रहे लेकिन कालान्तर में धार्माडम्बरों की वृद्धि होती गई । धर्माडम्बर की तरफ शुक्ल जी ने दृष्टि-निक्षेप नहीं किया । उन्होंने धर्म शास्त्रीय धारणाओं की कट्टरता से वकालत भी नहीं की क्योंकि वे यह कभी नहीं मानते कि

धर्म या कर्तव्य के सिद्धान्तों को भगवान ने जन्म दिया है और ये भगवान की इच्छा को व्यक्त करते हैं ।

आस्तिकता के भाव को शुक्ल जी ने किसी कसौटी पर नहीं कसा वे तो यही मानते हैं – ''धर्म है ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति, जिसकी असीमता का आभास अखिल विश्व स्थिति में मिलता है । इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार परिवार और समाज ऐसे छोटे क्षेत्रों से लेकर समस्त भूमंडल और अखिल विश्व तक के बीच में किया जा सकता है ।''[52] भारतीय आध्यात्मिक चिंतन में धर्म द्वारा मोक्ष एवं स्वर्ग की प्राप्ति मानी गई है । शुक्ल जी ने ज्ञान कर्म और भक्ति के योग में धर्म की पूर्णता दर्शायी है – ''हमारे यहाँ धर्म से अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की सिद्धि कही गई है । अतः मोक्ष का किसी ढंग के मोक्ष का मार्ग धर्म मार्ग से बिल्कुल अलग नहीं जा सकता । धर्म का विकास इसी लोक के बीच हमारे परस्पर व्यवहार के भीतर होता है । हमारे परस्पर व्यवहारों का प्रेरक हमारा रागात्मक या भावात्मक हृदय होता है । अतः हमारे जीवन की पूर्णता कर्म, धर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों के समन्वय में है । साधना किसी प्रकार की हो, साधक की पूरी सत्ता के साथ होनी चाहिए – ''उसके किसी अंग को सर्वथा छोड़कर नहीं ।''[53]

आध्यात्मिकता के अन्तर्गत ईश्वर (ब्रह्म), जीव, जगत (प्रकृति) को रखा जाता है । शुक्ल जी ने भी तीनों की सत्ता को माना है । ब्रह्म की अलौकिकता के सम्बंध में वे लिखते हैं– ''आत्म बोध और जगत् बोध के बीच ज्ञानियों ने गहरी खाई खोदी, पर हृदय ने कभी उसकी परवाह नहीं की, भावना दोनों को एक ही मानकर चलती रही । इस जगत् के बीच जिस आनन्द मंगल की विभूति का साक्षात्कार होता रहा, उसी दृश्य के स्वरूप की नित्य और चरम भावना द्वारा भक्तों के हृदय में भगवान के स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई । लोक में इसी स्वरूप के प्रकाश को किसी ने 'रामराज्य' कहा, किसी ने 'आसमान की बादशाहत' यद्यपि मुसाइयों और उनके अनुगामी इसाइयों की धर्म पुस्तक में आदम को खुदा की प्रतिभूति बताया

गया पर लोक के बीच नर में नारायण की दिव्य कला का सम्यक् दर्शन और उसके प्रति हृदय का पूर्ण निवेदन भारतीय भक्ति-मार्ग में ही दिखाई पड़ा ।''[54]

शुक्ल जी ने अध्यात्मवाद, भाववाद और अद्वैत आत्मवाद को पर्याय माना है – ''अद्वैत पक्ष दो प्रकार का है – आधिभौतिक और आध्यात्मिक ।''[55] आधिभौतिक अद्वैत केवल एक महाभूत की सत्ता मानता है और आत्मा या मन को उसी का एक गुण या अभिव्यक्ति विशेष कहता है । इसके अनुसार आत्मा कोई अलग तत्त्व या सत्ता नहीं ।''[56] शुक्ल जी ने एक ईश्वर की ही पुष्टि की है – ''उपनिषत्काल में एक ईश्वर या ब्रह्म की भावना परिपक्व होकर पूर्ण रूप से जब प्रतिष्ठित हुई तब तक भूमण्डल पर शायद काबूल को छोड़कर और कहीं नहीं हुई थी । पर उस ईश्वर या ब्रह्म को लेकर प्राचीन आर्य दूसरी सभ्य या असभ्य जातियों का गला काटने के लिए नहीं दौड़े थे । उन्हें यह पूर्ण ज्ञान था कि यह 'एक' 'अनेक' की समष्टि है अथवा अनेक इस 'एक' के ही आभास हैं । '' वे पुनः निष्कर्ष पूर्ण ढंग से कहते हैं– 'भेदों में अभेद दृष्टि ही सच्ची तत्त्व दृष्टि है । इसी के द्वारा सत्ता का आभास मिल सकता है । यही अभेद ज्ञान और धर्म दोनों का लक्ष्य है । विज्ञान इसी की खोज में है, धर्म इसी की ओर दिखा रहा है ।''[57]

'प्रकृति' को शुक्ल जी ने ''भगवान का व्यक्त स्वरूप माना है ।''[58] 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' नामक निबन्ध में शुक्ल जी ने प्रकृति का दार्शनिक और साहित्यिक दोनों दृष्टियों से विवेचन किया है, वह अपनी मौलिकता, प्रौढता, व्यापकता के कारण आज भी अद्वितीय है । ''काव्य का जो चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव करना है, (दर्शन के समान केवल ज्ञान करना नहीं) उसके साधन में भी अहंकार का त्याग आवश्यक है। जब तक इस अहंकार से पीछा न छूटेगा, तब तक प्रकृति के सब रूप मनुष्य की अनुभूति के भीतर नहीं आ सकते ।''[59] तात्त्विक दृष्टि से अद्वैतवाद और व्यवहारिक दृष्टि से भाव योग

का जिस रूप में शुक्ल जी ने निरूपण किया है वह इस व्यक्त जगत् में सर्वत्र उस अव्यक्त ब्रह्म की सत्ता का नाना रूपों में अनुभव कराता है – ''सम्पूर्ण सत्ताएँ एक ही परम सत्ता और सम्पूर्ण भाव एक ही परम भाव के अन्तर्भूत हैं । अतः बुद्धि की क्रिया से हमारा ज्ञान जिस अद्वैत भूमि पर पहुँचता है, उसी भूमि तक हमारा भावात्मक हृदय भी इस सत्ता रस के प्रभाव से पहुँचता है । इस प्रकार अन्त में जाकर दोनों पक्षों की वृत्तियों का समन्वय हो जाता है। इस समन्वय के बिना मनुष्यता की साधना पूरी नहीं हो सकती ।''[60]

आचार्य शुक्ल द्वारा जो धर्म के मूल तत्त्व माने गए हैं, वे मानवीय मूल्य हैं जैसे – परोपकार, करुणा, श्रद्धा, भक्ति, आचरण की शुद्धता, पवित्रता, सत्याचरण, प्रेम आदि । ये मूल्य सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक हैं । इन मूल्यों को धारण करने के पश्चात् ही मानव पूर्ण मानव बनता है । इन मूल्यों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आता । धर्म के बाह्य तत्त्व देश-काल परिस्थिति अनुरूप परिवर्तित होते हैं । धर्म के केन्द्रीय मूल्यों को मानने से किसी प्रकार का मतभेद लड़ाई-झगड़ा नहीं होता, लेकिन जो लोग बाह्य स्थूल तत्त्वों को धर्म मानते हैं उनके बीच मतभेद उत्पन्न होते हैं । ऐसे लोग स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करना चाहते हैं । साम्प्रदायिक झगड़े इसी भेद भाव के प्रतिफल हैं ।

इस आधुनिक युग में स्वर्ग का सुख नरक की यातना पाप-पुण्य आदि बातें नगण्य हैं । शुक्ल जी कहते हैं – ''ईश्वर साकार है कि निराकार, लम्बी दाढ़ी वाला, है कि चार हाथ वाला, अरबी बोलता है कि संस्कृत, मूर्ति पूजने वालों से दोस्ती रखता है कि आसमान की ओर हाथ उठाने वालों से, इन बातों पर विवाद करने वाले अब केवल उपहास के पात्र हांगे ।''[61] संकीर्ण विचारधाराएँ लोगों को उत्तेजित करती हैं । मत-मजहबों से एक दूसरे पर अपनी बात थोपने की प्रवृत्ति जाग उठती है जिससे साम्प्रदायिक विद्वेष की ज्वालाएँ धधकने लगती हैं । शुक्ल जी ने मतों एवं सम्प्रदायों में प्रचलित ईश्वर सम्बंधी अवैज्ञानिक भ्रान्त धारणाओं का खण्डन किया है ।

शुक्ल जी ने विज्ञान एवं धर्म दोनों को अपने विवेचन का विषय बनाया । वे लिखते हैं – ''अब जिन्हें मैदान में जाना हो वे ज्ञान-विज्ञानों से तथ्य संग्रह करके सीधे उस सीमा पर जाएँ, जहाँ दो पक्ष अड़े हुए हैं – एक ओर आत्मवादी दूसरी ओर अनात्मवादी, एक ओर जड़वादी दूसरी ओर नित्य चैतन्यवादी।''[62] शुक्ल जी यह नहीं चाहते कि ईश्वर को भुलाकर विज्ञान के अनुसंधान द्वारा संसार के नियमों को जाना जाये । वे दोनों का समर्थन करते हैं– ''यदि चैतन्य की नित्य सत्ता सर्वमान्य हो गई तो फिर सब मतों की भावना का समर्थन हुआ समझिए क्योंकि चैतन्य स्व स्वरूप है ।''[63] शुक्ल जी के मन में विज्ञान एवं धर्म के बीच सहयोग का भाव है । दोनों का मूल उद्देश्य एक ही सत्य की प्राप्ति है । लेकिन विज्ञान वह दिशा देता है जहाँ धर्म की रूढ़िवादिता से मुक्ति मिलती है । शुक्ल जी अपने वैज्ञानिक चिंतन में धर्म के भाववादी जाल से मुक्त नहीं हो पाये हैं, उन्होंने धर्म और विज्ञान एक ही बिन्दु पर लाने की कोशिश की है । यह धर्म उनके विश्व सम्बंधी दृष्टिकोण पर ही नहीं वरन् सामाजिक, राजनीतिक एवं अन्य विचारों पर भी प्रभाव डालता है ।

डॉ. विजयेन्द्र स्नातक लिखते हैं – ''उनका दृष्टिकोण विशुद्ध वैज्ञानिक है । वैज्ञानिक अवधारणाओं एवं दार्शनिक उत्पत्तियों का समुच्चय ही उनके समग्र जीवन-दर्शन की आधारशिला है । वह धर्म को समाज की स्थिति के लिए प्रमुख स्थान पर रखते हुए धर्म की वैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्या करते हैं । किसी रूढ़ साम्प्रदायिक संकीर्णता में धर्म की उन्होंने परिभाषा नहीं की । धर्म की व्याख्या करते समय लोक-धर्म को सर्वोच्च माना है, व्यक्ति धर्म कुल धर्म, समाज धर्म आदि को इसके भीतर प्रतिष्ठित किया है । लोक धर्म लोक सापेक्ष्य और गत्यात्मक है । इसी लोक-धर्म को उन्होंने लोग-मंगल और लोक-संग्रह से जोड़ा है । धर्म के अन्तर्गत् उन्होंने ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों को समाविष्ट किया है । मानव जीवन की सफलता के लिए तीनों का समन्वय आवश्यक है ।''[64]

4.घ. साहित्यिक दृष्टिकोण :

किसी भी देश का साहित्य वहाँ की राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आचरण का दस्तावेज होता है। वह अपने समय की सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक घटनाओं, और घात-प्रतिघातओं का ज्वलंत प्रमाण होता है। युगीन प्रवृत्तियाँ उसे रूप एवं आकार ही नहीं देती अपितु संयमन एवं नियमन का विवेक पूर्ण हथियार भी बनाती हैं । अतः स्पष्ट है कि राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक विसंगतियाँ साहित्य को प्रभावित करती हैं । शुक्ल जी लिखते हैं – ''साहित्य किसी जाति का रक्षित वाणी की वह अखंड परम्परा है जो उसके जीवन के स्वतंत्र स्वरूप की रक्षा करती हुई जगत् की गति के अनुरूप उत्तरोत्तर उसका अन्तर्विकास करती चलती है । उसके भीतर प्राचीन के साथ नवीन का इस मात्रा में और इस सफाई के साथ मेल होता चलता है कि उसके दीर्घ इतिहास में कालगत विभिन्नताओं के रहते हुए भी यहाँ से वहाँ तक एक ही वस्तु के प्रसार की प्रतीति होती है ।''[65]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एक ऐसे विद्वान् हैं जिन्होंने हिन्दी साहित्य के माध्यम से भारत की राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना का उन्नयन किया है । उनकी साहित्यिक यात्रा का आरंभ कविताओं से हुआ था । यह वह समय था जब भारतीय जनता स्वतंत्रता के स्वप्न देख रही थी । विभिन्न आन्दोलनों के कारण भारतीय जनता ऊहापोह की स्थिति में थी । हिन्दी साहित्य में भी विभिन्न वाद आन्दोलनों की भूमिका निभा रहे थे । जैसे छायावाद, प्रगतिवाद आदि । इन वादों के जन्म-मरण के सम्बंध में शुक्ल जी का कथन है – ''यूरोप में साहित्य सम्बंधी आन्दोलनों की आयु बहुत थोड़ी होती है । कोई आन्दोलन 10 या 20 वर्ष से ज्यादा नहीं चलता । ऐसे आन्दोलनों के कारण वहाँ बीसवीं शताब्दी में आकर काव्य क्षेत्र के बीच बड़ी गहरी गड़बड़ी और अव्यवस्था फैली । काव्य की स्वाभविक उमंग के स्थान पर नवीनता के लिए आकुलता मात्र रह गयी ।''[66] शुक्ल जी को साहित्य में किए जा रहे प्रयोग नापसन्द थे । साहित्यिक क्षेत्र में चल रहे प्रयोग एवं साहित्यकारों के बीच अलगाव आदि से अति क्षुब्ध

थे । तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था के प्रति भी उनमें रोष था क्योंकि तत्कालीन चल रहे आन्दोलनों ने ही हिन्दी साधकों एवं साहित्यकारों की चिंतन क्षमता एवं लेखनावधि को प्रभावित किया ।

युग और राजनीति के घात-प्रतिघात के समक्ष चट्टानवत खड़ा रहने वाला साहित्यकार राजनीतिक स्थिरता मिलते ही या तो समझौता परस्त हो जाता है या फिर कोरी मानसिक विलासिता का शिकार बन जाता है । शुक्ल जी इसके खिलाफ थे उनका मानना था साहित्यकारों को अपना साहित्य समाज-सत्य के सामाजिक संदर्भ में ही लिखना चाहिए । जन समाज में घुल मिलकर उससे शक्ति प्रेरणा और संवेदना ग्रहण करना ही सच्ची साहित्यिक साधना है । इस कसौटी पर शुक्ल जी के निबन्ध पूरी तरह खरे उतरते हैं । उन्होंने कविता, निबन्ध, उपन्यास, जीवनी, कहानी आदि सभी विधाओं में अपनी लेखनी चलाई । निबन्धों के माध्यम से गद्य की साहित्यिक विधाओं का विस्तृत विवेचन भी प्रस्तुत किया ।

शुक्ल जी मूलतः कवि हृदय थे, भावुक थे । प्रारंभ का कवि हृदय जब समीक्षा क्षेत्र की ओर बढ़ा तो निबन्ध-साहित्य को भी रस सम्पन्न करते हुए आगे बढ़ा है । परिणामतः काव्य-रस के सदृश निबन्ध को भी रसमय बना दिया । उनका साहित्यिक सिद्धान्त मानवीय पहल से सम्बद्ध है । डॉ. त्रिभुवन राय लिखते हैं – ''नवजागरण की चेतना की ठोस जमीन पर खड़े पं. रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के वह पहले आचार्य चेता चिन्तक हैं, जिन्होंने पारम्परिक भारतीय चिन्तन के उदात्त मूल्यों के साथ मनुष्य की प्रतिष्ठा की दृष्टि से उपयोगी एवं ग्राह्य पश्चिम की वैज्ञानिक एवं चिन्तात्मक अवधारणाओं के आलोक में जीवन एवं साहित्य पर अपेक्षया वस्तुन्मुखी दृष्टि से विचार किया । अपने विचारों के उपक्रम में उन्होंने काव्य को जीवन से संपृक्त करके तो देखा ही उसे जीवन के उन्नयनकारी उत्कृष्ट माध्यम के रूप में देखने-परखने की एक अभिनव दृष्टि भी दी ।''[67]

काव्य साधना को लोक सामान्य भाव-भूमि पर ले जाने वाला माना है – ''कविता

ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ सम्बंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है । जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है, उस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुल काल के लिए अपना पता नहीं रहता ।''[68] शुक्ल जी ने कविता को लोक हित की दृष्टि से देखा था । उन्हें वही कविता प्रिय है जो नाना पदार्थों के साथ उनका प्रकृत सम्बंध प्रत्यक्ष करती है । वे काल लक्ष्य को एक सीमा तक ही संकुचित न रखकर उसे व्यापक क्षेत्र में प्रतिष्ठित करना चाहते थे । उन्होंने मनुष्य के लिए काव्य को प्रयोजनीय वस्तु माना है – ''मनुष्य के लिए कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य-असभ्य सभी जातियों में किसी न किसी रूप में पायी जाती है । चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता का प्रचार अवश्य रहेगा । ..... अन्तः प्रकृति में मनुष्यता को समय-समय पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य जाति के साथ लगी चली आ रही है और चली चलेगी ।''[69]

भारतीय काव्यशास्त्र के परम्परागत रूप को हृदयंगम कर शुक्ल जी ने उसका ज्यादातर समर्थन ही किया है । रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि के विषय में उन्होंने अपने संशोधित विचार अवश्य रखे हैं, किन्तु इन सम्प्रदायों से दूर हटकर नयी बात नहीं कही है । वे काव्य और उससे प्राप्त होने वाली रसानुभूति को भौतिक धरातल पर उतारते हुए उसके लिए इतना ही पर्याप्त मानते हैं कि हमारा हृदय थोड़ी देर के लिए उसमें लीन हो जाये। ''रस के सम्बंध में भरतमुनि से लेकर पंडित राज जगन्नाथ तक जो विचार हैं उनका अध्ययन-मनन करके अपनी रस विषयक धारणा बनाई । उनका मानना है कि – क्रोध, भय, जुगुप्सा और करुणा की अनुभूति दुःखात्मक होती है । करुण रस प्रधान नाटक के दर्शकों के आँसुओं के सम्बंध में यह कहना कि आनन्द में भी तो आसूँ आते हैं । केवल बात टालना है, दर्शक वास्तव में दुःख ही का अनुभव करते हैं । हृदय की मुक्त दशा होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है ।''[70]

अलंकार और रीति सम्प्रदाय की प्रचलित रूढ़ मान्यताओं को भी शुक्ल जी ने ठुकरा दिया है । उन्होंने ऐसे कवियों का डटकर विरोध किया जिन्होंने अलंकारों का अंबार तो लगाया लेकिन ये अलंकार भाव-सौन्दर्य की वृद्धि नहीं करते थे । रीतिकालीन कवियों की शुक्ल जी ने अच्छी खिंचाई की है – ''हिन्दी के रीतिकाल के कवि तो मानो राजाओं के यहाँ राजाओं की कामवासना उत्तेजित करने के लिए रखे जाते थे । एक प्रकार के कविराज तो रईसों के मुख में मकरध्वज का रस झोंकते थे, दूसरे प्रकार के कविराज कान में मकरध्वज की पिचकारी देते थे । पीछे से तो ग्रीष्मोपचार आदि के नुस्खे भी कवि लोग तैयार करने लगे।''[71] शुक्ल की साहित्यिक समीक्षा में नैतिक मूल्यों का आग्रह था । वे साहित्य को लोक-मंगल एवं लोक-संग्रह के रूप में देखा करते थे ।

शुक्ल जी ने उपन्यास विधा के विषय में भी निबन्ध के माध्यम से विचार व्यक्त किए हैं । उपन्यास क्या है ? यह कैसे लिखा जायें ? समाज में इससे क्या प्रभाव पड़ता है ? उपन्यास कैसे होने चाहिए आदि विषयों का प्रतिपादन किया है । वे लिखते हैं – उपन्यास साहित्य का एक प्रधान अंग है । मानव प्रकृति पर इसका बहुत प्रभाव पड़ता है । अतः अच्छे उपन्यासों से भाषा की बहुत कुछ पूर्ति और समाज का बहुत कुछ कल्याण हो सकता है । मानव जीवन के अनेक रूपों का परिचय कराना उपन्यास का काम है । यह उन सूक्ष्म से सूक्ष्म घटनाओं का प्रत्यक्ष करने का यत्न करता है, जिनसे मनुष्य का जीवन बनता है और जो इतिहास आदि की पहुँच से बाहर है ।''[72]

शुक्ल जी ने अपने 'गद्य प्रबंध के प्रकार' निबन्ध में गद्य की उपयोगिता एवं निबन्ध के प्रकारों पर चर्चा की है – ''भाषा अपनी शक्तियों का व्यवस्थित रूप में विकस गद्य ही में करती है । एक ओर तो संसार के सारे व्यवहार गद्य द्वारा चलते हैं, दूसरी ओर गूढ और जटिल विचारों को व्यक्त करने का उपयुक्त साधन भी गद्य ही है । बातों का बोध कराने के अतिरिक्त हृदय के हर्ष, विषाद, प्रेम, करुणा आदि भावों की व्यंजना के लिए भी गद्य का

प्रयोग कम नहीं होता ।''[73] निबन्ध के विषय में वे लिखते हैं – ''आधुनिक पाश्चात्य कसौटी के अनुसार शुद्ध निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता प्रधान हो ।''[74]

शुक्ल जी के निबन्धों में अपनी भाषा हिन्दी, हिन्दुस्तानी आदि पर भी विचार प्रस्तुत किए गए हैं । भाषा के सम्बंध में उनकी मान्यता है – ''भाषा का प्रयोग मन में आई हुई भावनाओं को प्रदर्शित करने के लिए होता है ।''[75] शुक्ल जी भाषा में किए गए प्रयोगों से प्रसन्न नहीं थे । अपनी भाषा का पतन उनसे देखा नहीं जा रहा था । अपनी पीड़ा को उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया – ''सबसे पहले हम आप महानुभावों के सामने अपनी यह आशंका प्रकट करना चाहते हैं जो वर्तमान राजनीति की गतिविधि देख अपनी भाषा को परम्परागत स्वरूप के सम्बंध में हो रही है । हजारों वर्ष से हमारी भाषा, उत्तरा पथ की और दूसरी भाषाओं के समान आवश्यकतानुसार संस्कृत पदावली का सहारा लेकर चलती आ रही है । हमारे आधुनिक साहित्य का जब से आरंभ हुआ तभी से भाषा को विकृत और विकलांग करने का प्रयत्न भी चलने लगा, पर सारे देश के बीच चिरकाल से प्रचलित उसका शिष्ट रूप अनेक विघ्न-बाधाओं के बीच अपनी रक्षा करता अब तक चला आया । हम उसकी ओर से थोड़ा निश्चिन्त हो रहे थे कि आज कल का प्रकाण्ड राजनीतिक अभिनय हमारे सामने आया, जिसके बीच फिर 'आम-फहम, मुश्तरक जबान' आदि की पुकार सुनाई देने लगी । इससे अपनी भाषा के स्वरूप रक्षा की चिन्ता फिर हमें घेर रही है ।''[76]

शुक्ल जी को अपनी भाषा हिन्दी पर गर्व था – ''हमारे व्यवहारिक और भावात्मक जीवन से जिस भाषा का सम्बंध सदा से चला आ रहा है वह पहले चाहे जो कुछ कही जाती रही हो अब हिन्दी कही जाती है। इसका एक-एक शब्द हमारी सत्ता का व्यंजक है, हमारी संस्कृति का संपुट है, हमारी जन्मभूमि का स्मारक है, हमारे हृदय का प्रतिबिम्ब है, हमारी

बुद्धि का वैभव है । देश की जिस प्रकृति ने हमारे हृदय में रूप-रंग भरा है उसी ने हमारी भाषा का भी रूप-रंग खड़ा किया है । यहाँ के वन, पर्वत, नदी, नाले, वृक्ष, लता, पशु, पक्षी सब इसी हमारी बोली में अपना परिचय देते हैं और अपनी ओर हमें खींचते हैं । इनकी सारी रूप-छटा, सारी भावभंगी हमारी भाषा में और हमारे साहित्य में समाई हुई है । ..... यह वही भाषा है जिसमें सारे उत्तरीय भारत के बीच चन्द और जगनिक ने वीरता की उमंग उठाई, कबीर, सूर और तुलसी ने भक्ति की धारा बहाई, बिहारी, देव और पद्माकर ने श्रृंगार रस की वर्षा की, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र ने आधुनिक युग का आभास दिया और आज आप व्यापक दृष्टि फैलाकर सम्पूर्ण मानव जगत् के मेल में लाने वाली भावनाएँ भर रहे हैं । हजारों वर्ष से यह दीर्घ परम्परा अखंड चली आ रही है । ऐसी भव्य परम्परा का गर्व जिसे न हो वह भारतीय नहीं ।''[77]

शुक्ल जी शुद्ध हिन्दी भाषा के समर्थक थे । भाषा में छेड़-छाड़, मिलावट आदि द्वारा भाषा को बिगाड़ने वालों से उन्हें रोष था । जिन्होंने भाषा-साहित्य के लिए अपना सब कुछ त्याग दिया ऐसे महान व्यक्तियों को उन्होंने भाषा साहित्य का सिपाही माना । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से प्रभावित होकर ही उन्होंने 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' तथा 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी' जैसे निबन्ध लिखे । उन्हें साहित्य के नये युग का प्रवर्त्तक माना है।''[78] हिन्दी की सेवा करने वाले बाबू काशी नाथ खत्री एवं प्रेमघन का निबन्ध का विषय बनाया ।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी लिखते हैं – ''शुक्ल जी ने अपने समय की एक अर्द्ध जागृत साहित्य-चेतना को दिशा ज्ञान दिया । रास्ता सुझाया ही नहीं, स्वयं आगे-आगे चले और मंजिल तय की । विपर्यस्त लक्षण-ग्रंथों की परम्परा को साहित्य शास्त्र की पदवी पर पहुँचाया उसे आदर्शात्मक स्वरूप दिया । अपने उच्च कोटि के व्यक्तित्व के अध्ययन की छाप साहित्य पर छोड़ गए हैं । प्रांजलता और महाकाव्योचित औदात्य के लिए यह युग शुक्ल जी को स्मरण करेगा । ..... जितना उत्कर्ष उन्हें साहित्य के सिद्धांतों का निरूपण करने

में प्राप्त हुआ, उतनी ही दक्षता उन्हें उन सिद्धांतों का व्यवहारिक प्रयोग करने में हासिल हुई। पांडित्य में उनकी अप्रतिहत गति थी, विवेचना की उनमें विलक्षण शक्ति थी । वे आलोचक या समीक्षक मात्र नहीं थे, सच्चे अर्थ में साहित्य के आचार्य थे ।''[79]

निष्कर्षतः शुक्ल जी के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक सिद्धांत और दृष्टिकोणों से समन्वित निबन्ध हिन्दी साहित्य के अतुलनीय निबन्ध हैं । निबन्धों को *राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं मनोवैज्ञानिक पीठिका प्रदान करना उनका महत्त्वपूर्ण कार्य* है । रसानुभूति के सामाजिक आधार पर व्याख्या प्रस्तुत करने के मूल में उनका सामाजिक दृष्टिकोण ही सक्रिय रहा । मनोविकारों से सम्बंधित निबन्धों में उन्होंने प्रेम, श्रद्धा, ईर्ष्या, उत्साह, करुणा, क्रोध आदि भावों के काव्यात्मक अथवा रसात्मक रूप को सामाजिक एवं धार्मिक पृष्ठभूमि पर अंकित किया है । भावों के विषय में उनका प्रजातांत्रिक दृष्टिकोण भी मूलतः लोक-कल्याण पर आधारित है । लोक-संग्रह की भावाना से अनुप्रेरित घृणा, क्रोध, ईर्ष्या आदि भावों की सहज प्रवृत्ति का दमन करना अनुचित ही नहीं व्यक्ति एवं समाज के प्रति घोर अन्याय है । वे अन्याय, अनाचार के समक्ष घुटने न टेककर उसका प्रतिरोध करने के लिए कहते हैं । उनकी दृष्टि में आततायी के प्रति किया गया क्रोध और द्वेष भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना महान उद्देश्यों की पूर्ति में किया गया त्याग।

संदर्भ :

1. सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल, पृ. 11
2. चिन्तामणि (तीसरा भाग) : सं. डॉ. नामवर सिंह, पृ. 143
3. रामचन्द्र शुक्ल : नीलकान्त, पृ. 31
4. आनन्द कादम्बिनी, पृ. 55
5. चिन्तामणि (तीसरा भाग) : सं. डॉ. नामवर सिंह, पृ. 141
6. रामचन्द्र शुक्ल : सुरेश चन्द्र त्यागी, पृ. 48
7. साक्षात्कार , पृ. 225
8. चिन्तामणि (तीसरा भाग) : सं. डॉ. नामवर सिंह, पृ. 84
9. वही, पृ. 85
10. वही, पृ. 43
11. सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल, पृ. 11
12. रामचन्द्र शुक्ल : सुरेश चन्द्र त्यागी , पृ. 11
13. साक्षात्कार , पृ. 254
14. रस-मीमांसा : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 152
15. वही, पृ. 154
16. चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 153
17. वही, पृ. 52
18. वही, पृ. 105
19. रस-मीमांसा : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 69
20. चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 38
21. वही, पृ. 22
22. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल निबन्ध संरचना और काव्य-चिंतन : योगेन्द्र प्रताप सिंह, पृ. 15
23. हिन्दी आलोचना की परम्परा और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : डॉ. शिवकुमार मिश्र, पृ. 45
24. रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना : डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 39
25. वही, पृ. 45
26. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रामचन्द्र तिवारी, पृ. 88
27. रामचन्द्र शुक्ल : सं. सुरेश चन्द्र त्यागी, पृ. 227
28. वही, पृ. 335
29. चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 100
30. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रामचन्द्र तिवारी, पृ. 77

31.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रामचन्द्र तिवारी, पृ. 78
32.रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना : डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 287
33.वही, पृ. 287
34.चिन्तामणि (तीसरा भाग) : सं. डॉ. नामवर सिंह, पृ. 113
35.चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 148
36.वही, पृ. 35
37.वही, पृ. 17
38.वही, पृ. 42
39.वही, पृ. 155
40.गोस्वामी तुलसीदास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 27
41.चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 122
42वही, पृ. 51
43वही, पृ. 190
44.वही, पृ. 189
45.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रामचन्द्र तिवारी, पृ. 84
46.चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 111
47.वही, पृ. 53
48.चिन्तामणि (तीसरा भाग) : सं. डॉ. नामवर सिंह, पृ. 156
49.वही, पृ. 156
50.वही, पृ. 157
51.चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 122
52.वही, पृ. 123
53.वही, पृ. 126
54.चिन्तामणि (तीसरा भाग) : सं. डॉ. नामवर सिंह, पृ. 161
55.वही, पृ. 185
56.चिंतामणि (द्वितीय भाग) : सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 38
57.वही, पृ. 43
58.चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 146
59.चिन्तामणि (तीसरा भाग) : सं. डॉ. नामवर सिंह, पृ. 181
60.वही, पृ. 182
61.वही, पृ. 182
62.रामचन्द्र शुक्ल : सं. सुरेश चन्द्र त्यागी, पृ. 77
63.चिन्तामणि (तीसरा भाग) : सं. डॉ. नामवर सिंह, पृ. 239

64.रस-मीमांसा : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 324
65. सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल, पृ. 468
66.चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 82
67.वही, पृ. 108
68.वही, पृ. 148
69.वही, पृ. 178
70.वही, पृ. 272
71.चिन्तामणि (तीसरा भाग) : सं. डॉ. नामवर सिंह, पृ. 102
72.वही, पृ. 233
73.वही, पृ. 275
74.वही, पृ. 70
75.वही, पृ. 41
76.चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 111
77.हिन्दी आलोचना के आधार स्तंभ : सं. रामेश्वरलाल खंडेलवाल, पृ. 71

पंचम अध्याय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंधों की भाषा-शैली

पंचम अध्याय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंधों की भाषा-शैली

5. क. भाषा :

साहित्य का माध्यम भाषा है । वह भावों के प्रकटीकरण एवं अभिव्यंजना का अमोघ अस्त्र है । वह विचारों को स्पष्ट रूप प्रदान करती है और उन्हें सम्प्रेषणीय बनाती है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध विद्वान् कार्डिनल न्यूमैन ने लिखा है – साहित्य भाषा का व्यक्तिनिष्ठ प्रयोग अथवा उसमें आत्म-प्रतिष्ठा का प्रयास है लेकिन किसी भी लेखक की रचना का भाषिक संविधान केवल उसके व्यक्तित्व की विभिन्न विशेषताओं से ही नहीं उसके लेखन की विषय-वस्तु अर्थात् जो कुछ वह लिखता है उससे भी निर्धारित होता है । उसकी रचनाओं का शाब्दिक विन्यास इस बात पर भी निर्भर करता है कि वह किन लोगों के लिए लिखता है । कोई भी रचना जिन लोगों के लिए लिखी जाती है, उसकी भाषा का स्वरूप सामान्यतः उसकी ग्राहिका शक्ति के अनुरूप होती है। विश्वकोश विटेनिका में भाषा को परिभाषित करते हुए लिखा गया है – ''भाषा उच्चारण अवयवों से उच्चरित यादृच्छिक (Arbitrary) ध्वनि प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा समाज के लोग आपस में भावों का आदान-प्रदान करते हैं।''[1]

प्लेटो के अनुसार – विचार आत्मा की मूक या अध्वन्यात्मक बातचीत है, परन्तु वही जब ध्वन्यात्मक होकर होठों पर प्रकट होती है तो उसे भाषा कहते हैं ।''[2]

स्वीट के अनुसार – ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा विचारों को प्रकट करना ही भाषा है ।''[3]

पतंजलि मुनि के अनुसार – भाषा वह व्यवहार है जिसमें हम वर्णात्मक अथवा व्यक्त शब्दों के द्वारा अपने विचारों को प्रकट करते हैं ।''[4]

डॉ. भोलानाथ तिवारी भाषा के सम्बंध में लिखते हैं – ''भाषा उच्चारण अवयवों से उच्चरित यादृच्दिक (Arbitrary) ध्वनि प्रतीकों की वह संरचनात्मक व्यवस्था है, जिससे

किसी समाज के लोग आपस में विचारों का आदान-प्रदान करते हैं ।''[5]

इस प्रकार भाषा एक विकासशील विश्लेषण सापेक्ष यादृच्छिक एवं ध्वनिमूलक सार्थक व्यवस्था है, जिसके उच्चारण अथवा लिपिबद्ध रूप द्वारा मनुष्य अपने भावों और विचारों की अभिव्यक्ति करता है ।

भाषा का महत्त्व :

भाषा मानव की चिरसंगिनी है । मनुष्य के व्यक्तित्व का कोई रूप ऐसा नहीं, उसके जीवन को कोई क्षेत्र ऐसा नहीं, जहाँ भाषा की पहुँच न हो । भाषा का इतिहास विचारों का इतिहास है और इसके द्वारा किसी जाति की सभ्यता का इतिहास मिलता है । इस दृष्टि से भाषा प्राचीन और अर्वाचीन के बीच सम्बंध स्थापित कराती है । भाषा ने हमारे पूर्वजों के मतों और विचारों को सुरक्षित रखा है । इसी ने मनुष्य जाति को अन्य प्राणियों से ऊँचा स्थान दिया है। इसी के द्वारा मानव ने उन्नति की है तथा समाज का संगठन हुआ है । यह हमारी सभ्यता एवं संस्कृति की जननी है । हम क्या थे ? क्या हैं ? और क्या होंगे ? इन प्रश्नों का उत्तर हमारी भाषा ही हमें देती है ।

भाषा केवल विचार-विनिमय का साधन नहीं है, वह नये विचारो की जननी भी है । किसी विषय में विचार करते समय हम एक प्रकार का मानसिक संभाषण करते हैं, जिससे हमारे विचार भाषा के रूप में प्रकट होते हैं । बिना भाषा के विचार उत्पन्न हो ही नहीं सकता। इस प्रकार वह हमारे विचारों का सृजन और वहन करती है । लेखक एवं कवि भाषा का सहारा पाकर अपनी कृतियों में जादू भरते हैं । वही उनके मानसिक विचारों को पुष्ट करती है, वही उनके भावों एवं विचारों को अनुप्राणित करती है, वही उनका सन्देश, उनके भाव और विचार सर्व साधारण तक पहुँचाती है, वही उनकी लेखनी को अमरत्व प्रदान करती है और वही तत्कालीन समाज का दर्पण है ।

5. ख. शुक्ल जी के निबंधों की भाषा :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य के समीक्षक, इतिहासकार, निबन्धकार होने के साथ-साथ भाषा के प्रकाण्ड पण्डित तथा परिमार्जित, गम्भीर एवं सुगठित शैली के भी प्रतिष्ठापक माने जाते हैं । इस सन्दर्भ में डॉ. त्रिलोचन पाण्डेय लिखते हैं – शुक्ल जी की रचना- धर्मिता के अनेक आयाम थे और यह सर्वमान्य है कि वे उत्कृष्ट समीक्षक थे, उत्कृष्ट इतिहासकार थे और एक उत्कृष्ट निबन्धकार थे । उनकी जैसी पूर्ण विश्लेषण क्षमता आगे चलकर हिन्दी के बहुत कम विद्वानों में लक्षित हुई । उनकी भाँति मनुष्य के रागात्मक भावों का सूक्ष्म विश्लेषण किसी ने नहीं किया । उनकी जैसी समास-प्रधान-शैली का प्रयोग भी परवर्ती लेखन में प्रायः नहीं दिखाई देता । उनकी लेखन-शैली एक विशेष ढाँचे पर ढली हुई थी, जिसके उदाहरण आदि से अन्त तक मिलते हैं । प्रायः कहा जाता है कि लेखकों की भाषा विषयानुसार बदलती है, किन्तु शुक्ल जी की भाषा में परिवर्तन हो चाहे न हो उसमें समास प्रियता सर्वत्र विद्यमान रहती है ।''[6]

शुक्ल जी की सुगठित भाषा ने उनकी शैली को भाव-व्यंजक सुष्ठु तथा प्रौढ़ रूप प्रदान किया है । कठिन से कठिन भावों की अभिव्यक्ति के समय भाषा उनकी अनुसरणी के समान उनके साथ रहती है । भाषा का रूप परिवर्तन भाव एवं विषय के अनुरूप होता है । भाव और विषयानुरूप ही उसका रूप क्लिष्ट, गम्भीर, व्यावहारिक, व्यंग्यात्मक तथा विवरणात्मक बनता चलता है । किन्तु भाषा की विशेषता यही है कि वह कहीं अस्पष्ट नहीं होती । शुक्ल जी की भाषिक संरचना के विषय में विश्वनाथ मिश्र लिखते हैं – ''आचार्य शुक्ल में हम 'कागद की लेखी' के प्रति जितना आग्रह देखते हैं, उतनी ही रुचि के साथ उन्होंने 'आँखिन देखी' की बात भी कही है । शुक्ल जी बड़ी व्यापक विश्व-व्यापार-ग्रहिणी क्षमता से अनुप्रणित थे । उनकी यह विलक्षण प्रवृत्ति किशोरावस्था में ही प्रकट हो गई थी, तभी तो वे पढ़ने-लिखने के बीच समय निकालकर अपने इष्ट मित्रों के साथ मिर्जापुर के रमणीक स्थलों

के दर्शन के लिए भी जाने लगे थे । कविवर सुमित्रानन्दन पन्त जी के मन में नैसर्गिक सुषमा के प्रति अनुराग जगाने का श्रेय हिमालय के मनोरम स्थल कौसानी को है, उतना ही श्रेय विंध्याटवी के रमणीय प्रदेश का शुक्ल जी के मन में प्राकृतिक शोभा के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने में माना जाना चाहिए । शुक्ल जी ने अपने चारों ओर की नैसर्गिक शोभा से अभिभूत होकर समय-समय पर अनेक कविताएँ भी लिखी थीं । उन्होंने अपने निबन्धों में भी जहाँ कहीं अवसर मिला है प्राकृतिक सुषमा का भाव विभोर होकर वर्णन किया है । प्रकृति के सहचर्य से ही सम्भवतः उनमें चित्रकला के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ था । इस अनुराग को लेकर उन्होंने चित्रकला सीखी ही नहीं उसका अभ्यास भी किया और फिर इस कला के अध्यापक बनें । अध्यापक का उत्तरदायित्व उन्होंने पूरे मन से स्वीकार कर लिया । अध्यापक के लिए यह आवश्यक होता है कि जो कुछ उसे पढ़ाना है पहले उसे वह भली प्रकार समझे और फिर उसे अपने छात्रों को अच्छी तरह समझाएँ । अध्यापक के व्यक्तित्व की ये दोनों ही विशेषताएँ उनके निबन्धों की भाषिक संरचना में भी प्रकट हुई हैं ।''[7]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी की भाषा शुद्ध तत्सम प्रधान परिनिष्ठित खड़ीबोली हिन्दी है । अपने निबन्धों में भी अत्यन्त प्रौढ एवं प्रांजल भाषा का प्रयोग किया है । उनकी परिमार्जित भाषा ने उनकी शैली को भाव-व्यंजक, सुष्ठु तथा प्रौढ़ रूप प्रदान किया है । जटिल से जटिल भावाभिव्यक्ति में भी उनकी भाषा उनकी अनुचरी समान उनके सम्मुख प्रस्तुत रहती है । यही कारण है कि उनकी भाषा में विषयानुकूलता है, नवीन विषयों के प्रतिपादन की अद्‌भुत क्षमता है, भावानुकूलता के साथ-साथ गूढ़ विषय जैसे विज्ञान एवं दर्शन सम्बंधी विषयों के विवेचन की सामर्थ्य है । उनकी भाषा में नवीन विषयों के निर्देशन एवं प्रतिपादन की पूर्ण शक्ति है । शुक्ल जी के भाव एवं विचारों में समन्वयात्मक रूप देखने को मिलता है । यह उनकी भाषा का ही चमत्कार है । यह समन्वयात्मक दृष्टिकोण उनकी विविध परिभाषाओं में दिखाई पड़ता है – ''किसी मनुष्य में जन-साधारण से विशेष गुण व शक्ति का विकास

देख उसके सम्बंध में जो एक स्थाई आनन्द पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है उसे श्रद्धा कहते है ।''[8] ''किसी आती हुई आपदा की भावना या दुःख के कारण के साक्षात्कार से जो एक प्रकार का आवेगपूर्ण अथवा स्तम्भ कारक मनोविकार होता है उसी को भय कहते हैं ।''[9] ''जैसे दूसरों के दुःख को देख दुःख होता है वैसे ही दूसरों के सुख या भलाई को देखकर भी एक प्रकार का दुःख होता है, जिसे ईर्ष्या कहते हैं ।''[10] मनोविकारों से सम्बंधित परिभाषाओं में मनोभावों के स्वरूप का जो स्पष्टीकरण दिखाई देता है वह शुक्ल जी की भाषा सम्बंधी शक्ति एवं सामर्थ्य का द्योतक है, जिसके द्वारा गहन विचारों की अभिव्यक्ति भी सहज एवं सरल ढंग से हुई है ।

शुक्ल जी के निबन्धों में वर्गीकरण एवं विश्लेषण का जो रूप है वह भी उनकी भाषा की विशेषता है । उन्होंने अपने निबन्धों में विषय-वस्तु का वर्गीकरण एवं विश्लेषण तर्कपूर्ण ढंग से किया है । उदाहरणार्थ – ''श्रद्धा-भक्ति निबन्ध में स्थूल रूप से श्रद्धा के तीन भेदों का विवेचन''[11] 'लोभ और प्रीति' निबन्ध में दो प्रकार की इच्छाओं का वर्णन (1) प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा (2) दूर न करने या नष्ट न होने देने की इच्छा'[12] इसके अतिरिक्त इच्छा के अन्य रूपों का विवेचन भी है । आचार्य शुक्ल के वाग्वैचित्र्य के सम्बंध में योगेन्द्र प्रताप सिंह लिखते हैं – ''आचार्य शुक्ल का साहित्य लेखन पूरी तरह से गम्भीर मानसिक तैयारी से जुड़ा है । उनका पांडित्य उनकी चिन्तन बहुलता साहित्य की विविधता अनेक रूपों एवं अनेक जटिलताओं की समझ से सम्पन्न उनका साहित्यिक व्यक्तित्व असाधारण है । वे साहित्य चिन्तन को एक विशेष ऊँचाई पर प्रतिष्ठित करके जिस अंदाज से अपनी बात अपने तर्क एवं अपने पक्षों को रखते हैं, वह उनके श्लाध्य साहित्य मनीषी व्यक्तित्व को पदेन-पदेन व्यंजित करता है ।''[13]

शुक्ल जी की भाषा का एक पक्ष गम्भीर विवेचन शक्ति है । उन्होंने जिस भी विषय

को छुआ उसे अपनी गम्भीर विवेचन शक्ति से प्रभावोत्पादक आकर्षक बना दिया । भाव एवं मनोविकारों से सम्बंधित सभी निबंध गंभीर विवेचन शक्ति के ही उदाहरण है । ये सभी निबन्ध रोचक, मार्मिक एवं चित्ताकर्षक हैं । ये निबन्ध दुरूह एवं कहीं-कहीं नीरसता से पूर्ण हैं तथापि इनमें गहन अनुभूति और व्यावहारिक जीवन की अनूभूतियों से पूर्ण हैं । 'उत्साह' निबन्ध में उन्होंने लिखा है – ''कर्म रुचि शून्य प्रयत्न में कभी-कभी इतनी उतावली और आकुलता होती है कि मनुष्य साधना के उत्तरोत्तर क्रम का निर्वाह न कर सकने के कारण बीच ही में चूक जाता है ।''[14] श्रद्धा एवं भक्ति निबन्ध में उनके गंभीर चिंतन के दर्शन होते हैं जब वह कहते हैं– ''संसार में तटस्थ रहकर शान्ति सुखपूर्वक लोक-व्यवहार सम्बंधी उपदेश देने वालों का उतना अधिक महत्व हिन्दू धर्म में नहीं है, जितना संसार के भीतर घुसकर उसके व्यवहारों के बीच सात्विक विभूति की ज्योति जगाने वालों का है ।''[15] इसी प्रकार ''कविता क्या है'' निबन्ध में कविता के प्रभाव विवेचन में उनकी गंभीर विवेचन शक्ति के दर्शन होते हैं – कविता केवल वस्तुओं के ही रंग-रूप में सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाती, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने लाती है ।''[16] 'गद्य प्रबंध के प्रकार' निबन्ध में गद्य का जो पक्ष उन्होंने रखा वह उनके गम्भीर चिंतन का परिणाम है । भाषा अपनी शक्तियों का व्यवस्थित रूप में विकास गद्य ही में करती है ।''[17]

अपने भावों एवं विचारों को चमत्कारिक ढंग से अभिव्यक्ति प्रदान करना शुक्ल जी की भाषा का महान गुण है । इससे उनके विचार पाठक को हृदय में गहरी छाप छोड़ जाते हैं। जैसे 'उत्साह' निबन्ध में मनुष्य की विशेषता की ओर इंगित करते हुए कहते हैं– ''मनुष्य शारीरिक कष्ट से ही पीछे हटने वाला प्राणी नहीं है ।''[18] इसी प्रकार 'लज्जा एवं ग्लानि' में कहते हैं – ''उत्तम कोटि के मनुष्यों को अपने दुष्कर्म पर ग्लानि होती है और मध्यम कोटि के मनुष्यों को अपने दुष्कर्म के किसी कड़वे फल पर ।''[19] 'कविता क्या है' निबन्ध में उनके

विचार रोचक एवं प्रभावोत्पादक हैं । कविता केवल वस्तुओं के ही रंग-रूप में सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाती, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है । वह जिस प्रकार विकसित कमल रमणी के मुखमंडल आदि का सौन्दर्य मन में लाती है उसी प्रकार उदारता, वीरता, त्याग, दया, प्रेमोत्कर्ष इत्यादि कर्मों और मनोवृत्तियों का सौन्दर्य भी मन में जमाती है ।[20]

शुक्ल जी के निबन्धों में व्यंग्य विनोद के मार्मिक पुट यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं । जो निबन्ध को शुष्क एवं नीरस न बनाकर रोचक एवं मनोरंजक बनाते हैं । शुक्ल जी के व्यंग्य-विनोदी स्वभाव के विषय में डॉ. सरोज लिखती हैं – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का व्यक्तित्व एक तरफ गम्भीर तो दूसरी तरफ हास्य-व्यंग्य-विनोद से युक्त था । उनके व्यक्तित्व के ये दोनों पक्ष उनके साहित्य में विशेष रूप से उनके निबन्धों में स्पष्ट परिलक्षित होते हैं । शुक्ल जी ने श्रेष्ठ निबन्धकार के रूप में निबन्ध परम्परा को समृद्ध किया, साथ ही निबन्ध के क्षेत्र में युगान्तर भी उपस्थित किया । उनके निबन्धों में पूर्णता, विविधता, नवीनता और हास्य-व्यंग्य, विनोद आदि की विशेषताएँ प्रमुख रूप से दृष्टिगोचर होती हैं । शुक्ल जी अपने निबंधों में बुद्धि पक्ष के साथा-साथ हृदय पक्ष को भी लेकर चले थे, यही कारण था कि उनका हास्य-व्यंग्य विनोद इतना सफल सिद्ध हुआ। उनके निबन्धों में हास्य-व्यंग्य विनोद की सरिता आरम्भ से अन्त तक प्रवाहित रही है, इसके स्वरूप में कहीं-कहीं परिवर्तन मिलता है ।''[21] लोभ की अभिरुचि में जो हास्य का पुट शुक्ल जी ने दिया है । वह है – ''भूखे रहने पर सबको पेड़े अच्छे लगते हैं पर चौबे जी पेट भर भोजन के ऊपर भी पेड़े पर हाथ फेरते हैं।''[22]

शुक्ल जी ने हास्य-व्यंग्य विनोद के माध्यम से गंभीर तथ्यों का विवेचन भी किया है – ''गरीबों का गला काटने वाले, चीटियों के बिलों पर आटा फैलाते देखे जाते हैं; अकाल-पीड़ितों की सहायता में एक पैसा चन्दा न देने वाले अपने डूबते मिल को बचाने के लिए प्राण संकट में डालते देखे जाते हैं ।''[23] शुक्ल जी ने व्यंग्य-विनोद द्वारा सामाजिक

स्वरूप व स्थिति को भी स्पष्ट किया है। शुक्ल जी ने व्यापारिक मानसिकता को देख क्षुब्ध हैं और वर्तमान समय को व्यापार युग की संज्ञा प्रदान कर दी ''इस व्यापार युग में ज्ञान बिकता है, न्याय बिकता है, धर्म बिकता है- तब श्रद्धा जैसे भाव क्यों न बिके?''[24] ''शुक्ल जी मूल रूप से गम्भीर प्रकृति के थे, उनमें नीर-क्षीर विवेक क्षमता बड़ी प्रबल थी, इसलिए उनका उद्देश्य हास्य-विनोद तक सीमित नहीं रहा । प्रत्यक्ष हास्य-व्यंग्य द्वारा उन्होंने तथ्य निरूपण, व्यक्तित्व की विसंगतियों एवं सामाजिक स्थिति पर भी प्रकाश डाला ।''[25]

शुक्ल जी ने अपनी भाषा में तत्सम शब्दों का ही प्रयोग किया है, यद्यपि तद्भव शब्दों से उन्हें कोई परहेज नहीं है । उन्होंने संस्कृत और उर्दू-फारसी के तत्सम शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों के आधार पर हिन्दी शब्दों का निर्माण भी किया है । डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं – ''शुक्ल जी ने तत्सम शब्दों का काफी प्रयोग किया है लेकिन इधर के आलोचकों से कम । तद्भव रूपों का भी प्रयोग वे धरल्ले से करते हैं।''[26] तत्सम पूर्ण भाषा उनके निबन्धों की विशेषता है– ''चरम महत्त्व के इस भव्य मनुष्य ग्राह्य रूप के सम्मुख भाव विह्वल भक्त-हृदय के बीच जो-जो भाव तरंगे उठती हैं, उन्हीं की माला विनय-पत्रिका है ।''[27] इसके अतिरिक्त उनके निबन्धों में असंख्य तत्सम शब्द हैं । जैसे– अगम्य, उच्चाशय, सामीप्य, माधुर्य, प्रफुल्ल-प्रसून-प्रसार, ऐकान्तिक, लोकबद्ध, कृतज्ञता, वाणी, धर्म आदि । उर्दू-फारसी के - सफर, गुनाह, सलाम, मुलाकात, लिहाफ, कानून , फुरसत, बगल, नमूना दोस्त, शायरी, जिन्दगी, गवाह, अमल, मुख्तार, सुर्खी, आदि कितने ही शब्दों का प्रयोग किया है । उन्होंने अंग्रेजी के लोक प्रचलित शब्दों के प्रयोग से भी परहेज नहीं किया – कला-काव्य (Poetry as an art), शिक्षावाद (Didacticism), स्थिर (Static), संकेत पक्ष (Symbolic aspect) तुरीपावस्था (The Trance), मूर्त (Concrete), मनोवैज्ञानिक (Psychological) ईश्वरीय (Theasm)आदि। शुक्ल जी की इस विशेषता की ओर संकेत करते हुए डॉ. त्रिलोचन पाण्डेय ने लिखा है – ''वे अंग्रेजी के

बहु प्रचलित पारिभाषिक शब्दों को हिन्दी में ज्यो का त्यों ग्रहण करने के पक्षपाती नहीं थे । वे भली-भाँति जानते थे कि प्रत्येक भाषा का विशिष्ट शब्द अपनी एक संस्कृतिक पृष्ठभूमि से सम्पन्न होता है । इसलिए उन्होंने यथासंभव अंग्रेजी शब्दों के लिए एक ओर तो समान धर्मी शब्द स्वीकार किए तथा दूसरी ओर भारतीय शब्दों का प्रयोग करते हुए कोष्ठक के भीतर मूल भाषा के पारिभाषिक शब्द का उल्लेख कर दिया ।''[28] शुक्ल जी की मान्यता यही थी कि अन्य भाषाओं से विशिष्ट शब्द ग्रहण करते समय यथासंभव अंधानुकरण से बचना चाहिए ।

वाक्य-विन्यास द्वारा विषय को सरल एवं बोधगम्य बनाया जाता है इसलिए शुक्ल जी ने अपने निबन्धों में सुगठित वाक्य विन्यास रखा है । अपने सरल एवं सीधे-सादे विचारों के लिए सरल एवं छाटे वाक्यों का प्रयोग किया है लेकिन जहाँ वे जटिल एवं गम्भीर विचार या भाव व्यक्त करना चाहते हैं वहाँ वाक्य लम्बे-लम्बे, समासयुक्त तथा क्लिष्ट पदावली युक्त हो जाते हैं– शुक्ल जी के अनुसार - उनके निबन्ध मानसिक यात्रा है – ''इस पुस्तक में मेरी अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं, यात्रा के लिए निकलती रही है – बुद्धि पर हृदय को साथ लेकर । अपना रास्ता निकालती हुई, बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँची है वहाँ हृदय भी थोड़ा बहुत रमता और अपनी प्रकृति के अनुसार कहता गया है । इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है । बुद्धि-पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है ।''[29] शुक्ल जी के वाक्य विन्यास के विषय में विश्वनाथ मिश्र ने लिखा है – ''शुक्ल जी ने जब विषयवस्तु का विवेचन अपने अध्ययन, अनुशीलन एवं अनुभव से उपलब्ध निष्कर्षों से आरम्भ किया तो प्रारम्भ में छोटे-छोटे वाक्य लिखे है : जिनकी शब्दावली बड़ी परिनिष्ठित अर्थ-गर्भित एवं सुसंगठित है । जब समझाने का प्रयास प्रारम्भ हुआ है तो भाषा सरल हो गयी है, शब्दों की संख्या बढ़ गयी है और वाक्य बड़े हो गए हैं । समझाने के इस प्रयास में अनुभवों की अवतारणा जब होने लगी है तो शब्दावली और भी सहज हो गई है । कहीं-कहीं मन की झंकार भी सुनाई देने लगी है । शुक्ल जी को जब लगा है कि जो कुछ

वह कहना चाहते हैं, वह बोधगम्य नहीं हो पा रहा है तो उनका अध्यापन सजग हो उठा – वे कहने लगे – कहने का तात्पर्य यह है, सारांश यह है, बात यह है आदि कहकर प्रस्तुत विषय को और भी सहज भाषा में समझाने लगे हैं । यह उनकी निगमन पद्धति की रचना-शैली का भाषिक संविधान है । आगमन पद्धति में भाषिक संरचना, सरल शब्दावली, न्यास-प्रणाली, स्फीत भंगिमा से आरंभ करके परिनिष्ठित शब्दावली, सामासिक व्यवस्था एवं 'अर्थ अमित अरू आखर थोड़े' के पथ पर अग्रसर हुए हैं।''[30]

शुक्ल जी ने भाषा को अर्थपूर्ण एवं लक्षणा सम्पन्न बनाने के लिए मुहावरों एवं कहावतों का सुन्दर प्रयोग किया है । इससे भाषा में एक विशेष अभिव्यंजना शक्ति एवं विवेचनात्मक सौन्दर्य की सृष्टि हुई है । शुक्ल जी मुहावरों के प्रयोग से भाषा की नीरसता एवं शुष्कता को दूर हटाते हैं – ''बहुत से लोग लोभ में ही अपनी उछल-कूद दिखाया करते हैं।''[31] ''उसे या तो काँटों पर या ढाई कोस नौ दिन में चलना पड़ता है ।''[32] ''कहीं उसे 'जीवो-जीवस्य जीवनम्' का सिद्धान्त चलता दिखाई पड़ता है, कहीं लाठी और भैंस का ।''[33] बगले-झाँकना, छोटे मुँह बड़ी बात, हाथ-पैर हिलाना, मुँह में पानी आना, मक्खी चूसना, दबे पाँव आना आदि मुहावरों एवं कहावतों के प्रयोग द्वारा भाषा को अधिक सशक्त एवं सार्थक बनाने का सुन्दर प्रयास किया है । शुक्ल जी ने निम्न पंक्तियों में मुहावरों की माला बना दी हैः ''यदि सबकी घड़क एक बार ही खुल जाए, तो एक ओर छोटे-छोटे मुख से बड़ी-बड़ी बातें निकलने लगें, चार दिन के मेहमान तरह-तरह की फरमाइश करने लगें, ऊँगली का सहारा पाने वाले लोग बाँह पकड़कर खींचने लगें, दूसरी ओर बड़ों का बड़प्पन निकल जाए, गहरे-गहरे साथी बहरें हो जाए या सूखा जबाब देने लगें, जो हाथ सहारा देने के लिए बढ़ते हैं वे ढकेलने के लिए बढ़ने लगें - फिर तो भलमनसाहत का भार उठाने वाले इतने कम रह जायें कि उसे लेकर चल ही न सकें ।''[34]

शुक्ल जी ने संस्कृत के छोटे-बड़े अवतरणों से भाषा को मानो रत्नों से सजाया है-- ''भर्तृहरि ने 'स्वानुभत्येकमानाय' कहकर नमस्कार किया है ।''[35] ''धर्मो रक्षति रक्षितः''[36] 'यत्राकतिस्तत्र गुणा वसंति'[37] 'अचित्य-श्वर्ययोग'[38] आदि सूक्तियों से भाषा को सुन्दर बनाया है। अपने निबन्धों को छोटे-छोटे वाक्यों से सजाया है, जिसे सूक्ति कहते हैं। डॉ. शिवनारायण शुक्ल लिखते हैं – आचार्य शुक्ल ने अपने विभिन्न निबन्धों में ऐसी तमाम उक्तियों का प्रयोग किया है जो चारुता, सम्यक् चिन्तन, सुगठन एवं विचार गुम्फन को एक साथ सार्थकता प्रदान करती है । इन्हीं अल्पकृति वाली प्रभावी चारु उक्तियों को हम शुक्ल जी के निबन्धों में पायी जाने वाली सूक्तियों के रूप में स्वीकारते हैं । स्पष्ट है कि प्रत्येक अवस्था में यह सूक्ति सामान्य उक्ति की अपेक्षा ईषद् आकार में विशुद्ध विचार-व्यापार को ध्वनित करने की क्षमता से युक्त होती है ।''[39] शुक्ल जी द्वारा निबंधों में प्रयुक्त कतिपय सूक्तियाँ दृष्टव्य हैं–

1. साहसपूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है ।[40]
2. फल की विशेष आसक्ति से कर्म के लाघव की वासना उत्पन्न होती है।[41]
3. दण्ड कोप का ही विधान है ।[42]
4. क्रोध, वैर का अचार या मुरब्बा है ।[43]
5. श्रद्धा का व्यापार-स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकान्त ।[44]
6. प्रेम में घनत्व अधिक है, श्रद्धा में विस्तार ।[45]
7. श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है ।[46]
8. जहाँ धर्म भाव है वहीं ईश्वर भावना है ।[47]
9. मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है ।[48]
10. करुणा, सेंत का सौदा नही।[49]

शुक्ल जी ने अपने सभी निबन्धों में व्याकरण सम्मत अलंकृत भाषा का प्रयोग

किया है । उनके वाक्यों में न तो कहीं लिंग वचनादि की त्रुटि है और न ही शब्दों की वर्तनी में कोई अशुद्धि। सर्वथा स्पष्ट शुद्ध एवं व्याकरण युक्त भाषा का प्रयोग करके शुक्ल जी ने खड़ी-बोली गद्य का आदर्श प्रस्तुत किया है । व्याकरण युक्त भाषा का उदाहरण द्रष्टव्य है – "जिस बात में कुछ लोग कहने लगें कि वह उनके किसी काम का नहीं – चाहे वह कष्ट-निवारण हो या सुख प्राप्ति, धर्म हो या न्याय । वे शरीर सुखाते हैं, अच्छे भोजन, अच्छे वस्त्र आदि की आकांक्षा नहीं करते, लोभ के अंकुश से अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में रखते हैं । लोभियों ! तुम्हारा अक्रोध तुम्हारा इन्द्रिय निग्रह, तुम्हारी मान अपमान समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है ; तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है । तुम धन्य हो ! तुम्हें धिक्कार है ।"[50] शुक्ल जी ने अपनी बात को समझाकर कहने के लिए सादृश्य मूलक अलंकारों का सहारा लिया है :

1. यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण ।[51]
2. संगति के दाँव-पेंच देखकर हठयोग याद आता है ।[52]
3. वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है ।[53]
4. वही सत्य पथ के दीपक हैं ।[54]

शुक्ल जी ने अभिव्यक्ति को मार्मिकता प्रदान करने हेतु मानवीकरण अलंकार का प्रयोग किया है :

1. प्रेम दूसरे की आँखों से नहीं देखता अपनी आँखों से देखता है ।[55]
2. क्रोध शान्ति भंग करने वाला मनोविकार है ।[56]
3. भाव ही कर्म के मूल प्रवर्तक और शील संस्थापक हैं ।[57]

शुक्ल जी ने अनेक स्थलों पर शब्दालंकारों का प्रयोग किया है । यमक का उदाहरण - जो कोई यह कहे कि अज्ञात और अव्यक्त की अनुभूति से हम मतवाले हो रहे हैं उसे काव्य

क्षेत्र से निकलकर मतवालों पागलों, साम्प्रदायिकों के बीच अपना हाव-भाव और नृत्य दिखलाना चाहिए।''[58] श्लेष अलंकार का उदाहरण भी द्रष्टव्य है – ''लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई उपासक सब पत्थर हो गए ।''[59] ऐसा ही अन्य अलंकृत भाषा का उदाहरण ''हिन्दी के रीतिकाव्य के कवि तो मानो राजाओं-महाराजाओं की काम-वासना को उत्तेजित करने के लिए ही रखे जाते थे । एक प्रकार के कविराज तो रईसों के मुँह में मकरध्वज रस झोकते थे, दूसरे प्रकार के कविराज काव्य में मकरध्वज की पिचकारी देते थे ।''[60] प्रस्तुत वाक्य में आलंकारिक भाषा के साथ व्याकरणिक शब्द विन्यास भी है – ''कविता देवी के मन्दिर ऊँचे खुले विस्तृत और पुनीत हृदय है ।''[61] ''जैसे कवियों का स्वभाव रूख तोड़ना तुलसीदास ने बताया है वैसे ही कवियों का स्वभाव शब्द तोड़ना-मोड़ना हो गया था ।''[62]

डॉ. सुधाकर पाण्डेय लिखेते हैं – ''शुक्ल जी की भाषा-शैली असाधारण है क्योंकि उनकी विचारधारा गहन है ।''[63] वे पुनः लिखते हैं – ''भाषा के सम्बंध में शुक्ल जी अत्यन्त सजग थे। विषय के अनुसार भाषा का उन्होंने गठन किया है । तीन प्रकार की भाषा का दर्शन उनकी रचनाओं में होता है – संस्कृत गर्भित तत्सम प्रधान सामासिक भाषा, उर्दू और मुहावरा तथा लोकोक्ति मिश्रित तद्भव लसित व्यावहारिक भाषा और इन दोनों के मध्य की भाषा । जहाँ प्रकृति और भावुकता की बात आती है वहाँ शुक्ल जी का कवि हृदय उमड़ पड़ता है और संस्कृत बहुल भाषा-शैली को ग्रहण करता है । विषय के सरलीकरण तथा व्यंग्य विनोद के लिए उर्दू मिश्रित भाषा को और अन्य सर्वत्र मध्यवर्ती भाषा को अपनाता है । शुक्ल जी की सामान्य भाषा यही है। उनकी भाषा में गठन पूर्ण एवं प्रभावशाली है । उनकी सामान्य भाषा- शैली मध्यवर्ती तत्सम शब्दों वाली है । उनके निबन्धों में इसका प्रयोग व्यापक रूप से हुआ है । विषय को स्पष्ट एवं रोचक बनाने के लिए अन्तर्कथाओं का उपयोग भी वे नहीं भूलते।''[64] भाषा एवं वाक्य-रचना के सम्बंध में शुक्ल जी लिखते हैं – मुख्य बात

यह है कि शैली कोई हो, वाक्य-रचना की व्यवस्था, भाषा की शुद्धता और प्रयोगों की समीचीनता सर्वत्र आवश्यक है। जब तक ये बातें न सध जायें तब तक लिखने का अधिकार ही न समझना चाहिए ।''[65]

शुक्ल जी की भाषा के सम्बंध में रामचन्द्र तिवारी का कहना है – ''जहाँ तक आचार्य शुक्ल के निबन्धों की भाषा का प्रश्न है, वह उनकी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता का प्रतिनिधित्व करने वाली है । विषय संदर्भ और लक्ष्य-भेद से उसके स्वरूप में परिवर्तन होता रहा है। कहीं वह तत्त्व निरूपणी और पारिभाषिक है, तो कहीं अलंकृत और काव्यात्मक । कहीं उसका रूप ठेठ बोलचाल और सामान्य बातचीत का है, तो कहीं शिक्षित और शिष्ट जनोचित । प्रत्येक स्थिति में वह अज्ञान और जड़ता को तोड़कर चिन्तन के नए क्षितिज का विस्तार करती प्रतीत होती है । शुक्ल जी ने उसे इतना समृद्ध कर दिया है कि वह तत्कालीन शिक्षित जगत् के सम्पूर्ण ज्ञान को अभिव्यक्ति देने में समर्थ हो गई है । इसके लिए उन्होंने अथक प्रयत्न किया है । उन्होंने न केवल भारतीय पारम्परिक चिंतन के विविध क्षेत्रों की पारिभाषिक शब्दावली को जीवन के नए संदर्भों से जोड़कर उसे नई अर्थवत्ता प्रदान की है, वरन् यूरोपीय दर्शन विज्ञान और काव्य-चिंतन को आत्मसात करके इन क्षेत्रों में प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी प्रतिरूप भी गढ़े हैं ।''[66]

डॉ. सुधाकर पाण्डये का मानना है – ''सफल निबन्ध लेखन में भाषा की सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग संक्षेप में अपने भावों को चुस्त और दुरूस्त ढंग से प्रकट करने के लिए किया जाता है ताकि निबंध में अभिव्यक्त विचारों का सुचारू गुम्फन पाठक की बुद्धि को उत्तेजित कर नयी विचार सरणि की सर्जना के लिए द्वार खोले । भाषा विधान के साथ अर्थ गरिमा का ऐसा समयोग निबंध की चारुता और श्रेष्ठता के लिए आवश्यक है जो भावुक को चिंतन की नई सर्जनात्मक दिशा दे सके । शुक्ल जी के निबंध इसी कोटि के हैं और सफल निबंध की कसौटी भी यही है।''[67]

निष्कर्षतः शुक्ल जी की भाषा भावों एवं विचारों के सर्वथा अनुकूल है । भाषा उनके स्वभाव का पूर्ण प्रतिबिम्ब है । उसमें गम्भीरता एवं प्रखरता है । कहीं-कहीं क्लिष्टता है लेकिन उसका कारण विषय की गहनता है जहाँ विचार ठूँस-ठूँसकर रखे गए हैं । इनकी भाषा निरर्थक शब्दों एवं वाक्यों से दूर विषय का सरल एवं बोधगम्य बनाने में संलग्न है । भाषा में हास्य विनोद के छींटे भी हैं और अलंकारों का सुन्दर प्रयोग भी है । व्याकरण सम्मत विराम चिह्नादि से पूर्ण यह भाषा शुक्ल जी के व्यक्तित्व की पहचान है, जो निर्भिकता से, निःसंकोचता से परिपूर्ण है । यह भाषा खड़ीबोली हिन्दी के गौरव की बढ़ाने वाली है ।

5. ग शैली :

आत्म-प्रकाशन और विनिमय मानव के स्वाभाविक गुण हैं और उसके इन गुणों का विकास तब होता है जब वह अपने मन की तरंगों, कल्पनाओं और अनुभूतियों को किसी भाषा का परिधान पहनाकर जनता के सामने उपस्थित करता है । इस प्रकार के भाव - प्रकाशन में उसका उद्देश्य आत्म तुष्टि और स्वार्थ-साधन तो रहता ही है, साथ ही उसमें लोक-सेवा एवं साहित्य-सेवा की कामना भी निहित रहती है । इस कामना पूर्ति हेतु वह सतत् प्रयत्नशील रहता है । रचना इसी प्रयत्न का फल है । अपने उद्देश्य की पूर्ति में लेखक को उसी समय सफलता प्राप्त होती है जब वह अपनी रचना में भावों की विशद्ता और भाषा के सौष्ठव का सामंजस्य सुरक्षित रखता है । वह जो कुछ लिखता है, वह समझकर लिखता है कि उसकी भाषा का एक-एक शब्द उसकी विचारधारा, उसकी कल्पना और उसकी अनुभूति का सच्चा प्रतिनिधि है । इतना ही नहीं रचनाकार को यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि जनता उससे क्या माँग रही है ? वह क्या दे रहा है ? और जो कुछ वह दे रहा है उसे ग्रहण करने की, उससे लाभ उठाने की जनता में कितनी शक्ति और सामर्थ्य है । वास्तव में सच्चा भाषा सेवी वही है जो लोक रुचि का ध्यान रखता है और देश काल तथा परिस्थितियों के अनुसार जनता को ऐसी सामग्री देता है जिससे उसकी सुप्त भावानाएँ जागृत हो जाती हैं और

उनमें नवीन आशाओं, नवीन कल्पनाओं और नवीन विचारों का स्फुरण होता है । अपने इस ध्येय की पूर्ति में लेखक को भावप्रदर्शन से ऊँचा उठाना पड़ता है । उसे इस बात पर भी ध्यान देना पड़ता है कि वह केवल लेखक ही नहीं एक कलाकार भी है। इसलिए उसे अपनी भाषा को कलात्मक ढंग से तराशकर आकर्षक और सुन्दर बनाना पड़ता है । रचनाकार की ऐसी ही कलात्मक चेष्टा से शैली का जन्म होता है ।

शैली का अर्थ :

संस्कृत-हिन्दी कोश में शैली को अभिव्यक्ति या अर्थकरण का एक प्रकार माना गया है ।[68] इसका साधारण अर्थ ढंग अथवा प्रणाली है । साहित्यिक अर्थ में शैली उस अभिव्यक्त-प्रणाली को कहते हैं जिसके द्वारा कोई रचना आकर्षक, मोहक, रमणीय और प्रभावोत्पादक हो जाती है । शैली शब्द अंग्रेजी के Style[69] शब्द का रूपान्तरण ही है । यह 'स्टाइल' शब्द भारोपीय परिवार की भाषाओं में अपने मूल रूप में बहुत पुराना है । अवेस्ता में 'स्तएर' (staera), ग्रीक में 'स्ताइलोस' (stylas) तथा लैटिन में 'स्ताइलस' (stilus) आदि रूपों में देखा जा सकता है । पूर्व में इसका प्रयोग लेखन के विभिन्न ढंगों तथा प्रकारों के लिए होता था बाद में भाषिक अभिव्यक्ति के ढंग के लिए यह प्रयुक्त होने लगा है।

अलंकार, रीति, ध्वनि, शब्द शक्ति, वृत्ति आदि शैली के अन्तर्गत् आते हैं । इनमें से कुछ का सम्बंध शब्द से, कुछ का अर्थ से और कुछ का शब्द और अर्थ दोनों से है । अभीव्यक्ति प्रणाली शब्दगत हो अथवा अर्थगत, उसका उद्देश्य अभिव्यक्ति के सौंदर्य को बढ़ाना है । मानव स्वभाव सौंदर्योपासक है । वह अपनी रचना को जनता के सम्मुख नग्न रूप में नहीं रखना चाहता । अतः वह उसे सजाता है और इस योग्य बनाता है कि पाठक का हृदय उसकी सजावट एवं सौंदर्य पर मुग्ध हो जाए उसमें रम जाये । रचनाकार अपनी कृति में सौंदर्य-सृजन का विधान केवल अपने लिए नहीं पाठकों के लिए भी करता है । यही शैली का कलात्मक रूप है, जिसमें सफलता प्राप्त करने के लिए लेखक को पाठक की रुचि-वैचित्र्य

एवं अपने विषयानुरूप रचना में शब्द शक्तियों के समुचित ज्ञान पर ध्यान रखने के साथ-साथ विशेषणों का उपयुक्त चयन, क्रिया पदों के उपयोग का विचार, वाक्यों की शुद्ध-रचना में व्याकरण के नियमों का पालन और अनुच्छेदों की संघटित श्रृंखला का पूर्ण रूप से निर्वाह करना पड़ता है । शैली के इन्हीं तत्त्वों पर ध्यान देने से रचना में सौंदर्य की स्थापना होती है और अभिव्यक्ति में अभिनव तथा उचित शक्ति का संचार होता है । लेखक अपनी रचना में अपने भावों, विचारों, कल्पनाओं एवं अनुभूतियों को इस ढंग से ऐसी भाषा में व्यक्त करता है जिससे पाठक के सम्मुख चित्र-सा खींच जाता है । इस दृष्टि से ''शैली उस कलापूर्ण साधन का नाम है जो रमणीय, आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक रूप से रचना के समस्त तत्त्वों की अभिव्यक्ति में अभिनव तथा उचित शक्ति का संचार करता है।

विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से शैली को परिभाषित किया है :

1. स्पेंसर के अनुसार– 'शैली रचना का वह उच्च और सक्रिय सिद्धान्त है, जिसके द्वारा लेखक अपने विषय की गहराई में उतरकर विषय के अंतस का उद्‌घाटन करता है ।''[70]
2. ठाकुर कहते है – ''शैली दृष्टि है ।''[71]
3. मुरि का मानना है – ''शैली शब्द पर थोड़ी सी वैज्ञानिक गहराई से विचार करें तो इसके अन्तर्गत् सम्पूर्ण साहित्यिक सौंदर्य तथा आलोचना के सिद्धान्त सम्पूर्ण आ जाएँगें ।''[72]
4. डॉ. भोलानाथ तिवारी के मतानुसार – ''शैली भाषिका अभिव्यक्ति का वह शिष्ट ढंग है जो प्रयोक्ता के व्यक्तित्व, विषय विधा, काल, साहित्यिक धारा तथा स्थान आदि से सम्बद्ध होता है और जो चयन, विचलन, समानान्तरता, अप्रस्तुत-विधान आदि भाषिक सामान्य अभिव्यक्ति के लिए असुलभ उपकरणों एवं उनके संयोजन पर आधृत होता है ।''[73]

शैली का महत्त्व :

पाश्चात्य विचारक का मत है कि ''शैली ही मनुष्य और मनुष्य ही शैली है ।'' यह उक्ति गम्भीर एवं मार्मिक है । एक व्यक्ति की रुचि एवं स्वभाव दूसरे व्यक्ति से भिन्न होता

है । अतः उसकी रचना शैली में किसी मनोवेग को व्यक्त करने के ढंग में विभिन्नता आ जाना स्वाभाविक ही है । प्रायः देखा जाता है कि गम्भीर और विचारशील लेखक गम्भीर और विचारात्मक शैली का अनुसरण करते हैं और विनोद प्रिय तथा हास्य-रस के लेखक मनोरंजक तथा चंचलता पूर्ण शैली का प्रयोग करते हैं । यह भी संभव है, एक ही लेखक दोनों शैलियों में रचना करे । शैली ही लेखक के कौशल का प्रकाश है । उसमें लेखक के संस्कार, चरित्र, विचार और भावों की झलक प्रतिबिम्बित होती रहती है । नदी की मुक्त धारा के समान उसमें लेखक की ध्वनि और गति एक होकर बहती हुई दिखाई देती है ।

भाषा शैली का सम्बंध मानव की ज्ञानेन्द्रियों से होता है । ज्ञानेन्द्रियाँ भाषा की कटुता अथवा मधुरता की परीक्षा करती हैं । बुद्धि उसकी सुसम्बद्धता तथा सार्थकता का विवेचन करती है । स्मृति उसमें अपनी तृप्ति के योग्य सामग्री खोजती है । शैली में इन्हीं सुप्त स्मृतियों को उद्दीप्त करने की असाधारण क्षमता होती है । लेखक जब जनता की व्यथा सुनता है तब उसका भावुक हृदय अपनी भावनाओं को व्यकत करने के लिए बलबती भाषा की खोज करता है । उस समय शैली उसकी भाषा में शक्ति का संचार करती है । रचनाकार की सशक्त शैली से जनता में क्रान्ति की भावना जागृत होती है और उसमें अत्याचारों से लोहा लेने की अपूर्व शक्ति आ जाती है। जिस कार्य को करने में बड़ी-बड़ी सेनाएँ विफल हो जाती हैं उसे लेखक की शैली क्षण भर में पूर्ण कर देती है । शैली में जादू का सा प्रभाव होता है । इस प्रकार साहित्य और शैली में अटूट सम्बंध स्थापित हो जाता है । साहित्य और शैली दोनों के भाव और भाषा दो मुख्य आधार हैं और इन्हीं दोनों के सुन्दर सामंजस्य से साहित्य तथा शैली का आविर्भाव होता है । प्रत्येक साहित्यकार अपने मनोवेगों कल्पनाओं और अनुभूतियों को किसी न किसी भाषा की लिपि का परिधान पहनाकर और उसे अलंकृत कर पाठक के समक्ष उपस्थित करता है ।

शैली के भेद :

शैली का निर्माण भाव एवं भाषा से होता है । इन्हीं दोनों तत्त्वों के आधार पर शैली के दो मुख्य भेद हैं – 1. भाषा प्रधान शैली 2. विचार प्रधान शैली । भाषा प्रधान शैली में प्रथम स्थान भाषा को दिया जाता है और द्वितीय भाव को । भाषा प्रधान शैली : इस शैली के दो प्रधान रूप है - 1. शब्द प्रधान शैली 2. वाक्य रचना प्रधान शैली।

शब्द प्रधान शैली : शब्द प्रधान शैली में किसी भाव की अभिव्यक्ति में अधिक तथा बड़े-बड़े शब्द प्रयोग किए जाते हैं ।

वाक्य-रचना प्रधान शैली : वाक्य ही भाषा का चरमावयव है । अतः इसका सम्बंध वाक्य से होता है। इस शैली के पाँच भेद हैं –

1. सरल शैली
2. गुम्फित-वाक्य शैली
3. उक्ति-प्रधान शैली
4. अलंकृत शैली
5. गूढ़ शैली

विचार प्रधान शैली में विचारों, भावों, कल्पनाओं और अनुभूतियों को प्रधानता दी जाती है। उसमें भाषा का स्थान गौण होता है ।

विचार-प्रधान शैली के दो भेद हैं - 1. व्यक्ति प्रधान शैली, 2. विषय प्रधान शैली। विषय प्रधान शैली को ही आलोचनात्क शैली भी कहा जाता है । इस शैली में किसी रचनाकार की रचना के गुण-दोषों का विवेचन किया जाता है । आलोचनात्मक शैली के तीन रूप हैं :

1. निर्णयात्मक शैली
2. तर्क प्रधान शैली

3. व्याख्या प्रधान शैली

शैली के भेदों के सम्बंध में यही कहा जा सकता है कि प्रत्येक लेखक अपनी शैली का स्वयं निर्माता होता है । वह शैली के भेदों तथा उपभेदों को जानते हुए भी एक ऐसी शैली को जन्म देता है जो सबसे भिन्न होती है जिसके द्वारा वह अपने विचारों को व्यक्त करते है ।

5. घ. शुक्ल जी की निबन्ध-शैली :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल निबंध लेखन के क्षेत्र में शीर्षस्थ मौलिक शैलीकार के रूप में प्रसिद्ध हैं । वे हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ गद्य-शैली निर्माता है । हिन्दी गद्य के भाषा और शैली के निर्माण में भी आलोचना की तरह उनका सर्वाधिक महत्त्व है । ''आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध आधुनिक हिन्दी साहित्य में वही गौरव रखते हैं जो गौरव जयशंकर प्रसाद के नाटक और काव्य का तथा प्रेमचन्द जी के कथा-साहित्य का है''[74]

शुक्ल जी के निबंध हिन्दी गद्य के चरम विकास के द्योतक हैं । उन्होंने अपने निबंधों द्वारा हिन्दी-गद्य शैली, विभिन्न रूप रंगों एवं उसकी विविध भंगिमाओं का विकास किया, भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति को बढ़ाया, उसके शब्द भंडार की वृद्धि की । शुक्ल जी की भाषा-शैली का जो प्रौढ़ रूप उनके निबन्धों में है वह न तो उनके हिन्दी साहित्य के इतिहास में और न अनुवादों में इतनी पूर्णता के साथ पाया जाता है । डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं : ''शुक्ल जी ने अपने निबन्धों द्वारा हिन्दी के काव्य-शास्त्र को एक नया मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक आधार दिया । इस आधार पर उन्होंने साहित्य की प्रगति विरोधी धाराओं का खंडन किया और संस्कृत-हिन्दी की प्रगतिशील परम्परा का समर्थन किया । उनकी शैली तार्किक विवेचन के लिए उपयुक्त होने के साथ आवश्यकतानुसार आवेश पूर्ण और आलंकारिक भी है और उसकी एक विशेषता जीवन का संचित अनुभव प्रकट करने वाली वाक्यावली है । शब्द चयन में उर्दू के प्रचलित शब्दों से उन्हें परहेज नहीं है । उनका व्यक्तित्व एक सहृदय और

विनोदी साहित्य प्रेमी और संसार प्रेमी मनुष्य का है, पुस्तक सेवी संन्यासी का नहीं । उनकी निर्भीकता, दृढ़ता, गहन अध्यवसाय और आत्म विश्वास के गुण उनके काव्य-सिद्धान्तों और साहित्यालोचनों की ही तरह हिन्दी प्रेमियों के लिए शिक्षाप्रद और प्रेरणादायक है ।''[75] शैली के कतिपय परम्परागत रूप विधायक और वैशिष्ट्य विधायक तत्त्व हैं – क्रम संगति, शब्द चयन, पद-योजना, वाक्य-रचना, अन्विति, संगठन, अलंकरण, प्रतीक, बिम्ब-विधान, मुहावरे-लोकोक्ति आदि। जैसे आगमन-निगमन, समास-व्यास, भावुकतापूर्ण, हास्य-व्यंग्यपूर्ण संवाद या वार्तालाप शैली आदि । शुक्ल जी निबन्धों में ये तत्त्व और रूप तो हैं ही बहुत से नये एवं मौलिक रूप भी प्राप्त होते हैं, जैसे, सूत्रात्मकता, लाक्षणिकता, छेड़छाड़, चुटकी, फब्ती, लालित्य व्यक्तिगत जीवन के संस्मरण प्रथम पुरुष का प्रयोग आदि । ये रूप उनकी निबंध-शैली को विशिष्ट एवं असाधरण बनाते हैं। वचन-भंगिमा की रोचकता, अभिव्यक्ति की मार्मिकता, व्यक्तित्व व्यंजक अंशों की मुखर सजीवता और व्यंग्य विनोद की सरसता से पुष्ट थे निबन्ध पाठक को निरन्तर प्रेरित एवं प्रभावित करते हैं ।

विद्वानों ने शास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार शुक्ल जी की निबन्ध शैली को पाँच वर्गों में विभाजित किया है –

1. समीक्षात्मक शैली
2. गवेषणात्मक शैली
3. वर्णनात्मक शैली
4. भावात्मक शैली
5. हास्य-व्यंग्य प्रधान शैली

इनके अतिरिक्त अन्य शैलियों का प्रयोग भी उनके निबन्धों में हुआ है । जैसे :

1. विवेचनात्मक शैली
2. व्याख्यात्मक शैली

3. उद्‌बोधनात्मक शैली

4. निर्णयात्मक शैली

5. तर्कपूर्ण शैली

6. तुलनात्मक शैली

7. संभाषण शैली

8. अलंकृत शैली

9. वाक्य-विन्यास शैली

5. घ. i समीक्षात्मक शैली :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्यिक आलोचना शैली के जन्मदाता माने जाते हैं । उन्होंने अपने निबन्धों में एक ऐसी नूतन समीक्षात्मक रचना-पद्धति का शुभारम्भ किया है, जिसमें उनकी दृढ़ धारणा एवं मान्यता, निजी दृष्टिकोण एवं बद्धमूल विचारधारा के आधार पर ही किसी व्यक्ति, रचना एवं कृति की आलोचना की गई है । उनकी समीक्षात्मक शैली गम्भीर, संयत और मार्मिक है । वाक्य प्रायः छोटे-छोटे हैं । विषय का स्पष्टीकरण शिष्ट एवं संयत रूप से हुआ है । उसमें लेश मात्र भी अस्पष्टता नहीं है । इस शैली के भी दो रूप हैं –

1. सैद्धान्तिक समीक्षा

2. व्यावहारिक समीक्षा

सैद्धान्तिक समीक्षा शैली के दर्शन 'कविता क्या है ?'[76] 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था'[77], 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद'[78] आदि काव्यशास्त्र से सम्बंधित निबन्धों में होते हैं । इन निबन्धों में निगमन-शैली का प्रयोग किया गया है । अनुच्छेद के आरम्भ में ही सूत्र रूप में सिद्धान्त एवं नियम का प्रतिपादन किया गया है तथा अंत में सारांश यह है कहकर उस विषय को स्पष्ट करते हैं । जैसे – ''इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि शुद्ध काव्य की उक्ति सामान्य तथ्य कथन या सिद्धान्त के रूप में नहीं होती । कविता वस्तुओं

और व्यापारों का बिम्ब ग्रहण कराने का प्रयत्न करती है, अर्थ-ग्रहण मात्र से उसका काम नहीं चलता । बिम्ब-ग्रहण जब होगा, तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं। जैसे यदि कहा जाये कि क्रोध से मनुष्य बाबला हो जाता है तो ये काव्य की उक्ति न होगी।''[79]

व्यावहारिक समीक्षा के अन्तर्गत् 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', 'मानस की धर्मभूमि', 'तुलसी का भक्ति-मार्ग' आदि निबन्ध आते हैं । इनमें सैद्धान्तिक समीक्षा के समान विवेचनात्मक गम्भीरता नहीं है । उदाहरण – सारांश यह है कि भक्ति का मूल तत्त्व है महत्त्व की अनुभूति ।''[80] दूसरा उदाहरण 'मानस की धर्मभूमि' में मर्यादा का उल्लंघन संगत या असंगत हैं, इस पर वे लिखते हैं – ''सारांश यह कि यदि कहीं मूल या व्यापक लक्ष्य वाले धर्म की अवहेलना हो तो उसके मार्मिक और प्रभावशील विरोध के लिए किसी परिमित क्षेत्र के धर्म या मर्यादा का उल्लंघन असंगत नहीं । काव्य में तो प्रायः ऐसी अवहेलना से उत्पन्न क्षोभ की अबोध व्यंजना के लिए मर्यादा का उल्लंघन आवश्यक हो जाता है ।''[81]

शुक्ल जी ने रस सिद्धान्त को काव्य-क्षेत्र में सर्वोच्च स्थान दिया है । अतः उन्होंने रस-सिद्धान्त के प्रतिकूल व्यक्ति वैचित्र्य या निरपेक्ष दृष्टि रखने वाले समालोचकों की कटु आलोचना की है । इसी तरह उन्होंने लोकधर्म एवं लोकमंगल के सिद्धान्तों को महत्त्व प्रदान किया है । इसी के आधार पर काव्य के दो भेद किए हैं – साधनावस्था एवं सिद्धावस्था । साथ ही गोस्वामी तुलसीदास को लोकमंगल की स्थापना करने वाला श्रेष्ठ कवि सिद्ध किया है और सूरदास के काव्य को उपभोग पक्ष का काव्य मानकर उसे गौण माना है । भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासक होने के कारण शुक्ल जी नैतिकवादी थे । इसलिए उन्होंने राष्ट्रीय एवं जातीय मनोबल को दृढ़ करने वाले उर्दू के वीर रसात्मक मरसिये भूषण सदन आदि के काव्य को उत्कृष्ट माना है तथा इसके विपरीत रीतिकालीन काव्य को लोकोपकारी न मानकर द्वितीय स्थान प्रदान किया है ।

5. घ. ii गवेषणात्मक शैली :

शुक्ल जी ने एक ऐसी अभूतपूर्व सूचना-पद्धति को भी जन्म दिया है, जिसमें शोध वृत्ति एवं साहित्यिक रुचि दोनों समाविष्ट हैं । इसी शैली के आधार पर उन्होंने 'काव्य में रहस्यवाद' नामक निबन्ध में कई पाश्चात्य विद्वानों के विचारों को उद्धृत किया है । जिनमें आई. ए. रिचड्र्स, , क्रोचे, ब्रेडले आदि प्रमुख हैं । उन्होंने पाश्चात्य देशों में प्रचलित प्रत्ययवाद (Idealism), लोकादर्शवाद (Humanitaran Idealism), अभिव्यंजनावाद, अभिव्यक्तिवाद, अध्यात्मवाद, साम्प्रदायिक रहस्यवाद आदि के साथ-साथ भारतीय अद्वैतवाद, मायावाद, ईश्वरवाद, सर्ववाद, विवर्त्तवाद, अहंजातवाद आदि का भी विवेचन किया है । 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' उनका खोजपूर्ण निबन्ध है, जिसमें उनकी खोजी वृत्ति पायी जाती है– ''अलंकार के सम्बंध में क्रोंचे कहता है कि अलंकार तो शोभा के लिए ऊपर से जोड़ी गई या पहनाई हुई कहते हैं ।''[82] ''यूरोप का वर्तमान लोकादर्शवाद मनुष्य की अन्तःप्रकृति के एक समूचे पक्ष के सर्वथा निराकरण में केवल प्रेम और भ्रातृ भाव की भीतरी शक्ति द्वारा करता क्रोध, हिंसावृत्ति आदि की चिर शान्ति में काव्य का परम उत्कर्ष मानता है और उसी के भीतर सौंदर्य और मंगल को बद्ध देखता है ।''[83] ''यह परम भक्त ईसाई टाल्सटाय के साहित्यिक उपदेशों की प्रतिध्वनि हैं ।''[84]

शुक्ल जी की इस शैली का रूप कुछ अधिक दुरूहता और गम्भीरता लिए हुए है। इसमें व्यावहारिक भाषा का प्रयोग बहुत कम हुआ है । इस शैली के दर्शन वहाँ होते हैं, जहाँ शब्द-निर्माण के अतिरिक्त नवीन विषयों के दिग्दर्शन के प्रतिपादन की आवश्यकता हुई है । गवेषणात्मक शैली तथा समीक्षात्मक शैली के वाक्य विन्यास में विशेष अन्तर न होकर शब्द योजना में थोड़ा-सा अन्तर है । इसमें वाक्य प्रायः लम्बे-लम्बे और विचार सघन होते हैं – ''कलावाद और अभिव्यंजनावाद के एक बड़े उत्साही प्रचारक स्पिगर्न हैं, जिन्होंने 'समालोचना की नई पद्धति' दि न्यू क्रिटिसिज्म नाम की एक छोटी-सी पुस्तिका जिसे एक पैंपलेट कहना

चाहिए में इन वादों की कुछ बातें असंबद्ध रूप में इक्कट्ठी कर दी हैं ।''[85] जायसी, सूर तथा तुलसी की विस्तृत भूमिकाओं में लिखित निबंध भी गवेषणातमक शैली में ही लिए गए हैं।

5. घ. iii वर्णनात्मक शैली :

शुक्ल जी ने इसका प्रयोग मूर्त विषयों के चित्रण में किया है । इसमें भाव और विषय के अनुसार अनेक उतार-चढ़ाव होते चलते हैं । यह शैली कहीं क्लिष्ट और कहीं सरल। वृत्त-कथन में इस शैली का प्रयोग करते हुए विषय का प्रतिपादन अत्यंत सीधे-सादे ढंगे से हुआ है । विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है – ''जब शुक्ल जी का जीवन-दृष्टा मुखर हुआ है और उन्होंने अपने विश्व-व्यापार के व्यापक बोध को अभिव्यक्त किया है, तो सामान्य व्यवहार की शब्दावली का प्रयोग हुआ है । उनका शब्द भंडार बड़ा विशाल है और उसी के अनुरूप उनकी शब्द-संगठन विविधता लिए हुए है । जब उनकी बुद्धि मुखर रही है और अपने सुनियोजित चिंतन-मनन से प्राप्त निष्कर्ष उन्होंने दिए हैं तो छोटे-छोटे वाक्य लिखे हैं । समीक्षात्क निबन्धों में ये वाक्य अपेक्षाकृत बड़े हो गए है ; पर व्याकरणिक दृष्टि से साधारण वाक्य ही हैं ।''[86]

शुक्ल जी की वर्णनात्मक शैली का उदाहरण दृष्टव्य है – ''पृथ्वी का यह ठोस तल जिस पर हम लोग बसते हैं धीरे-धीरे परत पर परत जमने से कई करोड़ वर्षों में बना है। इन परतों का जमना उस कल्प से आरंभ हुआ है जिस कल्प में पृथ्वी की पपड़ी इतनी ठंडी पड़ गई कि उसके ऊपर भाँप की जो गहरी तह चढ़ी थी – जैसी कि वृहस्पति में अब तक दिखाई देती है । वह जमी और जल का आविर्भाव हुआ, समुद्रों की सृष्टि हुई, नदियों का जल किस प्रकार पहाड़ों और ऊँचे स्थानों की मिट्टी या चट्टानों को काटकर अपने मार्ग में इधर-उधर रेत और मिट्टी की तह पर तह जमता जाता है, इसे प्रायः सब लोग जानते हैं।''[87] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए कहते हैं – ''वे सिद्ध वाणी के अत्यन्त सरस हृदय कवि थे । इससे एक ओर तो उनकी लेखनी से श्रृंगार रस के ऐसे रस

पूर्ण और मर्मस्पर्शी कवित्त-सवैये निकलते थे, जो उनके जीवनकाल में ही इधर-उधर लोगों को मुँह से सुनाई पड़ने लगे थे और दूसरी ओर स्वदेश प्रेम से भरे हुए उनके लेख और कविताएँ चारों ओर देश के मंगल का मंत्र-सा फूँकती थी ।''[88]

5. घ. iv भावात्मक शैली :

मनोविकारों पर गम्भीर एवं सुन्दर सुगठित लेख लिखने का प्रयास सर्वप्रथम शुक्ल जी ने ही किया । इसके लिए उन्होंने अपनी नई शैली अपनाई । उसमें वाक्य छोटे-छोटे और सरल हैं, जिससे विषय सरल एवं सुबोध हो जाता है । शुक्ल जी का भावुक हृदय अनुकूल वातावरण पाकर मचल उठता है, पर संयम के साथ उसमें उच्छृंखलता नहीं आती। कवियों की भावुकता के प्रकाशन में तो उनका हृदय रमा ही है, अन्यत्र भी मार्मिक स्थलों पर वे हृदय का बाँध खोल देते हैं । इस शैली में विचार शक्ति की अच्छा संगठन है । एक के पश्चात् दूसरा विचार क्रमशः इस प्रकार व्यक्त होता है कि धीरे-धीरे विचारों की लड़ी-सी बन जाती है। इसमें से एक भी भाव या वाक्य निकल जाये तो बदल जाए तो समस्त विचार श्रृंखला अस्त-व्यस्त हो जाती है । शुक्ल जी स्वयं लिखते हैं – ''किसी गम्भीर विचारात्मक लेख के भीतर कोई मार्मिक स्थल आ जाने पर लेखक की मनोवृत्ति भावोन्मुख हो जाती है और वह काव्य की भावात्मक शैली का अवलम्बन करता है ।''[89]

शुक्ल जी की आत्मोल्लास पूर्ण भावात्मक शैली का उदाहरण चित्रकूट जैसे रम्य स्थान में राम और भरत जैसे रूपवानों की रम्य अंतः प्रकृति छटा का क्या कहना ।''[90] मनोविकारों में लक्षित भावात्मकता द्रष्टव्य है – ""वह लोभ धन्य है, जिससे किसी के लोभ का विरोध नहीं और लोभ की जो वस्तु अपने सब लोभियों को एक-दूसरे का लोभी बनाए रहती है, वह भी परम पुज्य है ।''[91] क्षोभपूर्ण भावात्मक शैली के दर्शन भी शुक्ल जी के निबन्धों में होते हैं – ''कोरी साधुता का उपदेश पाखंड है, कोरा उपदेश उद्दण्डता है, और कोरे ज्ञान का उपदेश आलस्य है और कोरी चतुराई का उपदेश धूर्तता है ।''[92] भावात्मक

शैली में सम्पूर्ण वाक्य छोटे-छोटे संतुलित, अन्तर्वाक्यों से समन्वित प्रायः दीर्घ होते हैं । इनमें भाव के साथ ही साथ भाषा का प्रवाह बराबर मिलता है । शुक्ल जी का हृदय ऐसी स्फीत भाव-धारा में बहुत रमा है– ''यदि वह लहलहाते हुए खेतों और जंगलों, हरी घास के बीच घुम-घूमकर बहते हुए नालों, काली चट्टानों पर चाँदी की तरह ढलते हुए झरनों, मंजरियों से लदी हुई अमराइयों और पटवर के बीच खड़ी झाड़ियों को देख क्षणभर लीन न हुआ, यदि कलरव करते हुए पक्षियों के आनन्दोत्सव में उसने योग न दिया; यदि खिले हुए फूलों को देखकर वह न खिला, यदि सुन्दर रूप सामने पाकर अपनी भीतरी कुरूपता का उसने विसर्जन न किया, यदि दीन-दुःखी का आतर्नाद सुन वह न पसीजा, यदि अनाथों और अबलाओं पर अत्याचार होते देख क्रोध से न तिलमिलाया, यदि किसी बेढव और विनोद पूर्ण दृश्य या उक्ति पर न हँसा तो उसके जीवन में रह क्या गया ?''[93]

5. घ. v हास्य-व्यंग्य प्रधान शैली :

शुक्ल जी में विषयानुरूप शैली के प्रयोग की क्षमता थी । अपनी रचना-पद्धति को रोचक आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक बनाने के लिए अपने निबन्ध में व्यंग्य-विनोदात्मक शैली-धारा प्रवाहित की है । प्रो. रमाशंकर द्विवेदी लिखते हैं – ''आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सामान्य रूप से इतने गम्भीर थे कि उनकी विनोद वृत्ति का परिचय बहुत कम भाग्यशालियों को मिल पाता था। पर जब कभी उनकी विनोद वृत्ति स्फुरित होती थी, वे अपने हास्य को स्मित के आगे न जाने देते और अत्यन्त सूक्ष्म ढंग से ही अपनी बात कहते।''[94] शुक्ल जी के निबन्धों में हास्य-व्यंग्यात्मक शैली का बड़ा ही भव्य स्वतंत्र विकास मिलता है । व्यंग्य-विनोद की समृद्ध प्रवृत्ति कहीं-कहीं तो एक ही शब्द में पूर्ण है । जैसे – विलायती कवि, चौबे जी ब्राह्मण देवता, कलावन्त, वाग्वीर, याचक कवि, मर्कट तुल्य, सलाम-साधक लोग आदि ।''[95] इनकी व्यंग्य शैली में छिछलापन, हल्कापन नहीं है । सर्वत्र शिष्ट, संयत, अर्थ गर्भित, चुटीला हास्य-व्यंग्य पाया जाता है। शब्द प्रयोग के अतिरिक्त शुक्ल जी ने वाक्य-तीर के प्रयोग द्वारा

भी प्रहार किया है । जैसे –

1. अब बेबकूफी करने में लोग संकोच नहीं करते, और सब बातों में करते हैं ।[96]
2. हितोपदेश के गदहे ने तो बाल की खाल ही ओढ़ी थी, पर ये लोग (नकली) बाघ की बोली भी बोल लेते हैं ।[97]
3. हमीं हम वाले, तुम भी नहीं सह सकते, तुम्हीं तुम की क्या बात है ।[98]
4. जो कहते हैं कि हम अज्ञात, अव्यक्त की अनुभूति से मतवाले हो रहे हैं, उन्हें काव्य-क्षेत्र से निकालकर मतवालों के बीच अपना हाव-भाव, नृत्य दिखाना चाहिए ।[99]
5. आजकल सार्वजनिक उद्योगों की बड़ी धूम रहा करती है और बहुत से लोग निराहार परोपकार-व्रत करते सुने गए हैं ।[100]

उपर्युक्त उद्धरणों में व्यंग्य के साथ कुछ हास्य का पुट भी मिला हुआ है । कहीं-कहीं विशुद्ध हास्य के दर्शन भी होते हैं । 'क्रोध' निबन्ध में शुक्ल जी ब्राह्मण की स्थिति का चित्रण करते हुए कहते हैं – ''एक बार मैंने देखा कि एक ब्राह्मण देवता चूल्हा फूँकते-फूँकते थक गए । जब आग न जली तब उस पर क्रोध करके चूल्हे में पानी डालकर किनारे हो गए।''[101] शुक्ल जी में व्यंग्य की भी प्रवृत्ति पाई जाती है । इन व्यंग्य बाणों का उद्देश्य चुटकी लेना ही नहीं, अपितु विपक्षी को मर्माहत करना भी है । ऐसी तीव्र व्यंग्योक्तियों में शुक्ल जी की अरुचि, खींझ और क्षोभ की व्यंजना हुई है – ''रवीन्द्र बाबू आदि अनन्त की ओर ताका करें तो यह आवश्यक नहीं कि सबकी टकटकी उसी ओर लगे ।''[102] ''कोरे शब्द-व्यवसायी केशवदास जी को कमल और चन्द्र को प्रत्यक्ष देखने में कुछ भी आनन्द नहीं आता था, केवल वाक्यों में उपमा-उत्प्रेक्षा आदि के अन्तर्गत उसका वर्णन या उल्लेख ही भाता था - दैखै मुख भावै अनदेखई कमल चन्द.....।''[103]

शुक्ल जी अपने हास-परिहास में गहरी चोट भी करते चलते हैं जिससे समाज की

बुराइयाँ प्रकट होकर दूर भी हो – ''मोटे आदमियों ! तुम जरा-सा दुबले हो जाते अपने अंदेशे से ही तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता ।''[104] भावावेश में शुक्ल जी की हास्य-व्यंग्य शैली का एक और रूप सामने आता है । इसमें वाक्य-योजना दीर्घ भावात्मक प्रवाह और भाषा में प्रभावपूर्ण व्यंजना शक्ति की भव्यता पाई जाती है । जैसे – ''लोभियों ! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारी इन्द्रियाँ, तुम्हारी मानापमान समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है, तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है । तुम धन्य हो ! तुम्हें धिक्कार है ।''[105]

शुक्ल जी के निबन्धों में ऐसे बहुत से स्थल हैं, जहाँ हास्य-व्यंग्य विनोद के माध्यम से गम्भीर तथ्यों का विवेचन किया गया है । उनका विचार है कि संकोच के अभाव में बहुत सी बातों की सीमा ढह जाती है । वे प्रेम को बहुत ऊँचा मानते हैं – ''प्रेम हिसाब-किताब की बात नहीं है। हिसाब-किताव करने वाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं, पर प्रेम करने वाले नहीं ।''[106] उनका मानना है कि धन का लोभ, मनुष्यता का लोप कर देता है।[107] कविता भी पूर्वाग्रहों से युक्त होकर लाभ की बजाय हानि करती है ।[108] शुक्ल जी के हास्य-व्यंग्य पर डॉ. सरोज लिखती हैं– ''शुक्ल जी बुद्धि पक्ष और हृदय पक्ष को साथ-साथ लेकर चले थे, इसलिए उनके व्यंग्य में सरसता, रोचकता और पैनापन दिखाई देता है । उनका हास्य-व्यंग्य विनोद अपनी निर्मलता बिखेरता रहता है, कहीं भी भौंड़ापन अथवा फूहड़ता नहीं है । ..... वे हास्य-व्यंग्य के द्वारा समस्या का संकेत करके नहीं रह गए, उन्होंने हास्य-व्यंग्य के द्वारा सुधार सुझावों का संकेत किया ।''[109] शुक्ल जी की यह हास्य-व्यंग्य प्रधान पूर्ण शैली बड़ी मधुर और स्निग्ध है ।

5. घ. vi विवेचनात्मक शैली :

शब्द प्रयोग एवं अर्थ की दृष्टि से यह शैली दो प्रकार की मानी जाती है :

क. समास शैली,

ख. व्यास शैली ।

शुक्ल जी की विवेचनात्मक शैली समास युक्त है, किन्तु यह शब्दगत समास नहीं, अपितु अर्थगत समास है । शुक्ल जी ने शब्दगत समास का प्रयोग किया है, परन्तु संख्या में कम है। दो या तीन शब्दों से अधिक शब्दों के समास कम प्रयुक्त किए हैं । 'सलाम-साधक', 'नाद-सौंदर्य', 'लोक-संग्रह', 'सिद्धान्त-वाक्य', 'लोक-जीवन-बद्ध' आदि शब्दगत समास हैं, जो भाषा में संकोच, गम्भीर्य और सौष्ठव का संचार करते हैं । आचार्य शुक्ल की समास-शैली की विशेषता उनके अर्थगत समास के कारण है । थोड़े में बहुत कहने की प्रवृत्ति उनमें विशेष रूप से पाई जाती है । भाषा की इसी व्यंजना शक्ति के कारण शुक्ल जी ने अनेक अर्थ गर्भित मार्मिक उक्तियों का निर्माण किया है । विचार एवं विषय-प्रधान निबन्ध में जहाँ विचारों की सघन कसावट होती है, जहाँ प्रत्येक अनुच्छेद में विचार ठूँस-ठूँसकर भरे जाते हैं, वहाँ बातें अति संक्षेप में प्रस्तुत की जाती हैं । लेखक के पास प्रस्तुत करने के लिए विचारों का इतना जबर्दस्त भंडार होता है कि उसे बहुत चुस्त भाषा एवं अति सघन रूप में अपनी बातों को प्रस्तुत करना अनिवार्य हो जाता है । इसके लिए समास शैली की आवश्यकता पड़ती है।

शाब्दिक दृष्टि से दो शब्दों को जोड़ना समास कहलाता है । व्यावहारिक रूप में यह शैली भाव संक्षेपीकरण से युक्त सूत्रात्मक बन जाती है । शुक्ल जी की रचना-पद्धति में सूक्ति जैसे सूत्रात्मक वाक्यों की बहुलता है, जिसके फलस्वरूप एक ओर तो उनकी भाषा में कलात्मकता एवं सुष्ठता का संचार हुआ है तो दूसरी ओर उनकी रचना-शैली में गुरुता, गम्भीरता, लक्षणिकता एवं अर्थवत्ता का समावेश हुआ है – ''भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है ।''[110] ''साहसपूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है ।''[111] ''कर्ता से बढ़कर कर्म का स्मारक दूसरा नहीं ।''[112] ''श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है ।''[113] ''परिचय प्रेम का प्रवर्तक है ।''[114] ''वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है ।''[115] ये सूत्र शुक्ल जी की निबन्ध कला के विशिष्ट एवं आकर्षक पहचान बन जाते हैं । इन सूत्रों के विधान की पृष्ठभूमि में निहित

लेखक का व्यापक जीवनानुभव, गहन-चिंतन-मनन, विशद् लोक निरीक्षण और दृढ़ विश्वास इनको बहुत प्रभावशाली बनाते हैं ।

5. घ. vii व्याख्यात्मक शैली :

शुक्ल जी ने अपने विचारों एवं भावों का प्रकाशन व्याख्यात्मक शैली में किया है । अपने विचारों को सुगमता पूर्वक पाठकों तक पहुँचाने के लिए इस शैली का प्रयोग किया । व्याख्यात्मक शैली के दोनों रूपों आगमन एवं निगमन का सफल प्रवर्त्तन शुक्ल जी की अपनी विशिष्टता है । इन दोनों का संयुक्त रूप में भी प्रयोग किया है और अलग-अलग भी । यह अध्यापकीय शैली भी कहलाती है, जिसमें अपनी बात को उद्धरण, तुलना, व्याख्या आदि द्वारा स्पष्ट करके पुनः सारांश यह कि, तात्पर्य यह कि, इससे सिद्ध हुआ, अतः आदि के प्रयोग से विषय को सारगर्भित वाक्य में सूत्रबद्ध करने का प्रयत्न किया है । जैसे 'कविता क्या है ?' निबंध में विषय को स्पष्ट करने के पश्चात शुक्ल जी कहते हैं – सारांश यह कि केवल असाधारणत्व की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नहीं है । शोभा और सौंदर्य की भावना के साथ जिनमें मनुष्य जाति के उस समय के पुराने सहचरों की वंश-परम्परागत स्मृति वासना के रूप में बनी हुई है ।''[116] इसी प्रकार 'लोभ और प्रीति' निबन्ध में पहले विश्वामित्र के उदाहरण तथा व्याख्या से विषय को स्पष्ट करने के उपरान्त कहते हैं – ''अन्य का त्याग अनन्य और सच्चे लोभ की पहचान है ।''[117]

आचार्य शुक्ल के निबन्धों में निगमन शैली का प्रयोग तो सर्वत्र ही मिलता है । 'ईर्ष्या' निबन्ध में इस शैली का प्रयोग देखा जा सकता है – ''ईर्ष्या का दुःख प्रायः निष्फल हो जाता है।''[118] तथा ''ईर्ष्या अत्यन्त लज्जावती वृत्ति है ।''[119] सूत्र वाक्यों से आरंभ होने वाले घटकों में यह शैली स्पष्ट एवं सुन्दर है ।

आगमन एवं निगमन दोनों शैलियों का एक साथ प्रयोग भी कहीं-कहीं दिखाई देता है । उनकी समझाने वाली इस शैली के कारण ही उनके निबन्धों के विषय गम्भीर होते

हुए भी उनमें दुरूहता नहीं है । अतः सारांश यह, इससे सिद्ध होता है आदि का सफल प्रयोग साथ ही बात यह है, अब देखना है, सोचने की बात यह है, निष्कर्ष यह, थोड़ा भी देखना चाहिए, अब प्रश्न यह आता है, इस प्रकार आदि का प्रयोग उनकी व्याख्यात्मक शैली को पुष्ट करता है ।

5. घ. viii उद्‌बोधनात्मक शैली :

शुक्ल जी के निबन्धों में एक लोकप्रिय वक्ता की सरस एवं आवेश पूर्ण रचना-पद्धति के भी दर्शन होते हैं । विवेचना-आलोचना में अवसर प्राप्त होने पर पाठकों, साहित्यकारों आदि को सावधान करते, आदेश-निर्देश भी देते हैं । ऐसे स्थानों पर उद्‌बोधनात्मक शैली के दर्शन होते हैं– ''सबसे पहले हम आप महानुभावों के सामने अपनी वह आशंका प्रकट करना चाहते हैं जो वर्तमान राजनीति की गतिविधि देख अपनी भाषा के परम्परागत स्वरूप के सम्बंध में हो रही है।''[120] ''ऐसे लोगों को शब्दों का प्रयोग करते समय शास्त्र-पक्ष का कुछ पता रखना या लगा लेना चाहिए।''[121] ''योरप उसे छोड़ रहा है, छोड़ दे, यह आवश्यक नहीं कि हम हर एक कदम उसी के पीछे-पीछे रखें ।''[122]

5. घ. ix निर्णयात्मक शैली :

इस शैली का प्रयोग प्रधानतः साहित्य आलोचना सम्बंधी निबन्धों में हुआ है । इसमें उनके मत एवं विचारों की पुष्टि हुई है । कहीं-कहीं तुलनात्मक विवेचन द्वारा निर्णय देने की प्रवृत्ति भी मिलती है । ऐसा प्रायः कवियों की तुलना में हुआ है । जैसे –

1. ''भागवद् भक्ति के लिए हम तो प्रेम की यही पद्धति (लोक-जीवन-सापेक्ष) समीचीन मानते हैं। ..... हम तो जगत् के बीच हृदय के सम्यक् प्रसार में ही भक्ति का प्रकृत लक्षण देखते हैं क्योंकि राम की ओर ले जाने वाला रास्ता इसी संसार से होता हुआ गया है ।''[123]

2. ''प्रत्यक्ष से हमारा अभिप्राय केवल चाक्षुष ज्ञान से नहीं है।''[124]

3. ''हमारे यहाँ धर्म से अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की सिद्धि कही गई है ।''[125]

5. घ. x तर्कपूर्ण शैली :

शुक्ल जी ने अपने निबन्धों में तर्कपूर्ण शैली का शुभारम्भ किया , जिसमें किसी बँधे-बँधाए पुराने सिद्धान्तों के आधार पर गुण-दोष निरूपण से आलोचना की गई । इसमें रचयिता के दोषों एवं त्रुटियों का भी तर्कपूर्ण ढंग से विवेचन किया गया है । शुक्ल जी के भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जायसी, सूर, तुलसी आदि समीक्षात्मक निबन्धों में इस शैली के स्पष्ट दर्शन होते हैं यथा– ''प्रभु के महत्त्व के सामने होते ही भक्त के हृदय में अपने लघुत्व का अनुभव होने लगता है।''[126]

5. घ. xi तुलनात्मक शैली :

मनोविकार सम्बंधी निबन्धों में तुलनात्मक शैली के दर्शन होते हैं । समीक्षात्मक निबन्धों में भी भावों का सूक्ष्म भेद एवं साम्य इसी शैली द्वारा प्रकट हुआ है – ''लोभ सामान्योन्मुख होता है,[127] प्रेम विशेषोन्मुख प्रेम में घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार,[128] यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है''[129] आदि सूत्र वाक्यों में कला लाघव से पूर्ण तुलनात्मक शैली के दर्शन होते हैं। उन्होंने अपने विचारों को स्पष्ट करने के लिए तुलनात्मक शैली का भी सहारा लिया है । जैसे – श्रद्धा-भक्ति और लोभ-प्रीति में।[130]

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र लिखते हैं – ''शुक्ल जी का बुद्धि वैभव तुलनात्मक अध्ययन में भी प्रकट हुआ है। कुछ विषय ऐसे होते हैं कि जब तक उन्हें मिलते-जुलते विषयों के साथ न रखकर न देखा जाए तब तक उनकी अपनी विशेषता, अपनी पूर्णता के साथ सामने ही नहीं आती। मनोविकारों के विश्लेषण-विवेचन में शुक्ल जी को तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसलिए उन्होनं अनेक मिलते-जुलते भावों पर एक साथ विचार

करना आवश्यक समझा है ।[131] शुक्ल जी की तुलना का उदाहरण दृष्टव्य है – ''हमारे अन्तःकरण में प्रिय के आदर्श रूप का संघटन उसके शरीर या व्यक्ति मात्र के आश्रय से हो सकता है, पर श्रद्धेय के आदर्श रूप का संघटन उसके फैलाए हुए कर्म तन्तु के उपादानों से होता है । प्रिय का चिन्तन हम आँख मूँदे संसार को भुलाकर करते हैं पर श्रद्धेय का चिन्तन हम आँख खोले हुए संसार का कुछ अंश सामने रखकर करते हैं । यदि प्रेम स्वप्न हे तो श्रद्धा जागरण, प्रेम में केवल दो पक्ष होते हैं, श्रद्धा में तीन, प्रेम में कोई मध्यस्थ नहीं, पर श्रद्धा में मध्यस्थ अपेक्षित है ।..... यदि किसी कवि का काव्य बहुत अच्छा जचा और हमारे मन में उसके प्रति सुहृद भाव उत्पन्न हुआ, तो वह श्रद्धा है, क्योंकि वह काव्य या चित्र रूप मध्यस्थ द्वारा प्राप्त हुआ है ।''[132]

5. घ. xii संभाषण शैली :

भाव पूर्ण संभाषण शैली का भव्य रूप शुक्ल जी के निबंधों में पया जाता है । यथा ''यदि देश प्रेम के लिए हृदय में जगह रहती है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाओ । बाहर निकलो तो आँखें खोलकर देखो कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, नाले झाड़ियों के बीच कैसे बह रहे हैं, टेसु के फूलों की वनस्थली कैसी लाल हो रही है, चौपायों के झुंड चरते हैं, चरवाहे तान लड़ा रहे हैं, अमराइयों के बीच में गाँव झाँक रहे हैं । उनमें घुसो देखों तो क्या हो रहा है ?[133]

शुक्ल जी ने अपने निबंधों में अपने विस्तृत अनुभवों का उपयोग आत्मीयता का संस्पर्श प्रदान करने के लिए भी किया है । इनमें पाठकों एवं श्रोताओं पर प्रभाव डालने की अद्‌भुत शक्ति है, जो शिक्षा प्रदान करने के लिए अत्यन्त उपयोगी है । इसमें घटनाओं, कथाओं एवं विख्यात चरित्रों की चर्चा अधिक हुई है । जो जन साधारण को सहज ही आकर्षिक करते हैं । 'लोभ और प्रीति' निबंध में लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने के प्रसंग में पुरानी काजी की कथा के वर्णन में तथा सभी इतिवृत्तात्मक प्रसंगों में इस

शैली का सफल निर्वाह हुआ है । शुक्ल जी में वर्णन की अपूर्व क्षमता है । जैसे – ''बूड्ढी की झोंपड़ी में न को चमक दमक थी, न कला कौशल ।''[134] संभाषण शैली द्वारा शुक्ल जी अपने विचारों की छाप पाठक के हृदय में छोड़ने में पूर्णतः सफल हुए हैं ।

5. घ. xiii अलंकृत शैली :

शुक्ल जी ने अपनी भाषा को सहज, बोधगम्य, मर्मस्पर्शी एवं प्रभाव पूर्ण बनाने के लिए अलंकृत शैली का प्रयोग किया है । प्रस्तुत उद्धरण में शुक्ल जी ने अपनी वर्णन शक्ति के साथ समास बहुल संस्कृत गर्भित अलंकृत शैली का प्रयोग किया है – जो केवल प्रफुल्ल प्रसून प्रसाद के सौरभ संचार, मकरन्द लोलुप मधुप गुंजार, कोकिल कुंजित निकुंज और शीतल-सुख, स्पर्श-समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं, वे विषयी या भोगलिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताव, हिम बिन्दु मंडित, मरक्ताभ शाद्वल-जाल, अत्यन्त विशाल गिरि-शिखर से गिरते वे जल प्रपात के गंभीर गर्त से गम्भीर गर्त से उठी हुई सीकर नीहारिका के बीच विविध वर्ण-स्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिए कुछ पाते हैं, वे तमाश बीन हैं - सच्चे भावुक या सहृदय नहीं ।''[135]

डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं – ''शुक्ल जी ने अपने निबन्धों द्वारा हिन्दी के काव्यशास्त्र को एक नया मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक आधार दिया । इस आधार पर उन्होंने साहित्य की प्रगति-विरोधी धाराओं का खंडन किया और संस्कृत हिन्दी की प्रगतिशील परम्परा का समर्थन किया । उनकी शैली तार्किक विवेचन के लिए उपयुक्त होने के साथ-साथ आवश्यकतानुसार आवेशपूर्ण और आलंकारिक भी है और उसकी एक-एक विशेषता जीवन को संचित अनुभव प्रकट करने वाली वाक्यावली है ।''[136]

5. घ. xiv वाक्य-विन्यास शैली :

शुक्ल जी अपने विचारों, अनुभूतियों एवं कल्पनाओं को सरल एवं सहज अभिव्यक्ति के लिए इस शैली का प्रयोग किया । इस शैली में निर्देशक चिह्नों (-) का प्रयोग हुआ है ।

कहीं-कहीं एक निर्देशक चिह्न का प्रयोग है तो कहीं-कहीं दो निर्देशक विद्वानों का प्रयोग किया है । जैसे– ''मनुष्य का प्रेम-सौंदर्य, वस्तु-सौंदर्य, कर्म-सौंदर्य वाक्-सौंदर्य, भाव-सौंदर्य सब – देखना और दिखाना चाहता है ।''[137] ''इस उच्च भूमि पर पहुँचा हुआ प्रेमी प्रिय से कुछ भी नहीं चाहता केवल यही चाहता है– प्रिय से नहीं, ईश्वर से – कि हमारा प्रिय बना रहे और हमें ऐसा ही प्रिय रहे ।''[138] उन्होंने कहीं-कहीं कोष्ठकों ( ) का भी प्रयोग किया है । जैसे– ''मन (चेतन अवस्थाएँ) और संवेदन सूत्रों की भौतिक क्रिया एक ही वस्तु के विषयी और विषय अर्थात ज्ञातृ और ज्ञेय दो पक्ष हैं ।''[139]

शुक्ल जी ने अपनी वाक्यावली में विभिन्न प्रभावात्मक प्रयोग करके अपनी भाषा-शैली से सौष्ठव उत्पन्न किया है । कहीं वे तुकदार संयुक्त वाक्यों की योजना द्वारा प्रभाव उत्पन्न करते हैं तो कहीं तुलनात्मक वाक्यों में क्रिया को अंत में न रखकर मध्य में ही उसका प्रयोग कर देते हैं – ''हम अपना मुँह न दिखाकर लज्जा से बच सकते हैं, पर ग्लानि से नहीं, दूसरों का भय हमें भगा सकता है, हमारी बुराई को नहीं । दूसरों से हम भाग सकते हैं, पर अपने से नहीं । अनुभूति मन की पहली क्रिया है, संकल्प-विकल्प दूसरी ।''[140] इस शैली की एक और विशेषता है जिसमें वे अपनी बात को समझाने के लिए स्वयं प्रश्न करते हैं और उत्तर देते हैं । उनकी इस शैली ने उनकी भाषा को बड़ा प्रभावपूर्ण बना दिया है, इसमें ऐसे सुगठित वाक्य-विन्यास की सृष्टि हुई है कि उसके एक वाक्य या उपवाक्य से एक शब्द को भी हटा पाना सम्भंव नहीं है ।

निष्कर्षतः शुक्ल जी के निबन्ध हिन्दी-साहित्य की अनुपम निधि हैं । इनमें गम्भीर विवेचन के साथ-साथ गवेषणात्मक चिंतन का योग है । ''शुक्ल जी की शैली वैज्ञानिक विवेचन की शैली है । उसमें कलात्मक सौंदर्य पैदा करने की कोशिश नहीं की गई है। फिर भी वह शैली एक-सी नहीं है । करुणा, क्रोध आदि निबन्धों में शैली का आनन्द कम है ; सूक्ष्म तर्क-योजना में रस लेने वाले ही इन्हें पढ़कर प्रसन्न हो सकते हैं ।''[141] इनके निबन्धों में

विचार शक्ति के स्वस्थ संघटन के साथ-साथ भाव-व्यंजना का वैविध्यपूर्ण माधुर्य प्राप्त होता है। विषयानुकूल नूतन शब्द-निर्माण है । आलोचनात्मक, गवेषणात्मक, वर्णनात्मक, भावात्मक शैली में विचारों का प्रस्फुटन हुआ है । हास्य-व्यंग्य द्वारा क्लिष्ट भाषा को भी बोधगम्य बनाया गया है । विचारों को श्रृंखला बद्ध रूप से प्रस्तुत करने वाले शुक्ल जी के निबन्ध हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं ।

संदर्भ :

1. Language may be defined as an arbitrary system of vocal symbols by means of which human bings as member of a social group and participation in culture introgation and commnicates Encylopaidia. p. 239..
2. भाषा-विज्ञान : भोलानाथ तिवारी, पृ. 28
3. Language in an expression of thought by speech- sound : Sweet p.3
4. भाषा-विज्ञान : भोलानाथ तिवारी, पृ. 28
5. वही, पृ. 13
6. सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल, पृ. 375
7. रामचन्द्र शुक्ल : सं. सुरेश चन्द्र त्यागी, पृ. 250
8. चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 11
9. वही, पृ. 81
10. वही, पृ. 70
11. वही, पृ. 14
12. वही, पृ. 46
13. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल निबन्ध संरचना और काव्य चिंतन : योगेन्द्र प्रताप सिंह, पृ. 41
14. चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 8
15. वही, पृ. 26
16. वही, पृ. 110
17. चिन्तामणि (द्वितीय भाग) : सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 233
18. चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 5
19. वही, पृ. 40
20. वही, पृ. 110
21. सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल, पृ. 434
22. चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 49
23. वही, पृ. 143
24. वही, पृ. 20
25. सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल, पृ. 446
26. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना : रामविलास शर्मा, पृ. 205
27. चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 135

28.सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल, पृ. 381
29.चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 39
30.रामचन्द्र शुक्ल : सं. सुरेश चन्द्र त्यागी, पृ.
31.चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 33
32.वही, पृ. 37
33.वही, पृ. 51
34.वही, पृ. 65
35.वही, पृ. 39
36.वही, पृ. 179
37.वही, पृ. 218
38.वही, पृ. 117
39.सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल, पृ. 419
40.चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 7
41.वही, पृ. 9
42.वही, पृ. 90
43.वही, पृ. 90
44.वही, पृ. 11
45.वही, पृ. 11
46.वही, पृ. 20
47.वही, पृ. 26
48.वही, पृ. 39
49.वही, पृ. 35
50.वही, पृ. 117
51.वही, पृ. 24
52.वही, पृ. 25
53.वही, पृ. 138
54.वही, पृ. 41
55.वही, पृ. 135
56.वही, पृ. 136
57.वही, पृ. 60
58.वही, पृ. 63
59.वही, पृ. 39
60.वही, पृ. 223

61.चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 252
62.वही, पृ. 258
63.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रतिनिधि निबन्ध : सं. सुधाकर पाण्डेय, पृ. 187
64.वही, पृ. 188
65.चिन्तामणि (तीसरा भाग) : सं. डॉ. नामवर सिंह, पृ. 235
66.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रामचन्द्र तिवारी, पृ. 47
67.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रतिनिधि निबन्ध : सं. सुधाकर पाण्डेय, पृ. 185
68.संस्कृत-हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे, पृ. 1030
69.हिन्दी-अंग्रेजी शब्दकोश : भार्गव, पृ. 203
70.Style as a higher and active principle of compasition by which the writer, penetrates and seveals the inner from of his subject : An approach to the studdy of style, by Spencer J. p. 11
71.Style..... is a question not of technique butivision : Towards a definition of style Indian linguestics : Thakur, p. 41
72.A discussion of the word style, if it were pussued with only a fraction of the vigoule of a scientific investigation, will inevitably whole of literacy acsthetics and the Theory of criticism. The Problem of style. Murry, p. 3
73.शैली विज्ञान : भोलानाथ तिवारी, पृ. 22
74.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : प्रतिनिधि निबन्ध : सं. सुधाकर पाण्डेय, पृ. 185
75.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना : रामविलास शर्मा, पृ. 209
76.चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 93
77.वही, पृ. 142
78.वही, पृ. 151
79.वही, पृ. 152
80. वही, पृ. 135
81.वही, पृ. 141
82.चिन्तामणि, (द्वितीय भाग) : सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 126
83.वही, पृ. 35
84.वही, पृ. 35
85.वही, पृ. 135
86.रामचन्द्र शुक्ल : सं. सुरेश चन्द्र त्यागी, पृ. 264
87.चिन्तामणि (तीसरा भाग) : सं. डॉ. नामवर सिंह, पृ. 122

88.चिन्तामणि (द्वितीय भाग) : सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 127
89.चिन्तामणि (तीसरा भाग) : सं. डॉ. नामवर सिंह, पृ. 233
90.वही, पृ. 164
91.वही, पृ. 58
92.वही, पृ. 9
93.वही, पृ. 96
94.सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल, पृ. 317
95.चिन्तामणि, (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 95
96.वही, पृ. 159
97.वही, पृ. 80
98.वही, पृ. 59
99.वही, पृ. 143
100.वही, पृ. 79
101.वही, पृ. 91
102.वही, पृ. 50
103.वही, पृ. 160
104.वही, पृ. 94
105.वही, पृ. 56
106.वही, पृ. 53
107.वही,पृ. 48
108.वही, पृ. 127
109.सम्मेलन पत्रिका, सं. डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल, पृ. 446
110.चिन्तामणि, (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 6
111.वही, पृ. 8
112.वही, पृ. 24
113.वही, पृ. 44
114.वही, पृ. 106
115.वही, पृ. 189
116.वही, पृ. 99
117.वही, पृ. 49
118.वही, पृ. 82
119.वही, पृ. 82
120चिन्तामणि (तीसरा भाग) : सं. डॉ. नामवर सिंह, पृ. 272

121.चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 181
122.वही, पृ. 175
123.वही, पृ. 61
124.वही, पृ. 162
125.वही, पृ. 139
126.वही, पृ. 135
127.वही, पृ. 47
128.वही, पृ. 13
129.वही, पृ. 15
130.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : प्रतिनिधि निबन्धः सं. सुधाकर पाण्डेय, पृ. 188
131.रामचन्द्र शुक्ल : सं. सुरेशचन्द्र त्यागी, पृ. 252
132.चिन्तामणि, (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 19
133.वही, पृ. 49
134.वही, पृ. 115
135.वही, पृ. 204
136.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना : डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 209
137.चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 58
138.वही, पृ. 62
139.चिन्तामणि (तीसरा भाग) : सं. डॉ. नामवर सिंह, पृ. 164
140.चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 58
141.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना : डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 209

षष्ठ अध्याय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी निबंध साहित्य को योगदान

षष्ठ अध्याय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी निबंध साहित्य को योगदान

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य की उन महानतम विभूतियों में से हैं, जिन्होंने न केवल हिन्दी-भाषा और साहित्य को जीवंतता प्रदान की, अपितु हिन्दी भाषा और साहित्य को नया मनोबल देकर उसे विश्व की प्रमुख भाषा-साहित्य के सन्निकट खड़ा होने का सम्मान प्रदान किया। शुक्ल जी बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार हैं । साहित्य की विभिन्न विधाओं मुख्यतः निबन्ध एवं आलोचना के क्षेत्र में उनकी अबाध गति है । उन्हें हिन्दी के युग प्रवर्त्तक आलोचक एवं निबन्धकार की संज्ञा से अभिहित किया जाना हिन्दी साहित्य का गौरव एवं सम्मान है । वे हिन्दी साहित्याकाश के ऐसे जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं जिन्होंने अपनी उत्कृष्ट रचनाओं से हिन्दी साहित्य को सम्पन्न एवं समृद्ध बनाया है । श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र लिखते हैं– ''आचार्य शुक्ल की बहुमुखी प्रतिभा को देखते हुए, इनकी साहित्य-सेवा पर जब दृष्टि जाती है तो मस्तक कृतज्ञता के ऋण से झुक जाता है । इस विद्वान ने जितना किया उतना शताब्दियों के सहस्त्रों साहित्यिक मिलकर नहीं कर सके । हिन्दी गद्य का तो शुक्ल जी ने एक संयत शैली और सुव्यवस्थित रूप दिया । इन्होंने दर्शन को साहित्य का आधार बनाकर अपने गम्भीर चिन्तन का एक बड़े ही ओजपूर्ण ढंग से हिन्दी संसार के सामने रखा । शुक्ल जी ने गद्य में जो कुछ भी लिखा वह उनके प्रगाढ़ चिन्तन और मनन का ही परिणाम था । चिंतक के रूप में शुक्ल जी के सामने हिन्दी साहित्य में कोई हुआ ही नहीं । लिखने से पहले शुक्ल जी अपने अन्तस के आलोक में समग्र सृष्टि को अपने दृष्टिकोण से एक बार देख लेते हैं और इसीलिए उनका व्यक्तित्व उनके प्रत्येक शब्द में ओत-प्रोत है ।''[1]

शुक्ल जी की साहित्य साधना हिन्दी, संस्कृत एवं अंग्रेजी ग्रंथों के अध्ययन से आरम्भ हुई थी । उन्होंने हरबर्ट स्पेंसर, अलेक्जेंडर, जेम्स सले एवं जी. एफ. स्काउट की मनोविकार पर आधारित पुस्तकें पढ़ीं । पश्चिम की वैज्ञानिक विचार धारा को समझने के

लिए 'हैकल' की विश्व विख्यात पुस्तक 'रिडिल ऑफ दि यूनिवर्स' का अध्ययन किया । उनकी रचनाओं में भौतिकता के प्रति आग्रह, मनोविज्ञान की ओर झुकाव साथ ही लोक के प्रति जो अगाध निष्ठा दिखाई देती है वह उनके अध्ययनशील व्यक्तित्व का परिणाम है । उन्होंने भाव एवं विचारों के रथ पर चढ़कर विभिन्न निबन्धों की रचना की । मनोजगत की भूमि से उठकर जब उन्होंने साहित्य-समीक्षा की ओर कदम बढ़ाए तो भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया । आलोचना के मानदण्डों का निरीक्षण किया । प्लेटो, शेक्सपीयर से लेकर प्रयोगशील कवि ई. ई. कमिंग्स तक को रचना का विषय बनाया। पाश्चात्य के अनेक साहित्यिक आन्दोलनों की प्रशंसा की तो कई आन्दोलनों की खुलकर आलोचना भी की । पाश्चात्य साहित्य का अध्ययन कर जो भी ग्रहण किया उसे भारतीय परिप्रेक्ष्य में भारतीय लोक-जीवन, भारतीय संस्कृति, परम्परा, मान्यता एवं भारतीय चिंतन के साथ साहित्य के रूप में प्रस्तुत किया । 'मधुरेश' लिखते हैं – एक आलोचक के रूप में पूरी तरह प्रतिष्ठित होने से पूर्व और बहुतों की तरह आचार्य शुक्ल भी साहित्य की अन्य विधाओं में संघर्ष करते दिखाई देते हैं । उनकी आगत उपलब्धियों के लिए यह एक लम्बी तैयारी का काल भी कहा जा सकता है । कहानी जैसी अविकसित और उपेक्षित विधा के प्रति उनकी दिलचस्पी और उसकी संभावनाओं की टोह उनकी जागरूकता का प्रमाण है । ऐसा भी लग सकता है कि हिन्दी गद्य के विकास के उस दौर में उन्हें हिन्दी में जो अभाव दिखाई देता है, बड़ी ललक के साथ वे स्वयं उसकी पूर्ति करने की कोशिश करते हैं । दार्शनिक, वैज्ञानिक, चिंतन, मनोविकार सम्बंधी निबन्ध, संस्मरण, कहानी और कतिपय संशोधनों, परिवर्तनों के साथ किया गया 'शशांक' का अनुवाद आदि उनकी इसी आकांक्षा और प्रवृत्ति को उद्धृत करते दिखाई देते हैं । अपने वास्तविक काव्य-क्षेत्र और मूल विधा को पहचान लेने के बाद वे स्वाभाविक रूप से सब ओर से हाथ खींचकर उसी में पूरी तरह सक्रिय हो जाते हैं । लेकिन अपनी उस व्यापक तैयारी के दौरान दूसरे क्षेत्रों में छिटपुट रूप से भी उन्होंने जो कुछ किया,

उसके ऐतिहासिक महत्त्व के अतिरिक्त शुक्ल जी के साहित्य-विवेक और आलोचना-दृष्टि को समझने के लिए भी उसका महत्त्व असंदिग्ध है ।''[2]

6.क. हिन्दी निबन्ध साहित्य में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की अवस्थिति :

हिन्दी गद्य-साहित्य का आविर्भाव आधुनिक काल में सन् 1850 से अब तक में हुआ। विपरीत परिस्थितियों के कारण ही आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी गद्य-साहित्य का विकास संभव नहीं हो पाया । ''आधुनिक हिन्दी साहित्य का आरंभ उस समय हुआ जबकि रीति कविता का कानन उजड़ चुका था और रीतिकाल के कवि का कोकिल कंठ नीरस कुछ-कुछ सूना और अवरूद्ध सा हो गया था । यह सब कुछ बदलते हुए युग का परिणाम था। सन् 1850 से आधुनिक युग का आरम्भ होता है जबकि अंग्रेजी शासन पूरी तरह प्रतिष्ठित हो जाता है । इस नवीन विदेशी शासन के सम्पर्क से भारत में एक नवीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं साहित्यिक चेतना का स्वस्थ आविर्भाव होता है । पूर्व-पश्चिम के सांस्कृतिक सम्पर्क से जो नई चेतना उद्‌बुद्ध हो रही थी और उससे जिस विचार-स्वातन्त्र्य का जन्म हो रहा था, उसके प्रभाव में हमारे साहित्य ने रूढ़ि के बन्धनों को तोड़ विकास की एक नई दिशा में प्रवेश किया । परिणामतः हमारे साहित्य में विचार और भाव-शैली या शिल्प विधान और काव्य-रूप सभी क्षेत्रों में अनिवार्य रूप से परिवर्तन आया ।''[3]

हिन्दी गद्य के विकास न होने का कारण था – वीरगाथा काल में राजनीतिक वातावरण क्षुब्ध होने के कारण युद्धों में सामन्तों को उत्साहित करने वाले कवित्त-छप्पय का बाहुल्य । युद्ध में नगाड़ों भरी आवाज और परस्पर संघर्ष की कथा को प्रतिपाद्य बनाकर प्रस्तुत करना आदि। इसका वर्णन पद्य में जितना हृदय स्पर्शी और वीर रस से पूर्ण है उतना गद्य में नहीं। अतः गद्य का विकास कैसे होता ? भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग है । काव्य का चरम विकास इस युग में हुआ लेकिन गद्य वहाँ भी नहीं पनप पाया, जिसका कारण था राजनीतिक पराजय । साहित्यकार राजाश्रय छोड़ प्रभु की भक्ति में तल्लीन हो गए कि

उनके पास गद्य की ओर ध्यान देने का अवसर ही नहीं था । डॉ. कमलेश का वक्तव्य है – ''गद्य विचार के बिना नहीं चल सकता और भावावेश की प्रतिमूर्ति भक्त को अपनी या समाज की दशा पर विचार करने का अवकाश नहीं रहता।''[4] रीतिकाल के कवि पाण्डित्य प्रदर्शन ही करते रहे । उनका काव्य श्रृंगार एवं अलंकार से परिपूर्ण था जो व्यक्तित्वहीन राजाओं का मनोरंजन करता था । भूषण, लाल, सूदन आदि श्रृंगार से बाहर तो निकले लेकिन उनके काव्य में वीरगाथा की पुनरावृत्ति होने लगी । अतः गद्य का विकास यहाँ भी पूर्णतः नहीं हुआ। वैसे तो राजस्थानी, ब्रजभाषा एवं खड़ीबोली में कुछ गद्य रचनाएँ निर्मित हुई लेकिन भाषा-शैली एवं विषय-वस्तु की दृष्टि से इन रचनाओं का कोई विशेष साहित्यिक महत्त्व नहीं है ।

''गद्य की प्रचुरता आधुनिक हिन्दी साहित्य की महती विशेषता है और कदाचित इसीलिए हिन्दी का आधुनिक काल गद्य-युग कहलाता है । आधुनिक-युग में जिस मात्रा में गद्य में साहित्य निर्मित हुआ है उतना पद्य में नहीं । सर्व-साधारण के लिए लिखे गए साहित्य का जन-साधारण के विचार-विनिमय की भाषा-गद्य में लिखा जाना स्वभाविक भी था । आज का युग विज्ञान और बुद्धि का है । वैज्ञानिक आविष्कारों प्रेस आदि के बाहुल्य के कारण गद्य के माध्यम से जन-सामान्य तक विचारों का पहुँचना सहज हो गया है । आज कल्पना और भावुकता का स्थान बुद्धि और तर्क ने ले लिया है । परिणामतः गद्य का अधिकाधिक प्रचार हुआ ।''[5] ''भारतेन्दु-युग हिन्दी-गद्य के बहुमुखी विकास का युग है ।''[6] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा लिखित गद्य ने गद्य के विकास की दिशा ही बदल दी । आचार्य शुक्ल की मान्यता है– ''भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का प्रभाव भाषा और साहित्य पर बड़ा गहरा पड़ा । उन्होंने जिस प्रकार गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत ही चलता मधुर और स्वच्छ रूप दिया, उसी प्रकार हिन्दी-साहित्य को भी नए मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया । उनके भाषा-संस्कार की महत्ता को सब लोगों ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया और वे वर्तमान हिन्दी-गद्य के प्रवर्तक माने गए ।''[7]

डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं – ''हिन्दी गद्य साहित्य के विकास क्रम में भारतेन्दु युग के गद्य-साहित्य का महत्त्व और मूल्य असाधारण है । इसी युग में हिन्दी-प्रदेश में आधुनिक जीवन चेतना का उन्मेष हुआ । मध्यवर्गीय, सामाजिक परिवेश में साहित्य-रचना का जो रूप उभरा उसमें कहीं-कहीं सामन्तीय संस्कारों का अवशेष लक्षित अवश्य होता है, किन्तु वह टूटने के क्रम में है । ..... साहित्य-सर्जक की दृष्टि से हिन्दी गद्य की प्रायः सभी विधाओं का सूत्रपात इसी युग में हुआ, विशेषतः निबन्ध और नाटक इन दो विधाओं में लेखकों को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई ।''[8] भारतेन्दु युग को नव- उन्मेष का काल मानते हुए डॉ. शिवकुमार शर्मा लिखते हैं – ''भारतेन्दु-काल राष्ट्रीय जागरण तथा नव-सांस्कृतिक चेतना का उन्मेष युग है । इसमें जहाँ एक ओर जन-सामान्य में राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ वहाँ दूसरी ओर सामाजिक और धार्मिक जागरूकता आई ।''[9]

भारतेन्दु युग प्रवर्तक गद्य लेखक थे । उन्होंने साहित्य और समाज में एक विराट आंदोलन खड़ा किया और साहित्य के क्षेत्र में उन्हें अद्वितीय सफलता मिली । यद्यपि वे सपन्न परिवार में उत्पन्न हुए थे, सुखभोग के समग्र साधन उनके आश्रित थे तो भी लोक में व्याप्त सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पीड़ा से वे मर्माहत थे । उनकी मार्मिक युगवाणी में प्रसार की क्षमता थी, क्योंकि उसमें लोकमंगल का विधान था । उन्होंने स्वतः अकेले साहित्य रचना कर समाज के हित का व्रत लेकर मौन रहना स्वीकार नहीं किया, अपितु अपने सदृश समाज की चिंता से व्याकुल आदर्श व्यक्तियों का – ऐसे व्यक्तियों का जो विद्या के धनी और प्रतिभा से संपन्न थे – मेला लगा दिया । सब ने समाज, साहित्य, संस्कृति को नई आशा और नया विश्वास अपने-अपने ढंग से देने का यत्न किया । उनके सभी मित्र विद्वान थे, गुणी थे और थे अपने आदर्शों पर चलने वाले विदग्ध सृष्टा । निस्वार्थ आंदोलनों के मूल में स्वार्थ की नहीं आदर्श की एकता हुआ करती है ।''[10]

इस युग में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' नामक पत्रिका निकली । आठ अंकों के बाद

पत्रिका का नाम 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' कर दिया गया था । सर्वप्रथम गद्य का परिष्कृत रूप इसी पत्रिका में देखने को मिला । शुक्ल जी के शब्दों में – जिस प्यारी हिन्दी को देश ने अपनी विभूति समझा, उसको जनता ने उत्कण्ठा पूर्वक दौड़कर अपनाया, उसका दर्शन इसी पत्रिका में हुआ । भारतेन्दु ने नई सुधरी हुई हिन्दी का उदय इसी समय से माना है ।''[11] भारतेन्दु युग में गद्य की विधा निबन्ध का लेखन सबसे अधिक हुआ – ''भारतेन्दु युग में सबसे अधिक सफलता निबन्ध-लेखन में प्राप्त हुई । निबन्धों का सम्बंध पत्र-पत्रिकाओं से सीधे जुड़ा हुआ था । लेखकों के सामने अनन्त विषय थे । राजनीति, समाज-सुधार, धर्म, अध्यात्म, आर्थिक दुर्दशा, अतीत का गौरव, महापुरुषों की जीवनियाँ आदि विषयों पर विचार प्रकट करते हुए भारतेन्दु युग के लेखकों ने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से निबन्ध-साहित्य को खूब समृद्ध किया । वस्तुतः अन्य गद्य-विधाओं में विचारों को सीधे व्यक्त करने की छूट नहीं होती जबकि निबन्धों में शैली के आकर्षण एवं कथन की भंगिमा के वैशिष्ट्य को बनाये रखकर भी किसी विषय पर सीधे बात की जा सकती है । निबन्ध लेखन का सूत्रपात भारतेन्दु से ही मान्य होना चाहिए ।''[12]

डॉ. शिवकुमार शर्मा निबन्ध एवं भारतेन्दु युग के विषय में लिखते हैं – भारतेन्दु-युग का उदय राष्ट्रीय जागरण की नव सांस्कृतिक और राजनीतिक चेतना के उन्मेषकाल में हुआ । इस युग के साहित्यकारों का दायित्व निश्चित रूप में अनेक मुखी था । जहाँ उसे एक ओर समाज सुधार करना था, वहाँ दूसरी ओर सांस्कृतिक चेतना का समुचित विकास करना भी उसे अभीष्ट था । एक ओर उसे शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार करना था तो दूसरी ओर उसे साहित्य के विविध अंगों को पुष्ट करना वांछनीय था । इन सब दायित्वों की पूर्ति के सबल माध्यम के लिए जितना निबन्ध उपयोगी हो सकता उतनी साहित्य की दूसरी विधा नहीं । प्रायः इस युग के साहित्यकार सम्पादक और लेखक भी हैं । उन्होंने अपनी पत्र-पत्रिकाओं में सामाजिक विषयों, सामयिक आन्दोलनों तथा दूसरे प्रकार के विषयों की चर्चा

निबन्धों के रूप में की है, अतः इस युग के निबन्धों में जहाँ विषय व्यापकता है वहाँ उनमें पत्रकारिता के भी सभी गुण हैं । उनके निबन्धों की समस्यायें जनता की समस्यायें थीं, अतः इस युग के निबन्ध साहित्य में तत्कालीन युग की समग्र चेतना सम्यक् रूप से प्रतिबिम्बित हुई है । ..... सम्भवतः इस युग के गद्य साहित्य का सबसे उन्नत अंग निबन्ध ही हैं।''[13]

भारतेन्दु युग के प्रमुख निबन्धकार थे – भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरी नारायण चौधरी प्रेमघन, लाला श्रीनिवास दास, राधा चरण गोस्वामी, काशीनाथ खत्री, अम्बिका दत्त व्यास, ठाकुर जगमोहन सिंह, मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, रामकृष्ण वर्मा आदि । इस युग के सभी लेखकों ने या तो स्वयं पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं या वे किसी न किसी रूप में उनसे जुड़े रहे । बालकृष्ण भट्ट एवं प्रताप नारायण मिश्र इस युग के जाने-माने साहित्यकार थे । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हें 'हिन्दी का स्टील' और "एडीसन' कहा है ।''[14] इस युग के निबन्धकारों ने विविध विषयों पर विविध शैलियों में निबन्ध लिखे । अधिकांशतः निबन्ध वर्णनात्मक शैली में लिखे गए । डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है – ''शैली की दृष्टि से देखा जाए तो यों तो प्रत्येक निबन्धकार की शैली व्यक्तित्व भेद से अलग-अलग है, किन्तु सामान्यतः सुविधा की दृष्टि से विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक, विवरणात्मक, कथात्मक इतिवृत्तात्मक एवं अनुसन्धानात्मक आदि सभी शैलियों के निबन्ध भारतेन्दु-युग में लिखे गए हैं । अभिव्यक्ति की कोई ऐसी भंगिमा नहीं है जिसका आरम्भ इस युग में न हुआ हो। सत्य तो यह है कि आगे चलकर द्विवेदी-युग में निबन्धों के क्षेत्र में किसी नवीन परम्परा का सूत्रपात नहीं हुआ । भारतेन्दु-युग के निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता उनके माध्यम से प्रकट होने वाला व्यापक राष्ट्रीय सांस्कृतिक जागरण है । यह साहित्य विधा तत्कालीन जीवन-चेतना से सीधे जुड़ी हुई है। वस्तुतः इस सन्दर्भ में भारतेन्दु-युग का निबन्धकार जितना सजग था, उतना उपन्यासकार या नाटककार नहीं। इस आधार पर इस युग के निबन्ध-साहित्य को एक विशिष्ट उपलब्धि के रूप में स्वीकार करना सर्वथा समीचीन होगा।''[15]

भारतेन्दु-युग के निबन्धों में वैयक्तिकता एवं सामाजिकता है । व्यंग्य द्वारा भी राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन की विषमता पर करारी चोट भी की है । समाज में प्रचलित सरल तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है । विषय वैविध्य के कारण विविध शैलियों का प्रयोग हुआ है । रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं – ''इस युग के निबन्ध लेखकों की दृष्टि में व्यापकता तथा उदारता की भावना का समावेश होने लगा था ।''[16] डॉ. रामविलास शर्मा का मानना है– ''जितनी सफलता भारतेन्दु युग के लेखकों को निबन्ध-रचना में मिली, उतनी कविता और नाटक में नहीं मिली ।''[17] इस प्रकार निबन्ध को गति एवं दिशा इसी युग से मिलनी शुरू हुई।

हिन्दी गद्य का द्वितीय उत्थान काल द्विवेदी युग के नाम से जाना जाता है । इस युग का आरंभ दो अनुवाद ग्रंथों से मानो जाता है – 1. बेकन - विचार रत्नावली । लार्ड बेकन के निबन्धों का अनुवाद 2. निबन्ध-मालादर्श 3. चिल्पूकर के मराठी निबन्धों का अनुवाद। बेकन-विचार रत्नावली का अनुवाद पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी एवं निबंध मालादर्श का अनुवाद पं. गंगा प्रसाद अग्निहोत्री ने किया । शुक्ल जी ने लिखा है - उस समय यह आशा हुई थी कि इन अनुवादों के पीछे ये दोनों महाशय उसी प्रकार के मौलिक निबंध लिखने में लगाएँ पर ऐसा न हुआ । मासिक पत्रिकाएँ इस द्वितीय उत्थान काल के भीतर बहुत सी निकलीं पर उनके अधिकतर लेख 'बातों के संग्रह' के रूप में ही रहते थे । लेखकों के अंतःप्रयास से निकली विचारधारा के रूप में नहीं ।''[18]

''द्विवेदी-युग की समस्या साहित्य चेतना महावीर प्रसाद द्विवेदी में समाहित है।''[19] 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन के साथ आधुनिक हिन्दी साहित्य के सभी रूपों के विकास क्रम में एक एक विशेष परिवर्तन देखने को मिला । सन् 1903 ई. में द्विवेदी जी ने सरस्वती के सम्पादन का कार्य भार सम्भाला । शुक्ल जी के अनुसार – ''कठिन से कठिन विषय भी ऐसे रख दिया जाए कि साधारण समझ वाले पाठक भी उसे बहुत कुछ समझ

जाएँ।''[20] डॉ. नगेन्द्र द्विवेदी युगीन गद्य को लक्षित करके लिखते हैं – ''द्विवेदी-युग में रचित गद्य-साहित्य के मूल में कार्य करने वाली सांस्कृतिक चेतना का महत्त्व कई दृष्टियों से मान्य है । इस समय विदेशी शासन के प्रति जनता के असन्तोष में निरन्तर वृद्धि हुई और हमारी राष्ट्रीय चेतना क्रमशः विकसित होती हुई एक निश्चित लक्ष्य-पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति की सिद्धि के संकल्प में परिणत हुई, जिसकी अभिव्यक्ति इस युग के साहित्य में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में ध्यान आकृष्ट करती है । राजनीतिक चेतना के साथ ही इस अवधि में भारत की आर्थिक चेतना भी विकसित हुई । 1906ई. कांग्रेस ने भारतीय जनता के आर्थिक हितों को दृष्टि में रखकर शासन का खर्च घटाने विशेषतः सेर्त पर व्यय की जाने वाली राशि को घटाने, करों में कभी करने, सिंचाई का उचित प्रबंध करने, कृषि बैकों की स्थापना करने, प्राचीन उद्योगों को पुनः जीवित कर नये उद्योगों को स्थापित करने और गल्ले के निर्यात पर रोक लगाने का सुझाव दिया । विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार और सामाजिक-चेतना के विकास की दृष्टि से भी आलोच्य काल का महत्त्व कम नहीं है। ..... साहित्य-रचना भी इसी शिक्षित मध्यवर्गीय समाज द्वारा की जा रही थी । यह वर्ग सर्वाधिक संवेदनशील था । साहित्यकारों के मन पर राष्ट्र की प्रत्येक महत्त्वपूर्ण घटना का प्रभाव पड़ता था और वह उनकी रचनाओं में प्रतिबिम्बित होती थी । यही कारण है कि आलोच्य काल के गद्य-साहित्य की प्रत्येक विधा में अन्तर्निहित चेतना एक ही है और यह व्यापक राष्ट्रीय जागरण एवं सुधार की भावना से सम्बद्ध है ।[21]

यह निबन्धों का परिमार्जन काल था । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिस भाषा को हिन्दी-गद्य-साहित्य में स्थान दिया, पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उसे व्याकरण और कला से तराशकर आकर्षक बना दिया इसलिए वे नवीन युग के अग्रदूत माने जाते है । ''जिस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी की पत्र पत्रिकाओं ने हिन्दी प्रचार कार्य में प्रमुख भाग लिया, उसी प्रकार बीसवीं शताब्दी में भी उन्होंने इस पुनीत कार्य में भरपूर योगदान दिया । कहना न

होगा कि बीसवीं शताब्दी में इन पत्र पत्रिकाओं में सरस्वती का स्थान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सरस्वती के संपादक पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी थे । भारतेन्दु युग में गद्य का जो विकास हुआ वह इस समय शताधिक होकर प्रस्फुटित हुआ । इतना ही नहीं भाषा के परिमार्जन, परिष्करण का जो कार्य शेष रह गया था वह भी द्विवेदी जी द्वारा सम्पन्न हुआ ।''[22]

द्विवेदी जी ने गद्य की बिखरी सामग्री को व्यवस्थित किया । इस युग में शिक्षा के प्रसार के कारण साहित्यिकों का लक्ष्य सामाजिक मानव की ओर उन्मुख हुआ । ''द्विवेदी जी को नैतिकता प्रिय होने के कारण उस युग में नैतिक निबन्ध अधिक लिखे गए । इस युग में पत्रकारिता की स्वच्छन्दता कम हो गई और निबन्धकार जन-सामान्य की अपेक्षा मध्यमवर्ग के शिष्ट एवं शिक्षित समाज के अधिक समीप आ गया । इसलिए एक तो इस युग के निबन्धों में भारतेन्दु कालीन विषय वैविध्य समाप्त हो गया और दूसरे उनमें गाम्भीर्य अधिक आ गया । इससे द्विवेदी कालीन निबन्धों में बौद्धिकता अधिक आई, हार्दिकता की कमी रही और उनमें भारतेन्दु कालीन आत्मीयता तथा जिंदादिली न रही । सरस्वती के प्रकाशन से हिन्दी में साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का प्रवर्त्तन हुआ और तब से निबन्धों में साहित्यिकता अधिक आने लगी । द्विवेदी जी के अनुसार – ज्ञानराशि का अर्जित भंडार ही साहित्य है । अतः इस युग के निबन्धकार का ध्यान अपने साहित्य को संचित ज्ञानकोष बनाने की ओर भी गया ।''[23]

शुक्ल जी इस युग में निबन्ध के उत्थान से सन्तुष्ट नहीं थे, फिर भी उनका मानना था कि बीच-बीच में अच्छे निबन्ध भी दृष्टिगोचर होते हैं – ''निबन्धों की ओर यद्यपि बहुत कम ध्यान दिया गया और उसकी परम्परा ऐसी न चली कि हम 5-7 उच्च कोटि के निबन्ध लेखकों को उसी प्रकार झट से छाँटकर बता सकें। जिस प्रकार अंग्रेजी साहित्य में बता दिए जाते हैं, फिर भी बीच-बीच में अच्छे और उच्च कोटि के निबन्ध मासिक पत्रिकाओं में दिखाई पड़ते रहे । इस द्वितीय उत्थान में साहित्य के एक-एक अंग को लेकर जैसी विशिष्टता लेखकों में आ जानी चाहिए थी वैसी विशिष्टता न आ पाई । किसी विषय में सबसे

अधिक शक्ति देख उसे अपनाकर बैठने की प्रवृत्ति बहुत कम दिखाई दी । बहुत से लेखकों का यह हाल रहा कि कभी अखबार नवीसी करते, कभी उपन्यास लिखते, कभी नाटक में दखल देते, कभी कविता की आलोचना करने लगते और कभी इतिहास और पुरातत्त्व की बातें लेकर सामने आते । ऐसी अवस्था में भाषा की पूर्ण शक्ति प्रदर्शित करने वाले गूढ़, गंभीर निबन्ध लेखक कहाँ से तैयार होते, फिर भी भिन्न-भिन्न शैलियाँ प्रदर्शित करने वाले कई अच्छे लेखक इस बीच में बताए जा सकते हैं । जिन्होंने लिखा तो कम है पर जो कुछ लिखा है वह महत्त्व का है ।''[24] डॉ. नगेन्द्र भी स्वीकार करते हैं कि – ''भारतेन्दु-युग में पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से निबन्ध-साहित्य की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी । उसकी तुलना में द्विवेदी युग में व्यक्ति-व्यंजक निबन्धों की परम्परा का ह्रास लक्षित होता है । लेखकों का ध्यान ज्ञान के विविध क्षेत्रों से सामग्री-संचय की ओर अधिक गया, आत्म व्यंजना की ओर कम ।''[25] इस युग के प्रमुख निबन्धकार हैं – महावीर प्रसाद द्विवेदी, गोविन्द नारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, माधव प्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, जगन्नाथ चतुर्वेदी, मिश्रबन्धु, श्यामसुन्दर दास, सरदार पूर्ण सिंह आदि ।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भाषा को स्थिरता प्रदान की । अधिकतर निबन्ध परिचयात्मक और आलोचनात्मक टिप्पणी के रूप में लिखे । ''उन्होंने पाश्चात्य लेखकों के ज्ञान को अर्जित करके अपने निबन्धों के द्वारा हिन्दी पाठकों का ज्ञान-वर्द्धन किया ।''[26] ''द्विवेदी जी ने विषय के उपयुक्त भावात्मक, आलोचनात्मक, गवेषणात्मक, व्यंग्यात्मक आदि अनेक प्रकार की शैलियों पर अपना अधिकार प्रकट किया । उद्धरणों एवं व्यंग्यों के द्वारा उन्होंने साहित्यिक उच्छृखलता प्रकट करने वाले लेखकों पर प्रहार किए । उनकी शैली में प्रौढ़ता, विशद्ता तथा पांडित्य है और यह प्रसाद गुण सम्पन्न है ।''[27] हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार – महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी गद्य साहित्य के युग विधायक हैं । ..... निबन्धकार द्विवेदी के सामने सदैव पाठकों के ज्ञान वर्द्धन का दृष्टिकोण प्रधान रहा, इसलिए

विषय वैविध्य, सरलता और उपदेशात्मकता उनके निबन्धों की प्रमुख विशेषताएँ बन गयी।''[28]

जिस प्रकार भारतेन्दु युग में भट्ट, मिश्र और गुप्त की बृहतत्रयी ने अत्यन्त उच्चकोटि के निबन्ध लिखकर निबन्ध लेखन का मार्ग प्रशस्त किया था, उसी प्रकार द्विवेदी युग में भी तीन निबन्ध लेखक ऐसे हैं जिन्होंने अपने निबन्धों से सबका मार्ग प्रशस्त किया । ये हैं – माधव प्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और अध्यापक पूर्ण सिंह । मिश्र जी के निबन्ध भावनापूर्ण हैं। उनके द्वारा त्यौहार एवं तीर्थ-स्थानों पर लिखे गए निबन्ध विद्वतापूर्ण एवं मार्मिक हैं । इनके 'सब मिट्टी हो गया' जैसे निबन्धों में इनका व्यक्तित्व भी समन्वित है । इन्होंने समाज सुधार सम्बन्धी विषयों को भी अपनाया । शुक्ल जी लिखते हैं – ''द्वितीय उत्थान काल में इस प्रभावशाली लेखक के उदय की उज्ज्वल आभा हिन्दी साहित्य गगन में कुछ समय के लिए दिखाई पड़ी, पर खेद है कि अकाल ही विलीन हो गई । ..... उनके निबन्ध अधिकतर भावात्मक होते थे और धारा शैली पर चलते थे । उनमें बहुत सुन्दर मर्मपथ का अनुसरण करती हुई स्निग्ध वाग्धारा लगातार चलती थी।''[29]

विचार और शैली की दृष्टि से गुलेरी जी इस युग के सर्वाधिक प्रगतिशील निबन्धकार हैं । इनका व्यंग्य अन्य लेखकों की अपेक्षा अधिक तीखा और मार्मिक होता है । गुलेरी जी पुरातत्त्व के विद्वान थे फिर भी उन्होंने अपनी भाषा में दुरूहता नहीं आने दी । 'कछुवा धरम' और 'मारेसी मोहिं कुठाव' इनके प्रसिद्ध निबन्ध हैं । शुक्ल जी ने लिखा है – ''यह बेधड़क कहा जा सकता है कि शैली की जो विशिष्टता और अर्थ गर्भित वक्रता गुलेरी जी में मिलती है, वह और किसी लेखक में नहीं । इनके स्मित हास की सामग्री ज्ञान के विविध क्षेत्रों से ली गई है। अतः इनके लेखों का पूरा आनन्द उन्हीं को मिल सकता है जो बहुज्ञ या कम से कम बहुश्रुत हैं ।''[30]

अध्यापक पूर्ण सिंह जो सरदार पूर्ण सिंह के नाम से भी प्रसिद्ध हैं इस युग के सर्वाधिक सहृदय कोमल तथा भावुक निबन्धकार हैं । उन्होंने नवीन लय एवं गति के साथ निबन्धों की

परम्परा को मानवतावादी मार्ग की ओर उन्मुख किया । उन्होंने कुल छह निबन्ध लिखे । ये निबन्ध नैतिक एवं सामाजिक विषयों से सम्बद्ध हैं । सभ्य आचरण और प्रेम के द्वारा ही ये समाज का कल्याण सम्भव समझते थे । श्रम का महत्त्व हिन्दी जगत को नवीन देन थी । इनकी भाषा में लक्षणा और व्यंजना शक्ति का चमत्कार है । भावों को मूर्त रूप देने का अद्‌भुत कौशल है । भावों का प्रबल प्रवाह और विचारों की तल्लीनता है । शुक्ल जी लिखते हैं – उनमें विचारों और भावों को एक अनूठे ढंग से मिश्रित करने वाली एक नई शैली मिलती है । उनकी लाक्षणिकता हिन्दी गद्य-साहित्य में एक नई चीज थी । भाषा की बहुत कुछ उड़ान, उसकी बहुत कुछ शक्ति 'लाक्षणिकता' में देखी जाती है । भाषा और भाव की एक नई विभूति उन्होंने सामने रखी ।''[31] इस युग में बाबू श्यामसुन्दर दास भी आलोचक एवं निबन्धकार थे । उन्होंने आलोचनात्मक एवं गम्भीर विषयों पर लेखनी चलाई ।

इस प्रकार द्विवेदी-युगीन निबन्धों में ''भारतेन्दु कालीन निबन्धों की सी ताजगी, जिन्दादिली और व्यंग्य विनोद प्रियता नहीं है बल्कि विचारों की प्रधानता और गम्भीरता है । इन निबन्धों का वृत्त भी सीमित है, इनमें भारतेन्दु कालीन निबन्धों के समान सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक चेतना का प्रतिबिम्ब नहीं । भारतेन्दु कालीन निबंधों में पर्याप्त मौलिकता है किन्तु इनमें ज्ञान की संचयात्मकता है । ..... इस युग के निबन्ध भाषा की दृष्टि से अधिक शुद्ध और परिष्कृत हैं।''[32]

द्विवेदी युग के विचारात्मक निबंधों का उत्कर्ष आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों में ही प्रकट हुआ । उनके निबन्ध (चिन्तामणि भाग 1, 2, 3) उनके अन्तः प्रयास से निकली विचारधारा के परिणाम हैं । शुक्ल जी ने प्रायः विचारात्मक निबन्ध लिखे हैं और विचारात्मक निबन्ध में जो भी अभाव दृष्टिगत हुए उनकी पूर्ति के भरसक प्रयत्न किये । उनसे पूर्व विचारात्मक निबन्धों में न तो गम्भीरता थी न विचारों की गूढ़ परम्परा और न वे निबन्ध ऐसी किसी नूतन विचार-पद्धति से ही परिपूर्ण होते थे जो पाठकों को बुद्धि को उत्तेजित करके उन्हें

चिंतन एवं मनन की ओर अग्रसर कर सकें । इतना ही नहीं, हिन्दी के निबन्धकार अब तक प्रायः चमत्कार-प्रदर्शन के साथ-साथ पांडित्य प्रदर्शन एवं अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डालने में ही तल्लीन रहा करते थे । तथापि कतिपय निबन्धकारों ने उच्च कोटि के भावात्मक निबन्धों की रचना की थी । इनमें अध्यापक सरदार पूर्ण सिंह का योगदान सराहनीय है । लेकिन विचारात्मक निबन्धों का क्षेत्र अभी तक अछूत अवस्था में ही था, उसमें न तो कोई ऐसा उच्चकोटि का निबंधकार ही अवतीर्ण हुआ था, जो आदर्श बनकर आगामी निबन्धकारों का पथ-प्रदर्शक बनता है और न किसी निबन्धकार ने विचारात्मक निबन्धों में गुरु एवं गंभीरता लाने का ही प्रयास किया था । ऐसे समय पं. रामचन्द्र शुक्ल ने निबन्ध के क्षेत्र में पदार्पण किया और अपने प्रखर पांडित्य गहन-चिंतन अद्वितीय विचार-पद्धति तथा बुद्धि एवं हृदय के सफल सामंजस्य द्वारा विचारात्मक निबन्ध लिखना आरंभ किया । धीरे-धीरे उन्होंने नूतन विचार-पद्धति का समावेश करके गूढ़ गुम्फित विचार परम्परा के साथ ऐसे विचार प्रधान निबन्धों का लेखन आरम्भ किया, जो आज हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि हैं । जिन्हें संसार की किसी भी समुन्नत भाषा के उच्चकोटि के निबन्धों के समकक्ष रखा जा सकता है । इस प्रकार यह निर्विवाद सत्य है कि भावात्मक निबन्धों को उत्कर्षता प्रदान करने का जो श्रेय सरदार पूर्ण सिंह अध्यापक को प्राप्त है उसी भाँति विचारात्मक निबन्धों को उत्कर्ष पर पहुँचाने का श्रेय पं. रामचन्द्र शुक्ल को है । ''आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध आधुनिक हिन्दी साहित्य में वही गौरव रखते हैं जो गौरव प्रसाद के नाटक और काव्य का तथा प्रेमचन्द जी के कथा-साहित्य का है । शुक्ल जी हिन्दी में विचारात्मक निबन्ध साहित्य के अनन्य सृष्टा हैं । वे मनोवैज्ञानिक नहीं शुद्ध साहित्यिक निबन्धकार हैं, भले ही उन्होंने मनोविकारों पर निबन्ध लिखे हैं ।''[33] बाबू गुलाबराय के शब्दों में – ''आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध-क्षेत्र में पदार्पण करने से निबन्ध साहित्य में एक नया जीवन आया । द्विवेदी-युग में विषय विचार और परिमार्जन तो पर्याप्त हुआ किन्तु उस काल में उतना विश्लेषण और गहराई में जाने की

प्रवृत्ति न उत्पन्न हो सकी ।''[34]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 1904 ई. से ही निबन्ध लिखना आरम्भ कर दिया था। उनके निबंध तत्कालीन 'सरस्वती', 'आनन्द कादम्बिनी' आदि हिन्दी की प्रमुख पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए । साहित्य, भाषा की शक्ति, उपन्यास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी आदि आरम्भिक निबन्ध हैं । इन निबन्धों में गहन-चिन्तन मनन की पद्धति तो विद्यमान है किन्तु उतनी प्रौढ़ अभिव्यंजना-शक्ति नहीं है जो बाद के निबन्धों में है । सर्वप्रथम संकलित निबन्धों को पुस्तकाकार रूप "विचार-वीथी' में दिया । बाद में विचार-वीथी का नाम चिन्तामणि (भाग 1, 2, 3) रखा गया । इन संग्रहों में प्रौढ़ एवं उत्कृष्ट निबंध हैं । चिंतामणि भाग - 1 के लिए उनको मंगला प्रसाद पुरस्कार से सम्मानित किया गया और उसे उच्च कक्षाओं में पढ़ाने के लिए पाठ्यक्रम में भी स्थान दिया गया । शुक्ल जी के आरम्भिक निबन्धों में जिस रचना-शक्ति एवं चिंतन-पद्धति के दर्शन होते हैं वही उत्तरोतर विकसित होती हुई उत्कृष्ट निबन्धों में विद्यमान हुई । ये निबन्ध सुगठित एवं गुम्फित विचार श्रृंखला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं । इनमें साहित्यिक सौन्दर्य प्रभूत मात्रा में विद्यमान है । वे लेखक के गहन अध्ययन एवं मनन के ज्वलंत प्रमाण हैं । उनमें विचार एवं सिद्धांतों का प्रतिपादन वैयक्तिक ढंग से तर्कपूर्ण पद्धति पर हुआ है। वे पाठकों की बुद्धि को उत्तेजित करके उसे किसी नूतन विचार-पद्धति की ओर प्रेरित करने वाले हैं। उनमें विचारात्मक निबन्धों का चरमोत्कर्ष विद्यमान है, उनमें प्रत्येक विचार एक-एक प्रघटक में ठूँस-ठूँसकर रखा गया है । उनका प्रत्येक वाक्य किसी न किसी सम्बद्ध विचार खंड से लिया गया है । उनमें समास शैली के अन्तर्गत् प्रौढ़ एवं गम्भीर भाषा का सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है, उनमें बुद्धि और हृदय का पूर्ण सामंजस्य विद्यमान है । वे लेखक के व्यक्तित्व के साथ-साथ विषय का भी अत्यन्त संतुलित रूप प्रस्तुत करते हैं । उनमें लोक-मंगल की भावना कूट-कूटकर भरी हुई है । उनके शब्द-संग्रहों में दुरूहता का निराकरण करके विचारों को बोधगम्य बनाने वाली अनुपम शक्ति है, लाक्षणिक पदावली की

भाषा व्यावहारिक पक्ष की द्योतक है, उनकी हास्य-व्यंग्य पूर्ण उक्ति मार्मिक एवं चमत्कारपूर्ण प्रभाव डालने में सर्वथा समर्थ है । उन्होंने अपने पूर्ववर्ती विचार-प्रधान निबन्धों के अभावों की पूर्ति की है । उनमें विचारों की भरमार होते हुए भी क्लिष्टता, दुरूहता एवं नीरसता नहीं है, उनकी तार्किक शैली अभिव्यक्ति का उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करती है । उनकी भाषा में व्याकरण की पूर्ण शुद्धता, आलांकारित, विराम चिह्न आदि के शुद्ध प्रयोग मिलते हैं । ''शुक्ल जी निबन्ध में विषय की गम्भीरता को अन्तर्भेदी दृष्टि से देखते हैं साथ ही उनमें गम्भीर मर्यादित आत्म व्यंजना भी है । विषय और आत्म व्यंजना की शुक्ल जी की यह मौलिक शक्ति हिन्दी निबन्धों को नये धरातल पर प्रतिष्ठित करती है और उन्हें ऐसे प्रौढ़ निबन्ध साहित्य सृष्टा के रूप में उपस्थित करती है, जो उन्हें इस क्षेत्र में नये युग का विधायक बनाती है – ऐसा विधायक जो अपने क्षेत्र में सर्वोच्च है ।''[35]

6.ख. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का निबन्ध-साहित्य को अवदान :

शुक्ल जी का निबन्ध-साहित्य के विकास में योगदान को निम्नलिखित दिशाओं में स्पष्ट किया जा सकता है :

1. शुक्ल जी ने निबन्ध-विधा को पुष्ट बौद्धिक आधार प्रदान करके उसे वैचारिक अभिव्यक्ति के शक्तिशाली माध्यम के रूप में विकसित किया । निबन्ध के माध्यम से हिन्दी भाषा को चिंतन परक बनाया ।

2. निबन्ध को मूलतः अर्थ प्रधान गद्य विधा मानकर उसे बौद्धिक घनत्व, वैचारिक गाम्भीर्य, वैज्ञानिक एवं तार्किक पद्धति, विद्वतापूर्ण अनुशासन तथा सुनिश्चित व्यतित्व प्रदान किया ।

3. बुद्धि के साथ हृदय तत्त्व के सहभाव को निबन्ध रचना की अनिवार्य शर्त मानी । उन्होंने लिखा है – ''निबन्ध लेखक जिधर चलता है उधर अपनी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता के साथ अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनों साथ लिए ।''[36]

4. शुक्ल जी ने निबन्ध में भावात्मक हृदय-पक्ष के अनिवार्य सदभाव वैशिष्ट्य के सदभाव की

भी अनिवार्यता स्वीकार की । निबन्ध में वस्तु-तत्त्व के साथ-साथ आत्म-तत्त्व का सहभाव भी स्वीकार किया । भारतीय दृष्टि के साथ पाश्चात्य को भी समन्वित किया पर सीमित रूप में ।

5. व्यक्तिगत विशेषता के अन्तर्गत् भाषा-शैली और अभिव्यंजना-प्रणाली की विशेषता के साथ अर्थ सम्बंधी विशेषता का अनिवार्य रूप में समावेश किया । इस प्रकार निबन्ध के संतुलित, मौलिक, प्रकृत स्वरूप का विकास किया ।

6. निबन्ध के स्वकल्पित प्रकृत स्वरूप को अपनी सूक्ष्म अन्वेषण क्षमता, अपने चिंतन-मनन, निजी जीवन स्पन्दन, सामाजिक एवं लोकगत वेदना तथा साहित्यिक संदर्भों से संवलित करके विकसित किया है । फलस्वरूप शुक्ल जी के ये निबन्ध एक विशिष्ट प्रीतिकर रचनात्मकता में ढलकर साहित्य जगत् के सम्मुख प्रथम बार वैचारिक, साहित्यिक मार्मिक अभिव्यक्ति के रूप में प्रस्तुत हुए और पाठकों को प्रभावित किया ।

7. आचार्य शुक्ल ने हिन्दी में पहली बार सूक्ष्म विचार दृष्टि से सम्पन्न ऐसे निबन्धों का प्रणयन किया, जिनमें विभिन्न अर्थ सम्बंधों का वैचित्र्य और गतिशील अर्थ की परम्परा के साथ-साथ भाषा की नूतन शक्ति को चमत्कार तथा नये-नये विचारों की उद्‌भावना क्षमता भी मिलती है ।

8. हिन्दी साहित्य में प्रथम बार अपने निबन्धों को तत्सम प्रधान सटीक शब्दावली से युक्त समर्थ भाषा तथा अति प्रौढ़ एवं अत्यंत गरिमामयी अनुशासित शैली प्रदान की । वे हिन्दी के मूर्द्धन्य शैलीकार बन गए ।

9. मनोविकार विषयक निबन्धों की गम्भीरता, विवेचन की सूक्ष्म गहनता, चिंतन-मनन की सघनता, शैली की सूत्रात्मकता एवं मार्मिकता, वस्तु एवं रूप में उद्‌भूत सामांजस्य के कारण हिन्दी गद्य एवं निबन्ध साहित्य हिन्दी भाषा की गौरवपूर्ण सम्पत्ति है ।

शुक्ल जी अपने समय के निबन्ध लेखन के स्तर में बहुत असंतुष्ट और चिंतित थे। ''भारतेनदु के निबन्ध तो उपदेश, संवाद, उद्‌बोधन आदि के हल्के-फुल्के सरस व्यक्ति

परक माध्यम मात्र थे । उनमें बौद्धिकता, गम्भीर, चिंतन परकता का अभाव था और वह अनपेक्षित भी था । इसके अलावा बालकृष्ण भट्ट जैसे बहुकृतिक लेखक ने भी अपने निबन्धों में ठीक खड़ीबोली के आदर्श का निर्वाह नहीं किया । उनमें पूर्वी प्रयोग मिलते हैं । स्थान-स्थान पर कोष्ठकों से घिरे अंग्रेजी शब्द, फारसी-अरबी के लफ्ज ही नहीं बड़े-बड़े फिकरे तक उनके निबन्धों में मिलते हैं ।''[37]

द्वितीय उत्थान (1893 - 1918 ई.) में भी भाषा की पूर्ण शक्ति प्रदर्शित करने वाले गूढ़-गम्भीर लेखक तैयार नहीं हो पाये । अधिकार लेख बातों के संग्रह बन कर ही रह गए । महावीर प्रसाद द्विवेदी के लेख विचारात्मक होते हुए भी सूक्ष्म विचार दृष्टि से नहीं लिखे गए । विचारों की वह गूढ़-गुम्फित परम्परा उनमें नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर नयी विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े । इस समय उच्चकोटि के गद्य-साहित्य का निर्माण जैसा होना चाहिए था वैसा नहीं हुआ । अधिकांश लेखक ऐसे ही कामों में लगे रहे जिनमें बुद्धि को श्रम कम करना पड़े । फलत ऊँची विश्वविद्यालयी हिन्दी शिक्षा के लिए उच्चकोटि की गद्य पुस्तकों का व्यापक अभाव देखा गया। स्थायी विषयों पर निबन्ध लिखने की परम्परा भी बंद हो गई साथ ही वर्णनात्मक पद्धति पर सामयिक घटनाओं देश और समाज की जीवन चर्चा, ऋतुचर्या आदि का चित्रण भी बहुत कम हो गया ।''[38]

इस युग के गद्य लेखकों में माधव प्रसाद मिश्र के निबन्ध भावात्मक होते थे और उनमें विचार तत्त्व की क्षीणता रहती थी । बाबू गोपाल राम गहमरी के निबन्धों की विशेषता थी– विलक्षण रूप खड़ा करना । ऐसे विलक्षण और कौतूहल जनक चित्रों से पाठकों को एक तमाशा देखने का सा आनन्द आता था । बालमुकुंद गुप्त का दायरा बहुत सीमित था तथा उनका गद्य छेड़छाड़, चुहलबाजी और विनोद से सराबोर रहा करता था । पं. गोविन्द नारायण मिश्र का गद्य विचारों को उत्तेजना देने वाला और भाषा की शक्ति का प्रसार करने वाला गद्य नहीं था । श्यामसुन्दर दास ने पाठ्य-पुस्तक लेखन का कार्य अधिक किया ।

उसके लिए उनकी सरल सुबोध शैली बहुत प्रसिद्ध है । गम्भीर वैचारिक लेखन न उन्होंने किया और न उसके लिए उनकी शैली उपयुक्त थी। गुलेरी जी निश्चय ही एक बहुत ही अनूठी लेखन शैली लेकर उतरे थे । उनके निबन्धों में अर्थ गर्भित वक्रता और गम्भीर पांडित्यपूर्ण स्मित ह्रास का अद्‌भुत सामंजस्य था ।''[39] गुलेरी जी के निबन्ध में सूक्ष्म अन्वेषण-क्षमता, गहन चिंतन-मनन शक्ति, प्रौढ़ तर्क पूर्ण वैज्ञानिक शैली, सामाजिक सजीवता आदि विशेषताएँ नहीं मिलतीं । अध्यापक पूर्णसिंह की लेखन शैली लाक्षणिकता तथा विचारों और भावों के अनूठे मेल के लिए प्रसिद्ध है, पर एक तो उनका क्षेत्र आध्यात्मिकता तक ही सीमित था, दूसरे उनके निबन्ध मूलतः भावात्मक हैं जिनमें विचार तत्त्व का स्वरूप अपेक्षाकृत क्षीण है ।[40]

गद्य साहित्य की इस चिन्ताजनक स्थिति को देख शुक्ल जी बहुत क्षुब्ध हुए और टिप्पणी की – ''खेद है कि समास शैली पर ऐसे विचारात्मक निबन्ध लिखने वाले जिनमें बहुत ही चुस्त भाषा के भीतर एक पूरी अर्थ परम्परा कसी हो अधिक लेखक नहीं मिले ।''[41] निबन्ध लेखन की जो स्थिति उत्थान में दिखाई पड़ी वह स्थिति 1918-1940 के बीच भी बनी रही और इस दिशा में कोई प्रगति नहीं हुई । उच्च शिक्षा क्रम के लिए उत्कृष्ट कोटि के निबन्धों की जितनी आवपश्यकता थी उतने ही कम वे सामने आ रहे थे । इस परिस्थिति को देखकर स्व प्रयोजन एवं आवश्यकतानुरूप स्वयं ही इस दिशा में सक्रिय होने का संकल्प किया और ऐसे उत्कृष्ट कोटि के निबन्धों की रचना की जिनकी असाधारण शैली या गहन विचारधारा पाठकों को मानसिक श्रम साध्य नूतन उपलब्धि के रूप में प्रतीत हो जिनमें अर्थ वैचित्र्य और भाषा-शैली का नूतन विकास लक्षित हो सके । निबन्ध के क्षेत्र में शुक्ल जी का यह विशिष्ट योगदान है ।

आचार्य शुक्ल ने निबन्ध के जो आदर्श और प्रतिमान निर्धारित किए उस पर निबन्धकारों के निबन्ध खरे नहीं उतर सकते थे । अभिनव विचारोन्मेष में समर्थ अर्थ की

गूढ़-गुम्फित परम्परा, चुस्त भाषा की नूतन शक्ति का चमत्कार, हृदय की अच्छी झलक और शैली की असाधारणता जैसे उत्कृष्ट तत्त्व उनके समकालीन किसी भी निबन्ध लेखक में नहीं मिलते । अतः उनके निबन्ध अपने आप स्वयं प्रतिमान हैं । इस दृष्टि से समकालीन निबन्धकारों में उनका विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है । उन्होंने निबन्ध को गद्य की कसौटी माना क्योंकि भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्ध में ही संभव है । अति विचारोन्मेष में समर्थ अर्थ की गूढ़-गुम्फित कसावट भरी परम्परा के अनुरूप चुस्त भाषा का चमत्कार निबन्ध में ही लक्षित होता है । उनके निबन्ध इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । उनके मनोवैज्ञानिक निबन्ध शुद्ध सर्वोत्तम निबन्ध हैं । ये निबन्ध मनोभाव विषयक निबन्ध परम्परा की अद्वितीय उपलब्धि हैं। चन्द्रशेखर शुक्ल के अनुसार – दार्शनिकता में सरसता।[42] इन निबन्धों की अन्यतम विशेषता है ।

हिन्दी में मनोविकार विषयक निबन्ध लेखक परम्परा का सूत्रपात सन् 1976 में बालकृष्ण भट्ट के 'प्रीति' शीर्षक निबन्ध से हुआ माना जाता है । 'प्रीति' के बाद उन्होंने 'आत्म-निर्भरता', 'सहानुभूति', 'भक्ति' आदि निबन्ध लिखे । महावीर प्रसाद द्विवेदी एवं पं. माधव प्रसाद मिश्र ने इस लेखन क्रम को अग्रसर किया, परन्तु इस परम्परा के पूर्ववर्ती निबन्धों का वैचारिक स्तर बहुत ही हल्का है, विषय प्रतिपादन भी सतही है तथा लेखकीय प्रेरणा उपदेशात्मक और नैतिक है । इसके विपरीत शुक्ल जी का मनोविकार विषयक निबन्ध परम्परा में विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है । शुक्ल जी के निबन्ध मनोवैज्ञानिक स्तर पर लिखे गए हैं और ये विषय के गहन चिंतन-मनन और सूक्ष्म विवेचन-विश्लेषण से पुष्ट हैं । इसके अतिरिक्त निबन्धों में लेखक की सामाजिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय सम्बद्धता एवं चिंता भी व्यक्त होती है । इनके अध्ययनोपरान्त इस निर्णय पर पहुँचा जा सकता है कि ये निबन्ध किसी अनुभवशील लेखक की गुरु-गंभीर किन्तु प्रीतिकर सर्जनात्मक कृतियाँ हैं, मन-बहलाव के हल्के-फुल्के वायवीय उपकरण या नीति-उपदेश खण्ड नहीं । उदाहणार्थ बालकृष्ण भट्ट

लिखित 'प्रीति' निबन्ध अवलोक्य है - यह वह आकषर्ण शक्ति है – जो नूतन महाश्य के प्रकट किए बिना ही आप ही आप प्रकट हुई है..... यह वह इन्द्रजाल जानती है जिसके बल से यह अनेक रूप धारण कर लेती है ..... यह वह मोहन मंत्र है जिसके साधन से जगत् वशीभूत हो सकता है । ..... हे भारतीय प्रजागण ! तुम कब सम्पूर्ण कपट वंचक वृत्ति, परस्पर की ईर्ष्या, द्रोह, स्वार्थ तत्परता और निष्ठुरता आदि छल प्रकृति का त्यागकर परम पवित्र बन्धन प्रेम, ऐक्य और सुमति से पूर्ण हो सर्वसाधारण के सुख-दुःख में सुखी या दुःखी होंगे ।[43]

उपर्युक्त अवतरण से स्पष्ट है भट्ट जी का उद्देश्य मनोवैज्ञानिक सम्बद्धता के साथ प्रीति का विश्लेषण नहीं है, अपितु वायवीय ढंग से उसकी विशेषताओं और चमत्कारों का उल्लेख तथा स्थल सामाजिक उद्‌बोधन है । इसके समकक्ष शुक्ल जी के निबन्ध 'लोभ और प्रीति' की पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं – किसी प्रकार का सुख या आनन्द देने वाली वस्तु के सम्बन्ध में मन में ऐसी स्थिति को जिसमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्रीति सान्निध्य या रक्षा की प्रबल भावना जग पड़े लोभ कहते हैं । ..... विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति कहते हैं ।[44] इस गद्यांश में शुक्ल जी ने वायवीय ढंग से 'लोभ और प्रीति' की विशेषताएँ बताईं, वे मनोवैज्ञानिक संदर्भों से भी जुड़े, मनोभावों के तारतम्य का निरूपण किया, मनोविकार विशेष का भेद भी उजागर करते हुए जीवन और जगत् से मनोविकार विशेष का सम्बंध स्थापित किया। गहन विश्लेषण करते हुए अपने विचार एवं निष्कर्ष दिये । सम्पूर्ण प्रक्रिया में उनका लेखन गंभीर और अनुशासित बना रहता है । शुक्ल जी का मानना है – ''निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात व्यक्तिगत विशेषता हो ।''[45] इस दृष्टि से निबन्धों में तीन विशेषताएँ होनी चाहिएँ :

1. लेखन में वैचारिकता का सघन दबाव ।

2. शैली और अभिव्यक्ति में निबंधकार के व्यक्तित्व की सम्पूर्णतः छाया ।

3. लेखक के व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य तथा हृदय के भाव या प्रवृत्तियों की पूर्ण झलक ।

स्वरचित मनोविकार सम्बंधी निबन्धों से शुक्ल जी आश्वस्त थे और दूसरों को भी आश्वास्त करना चाहते हैं तभी तो संग्रह के आरंभ में ही लिखा है – ''इस पुस्तक में मेरी अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं । यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि पर हृदय को भी साथ लेकर अपना रास्ता निकालती रही है बुद्धि पर हृदय को लेकर ।''[46] हृदय को साथ लेकर चलने का अर्थ है – सहृदयता भरी वचनान्विति जो आद्यन्त गम्भीर व्यक्तित्व को क्षण में भावुकता से सन्दर्भ को बदल दे । शुक्ल जी स्वयं में एक कवि थे । गम्भीरता के गहन आवरण में, उनके व्यक्तित्व में साहित्यिक वाग्विनोद का पुट, लोक व्यवहार के मार्मिक प्रसंगों के उद्‌घाटन की दृष्टि तथा पारम्परिक काव्य के मर्म से सर्वथा परिचित पदेन-पदेन उसका प्रयोग उनके लेखन में सर्वत्र दिखाई पड़ता है । आचार्य शुक्ल का भावुक व्यक्तित्व अपने ढंग से उन्मेषित है और वे बौद्धिकता, वैचारिकता, तर्क बुद्धि, सूत्रबद्ध विश्लेषण दृष्टि के दबाव को तोड़ने में बराबर अपने इस भावात्मक व्यक्तित्व का आधार ग्रहण करता है । वे अपने भाव एवं मनोविकार सम्बंधी निबंधों के प्रति सदैव सजग रहे हैं । उनके मनोविकार निबन्धों को विचारात्मक विवेचन न मानकर हिन्दी साहित्य की नूतन उपलब्धि माना गया है।

शुक्ल जी के मनोविकार सम्बंधी निबंध रस विषयक सामग्री के आधार हैं । भरत मुनि ने भावों की संख्या उनचास बताई और उन्हें विभावादि में भी वर्गीकृत किया । अनुभावों की कायिक, वाचिक, मानसिक एवं सात्विक रूपों की श्रेणियाँ, शरीर की विविध अवस्थाओं तथा रूपों से सम्बद्ध हैं । शुक्ल जी ने इन निबन्धों द्वारा रस व्यापार मूल सन्दर्भ को लोकानुभव तथा मनोविज्ञान के आधार पर परखा है । उन्होंने स्थायी भाव को हटाकर मिश्रित भावों की श्रेणियाँ बनाईं जो लोक जीवन के व्यवहार का आधार हैं । उन्होंने श्रृंगार, हास्य रौद्र, वात्सल्य आदि को छोड़कर उत्साह करुणा, भय, घृणा तथा क्रोध आदि स्थायी भावों को विषय बनाया। ये सब प्राणि मात्र की भावनाओं के आधार हैं । 'श्रद्धा तथा भक्ति', 'लोभ और

प्रीति', 'लज्जा और ग्लानि' आदि मिश्रित भावों का भी प्रतिपादन किया । ईर्ष्या को संवेग माना। उन्होंने मनुष्य तथा साहित्य की भाव सम्पदा को अभिन्न माना है । लोक व्यवहार के हर्ष तथा क्रोध को कावयानुभूति का आधार कहा है । उनका मानना है – क्रोध या हर्ष वही भाव है जो लोक में घटित होते हैं । ''शुक्ल जी भावों तथा मनोविकारों की तीन श्रेणीयाँ बताते हैं । मनोविकार सम्बंधी उनके पहले निबन्ध वे हैं जो केवल शुद्ध भाव मात्र हैं – उत्साह, करुणा, घृणा, भय तथा क्रोध । ये भाव उनके असंश्लिष्ट हैं और वे सभी भाव व्यापक शील धर्म से जुड़कर उदात्त भावभूमि का निर्माण करते हैं ।[47]

शुक्ल जी के निबन्ध अपनी एक भिन्न परम्परा स्थापित करते हैं । इन निबन्धों में गंभीरता के गहन आवरण से ढका उनका वैचारिक चिंतन, साहित्यिक, रसज्ञता से युक्त व्यंग्य एवं विनोद पूर्ण कौशल, लोक-व्यवहार का ज्ञान तथा काव्य की मर्मज्ञता के दर्शन होते हैं । निबन्ध में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है । इस तथ्य का प्रत्यक्ष दर्शन शुक्ल जी के निबन्धों में किया जा सकता है । उनके मनोविकार विषयक निबन्ध अन्य लेखकों की भाँति न होकर पूर्णतया बौद्धिक, तर्कबद्ध, तार्किक विश्लेषण से युक्त हैं । उनके निबंधों में खड़ीबोली हिन्दी की प्रकृति पूरी तरह सुरक्षित है। वैचारिक गाम्भीर्य, चिंतन-मनन की गहनता और शैली की प्रौढ़ता का आदर्श भी उपलब्ध है । सूक्ति वाक्य या पद इन निबन्धों के प्राण हैं । डॉ. विजयेन्द्र स्नातक लिखते हैं – ''मनोवेगों का हमारे जीवन के साथ शाश्वत सम्बंध है । ये मनोवेग एक ओर हमारे आध्यात्मिक जीवन का निर्माण करते हैं, वहीं दूसरी ओर ये हमारे भौतिक अर्थात् सांसारिक जीवन का भी नियंत्रण और निर्माण करने वाले हैं। शुक्ल जी के मनोविकार तथा भाव-वृत्ति के वर्णन में उनकी इस द्विविध कार्य क्षमता का ध्यान रखा है । साहित्य और जीवन को संपृक्त करके देखने की दिशा में इन निबन्धों का पूर्ण योगदान है । शुक्ल जी ने अपनी साहित्य-समीक्षा में जिन मान्यताओं को स्थापित किया, यथार्थ में उनका मूलाधार इन भाव या मनोविकार विषयक निबन्धों में ही है । आलोचना के मानदण्ड के रूप में

शुक्ल जी ने इन भाव-वृत्तियों को स्वीकार किया था । इस कारण उन पर प्रकाश डालना उन्हें अनिवार्य प्रतीत हुआ । दर्शन की गहन गूढ़ जटिलता में फँसकर इनका विश्लेषण उन्हें अभिप्रेत न था। जीवन के व्यवहार-पक्ष और साहित्य के वर्ण्य-पक्ष को इन निबन्धों के माध्यम से एक सूत्र में पिरोकर प्रस्तुत किया गया है । यही इनकी सबसे बड़ी विशेषता है ।''[48]

शुक्ल जी के सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बंधी निबन्ध और व्यावहारिक समीक्षा सम्बंधी भी उनके विविध विचारों एवं मान्यताओं का परिचय देते हैं । उन्होंने इन निबन्धों द्वारा सैद्धान्तिक मौलिकता और साहित्य का उससे सरोकार जैसी समस्याओं का प्रस्फुटन किया है। अपने ढंग से उन समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत किया है । उनके निबन्धों में उच्चकोटि की विचारशक्ति, स्थापन शक्ति, संवेदनशीलता एवं आदर्श प्रवणता के दर्शन अनायास ही किए जाते हैं । निबन्धों की भाषा सरल, सहज एवं ग्राह्य है । उनका व्यक्तित्व स्पष्टतः इनमें झलक उठा है । इसी कारण इनमें भावुकता जन्म-आवेश है फिर भी निबन्ध की साहित्यिकता में न्यूनता नहीं है । उनका विषय कितना ही गंभीर क्यों न हो हृदय की करुणा उमड़-उमड़ कर उसमें साकार हो जाती है और एक ऐसी कल्याणकारी अनुभूति की सृष्टि करती है कि उनके निबन्धों की गंभीरता तिरोहित हो जाती है । एक अनूठा सौन्दर्य प्रकट होने लगता है - समास शैली द्वारा जब विचार आगे बढ़ते हैं तब गंभीरता में भी सरलता दृष्टिगोचर होती है । इसी विशेषता के कारण उनकी शैली द्विवेदी-युग की नीरस शास्त्रीय-शैली से अधिक विकसित हुई है । इसी आधार पर उनके निबन्ध हिन्दी साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं ।

शुक्लोत्तर हिन्दी निबन्ध लेखन में वैविध्य और विस्तार आया है पर गुणात्मक दृष्टि से कोई विशेष प्रगति इसमें नहीं दिखाई पड़ती । आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. विजयेन्द्र स्नातक, देवी शंकर अवस्थी आदि शुक्ल जी की परम्परा में परिगणित हैं । ललित अथवा शुद्ध व्यक्तिपरक निबन्धों की परम्परा शुक्ल जी की परम्परा से सर्वथा भिन्न

और पृथक् है । ललित निबन्ध लेखकों में प्रमुख हैं — बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, गुलाब राय, कुबेरनाथ राय, विद्यानिवास मिश्र, विवेकी राय, उमाकान्त मालवीय आदि। वर्तमान में अधिकांश निबन्ध सैद्धान्तिक-व्यवहारिक, साहित्य-समीक्षा विषयक तथा राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विषयों पर लिखे जा रहे हैं । इस प्रकार के निबन्ध लेखकों का बहुत बड़ा वर्ग है – जिसमें अज्ञेय, डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. नामवर सिंह, निर्मल दुबे आदि आते हैं । इनमें से अनेक लेखक शुक्ल जी की लेखन पद्धति विवेचन शैली से प्रभावित भी हैं । परन्तु इन सबसे हटकर निजी जीवन और साहित्य से अनेक रोचक संस्मरण एवं प्रसंग उपस्थित करते हुए अपने ठोस बौद्धिक-वैचारिक निबन्धों को सरस सजीव बनाने तथा अपने विचारों एवं निष्कर्षों को सूत्र-शैली में प्रस्तुत करने की कला में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सिद्धहस्त, सर्वश्रेष्ठ एवं अद्वितीय हैं ।

6.ग. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अवदान हेतु विभिन्न विद्वानों के विचार :

हिन्दी साहित्य के इतिहास में संस्कृतिपरक मानदंडों के सुदृढ़ प्रतिष्ठापक के रूप में हिन्दी के मूर्द्धन्य विद्वान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का योगदान अप्रतिम है । वे निबंध, समीक्षा एवं इतिहास लेखन में एक निश्चित एवं निर्भान्त दृष्टिकोण लेकर प्रवृत्त हुए, जो उत्तरोत्तर प्रखर होता गया ।

शुक्ल जी के हिन्दी निबन्ध साहित्य के लिए किए गए योगदान को देखकर डॉ. श्यामसुन्दर दास ने लिखा है – ''इनके निबन्ध अधिकांश गूढ़ और जटिल होते थे । उनसे चाहे साधारण हिन्दी पाठकों का मनोरंजन न हो पर हिन्दी की उच्च शिक्षा के लिए वे आगे चलकर बड़े काम के होंगे ।''[49] डॉ. गुलाबराय कहते हैं – ''यह बात निर्विवाद है कि गद्य-साहित्य की ओर विशेषकर निबन्ध-साहित्य की प्रतिष्ठा बढ़ाने में शुक्ल जी अद्वितीय हैं । इस नाते हम उनको युग-निर्माता भी कहें, तो कुछ अनुचित न होगा । व्यक्ति पूजा का मैं पक्षपाती नहीं तथापि प्राप्य और उचित श्रेय को न देना भी पाप समझता हूँ । निबन्धों के क्षेत्र

में गूढ़ विवेचन और सूक्ष्म विश्लेषण को लाने का श्रेय आचार्य शुक्ल को है । जो स्थान उपन्यास-साहित्य में मुंशी प्रेमचन्द जी का है, वही स्थान निबन्ध साहित्य में आचार्य शुक्ल जी का है ।''[50]

शुक्ल जी के निबन्धों में बुद्धि एवं मन के समावेश को देख डॉ. भोलानाथ तिवारी ने लिखा है – ''ध्येय अर्थात् विषय की मनोवैज्ञानिक विवेचना अथवा सम्यक् आलोचना और बौद्धिक दृष्टिकोण ने उनके प्रायः सभी निबन्धों को अध्ययन और मनन की चीज बना दिया है।''[51] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी उनके लेखन से प्रभावित होकर लिखते हैं – ''आचार्य शुक्ल उन महिमाशाली लेखकों में हैं जिनकी प्रत्येक पंक्ति आदर के साथ पढ़ी जाती है और भविष्य को प्रभावित करती रहती हैं । ''आचार्य'' शब्द ऐसे ही कर्त्ता साहित्यकारों के योग्य है। पं. रामचन्द्र शुक्ल सच्चे अर्थों में आचार्य थे ।''[52] शुक्ल जी के बहुआयामी व्यक्तित्व से प्रेरित होकर विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है – ''आचार्य शुक्ल का बुद्धि-वैभव उनके निबन्धों में जब अध्ययन, अनुशीलन और अनुभवों से उपलब्ध निष्कर्षो को समझाने लगा है, तो उनका तार्किक मन सजग हो उठा है । इस सतर्क चेतना ने उनके मनोजगत में विचारों की जो गूढ़-गुम्फित परम्परा उत्पन्न की है वह जब शब्दों में उतरी है, तो वाक्यों के गूढ़-गुम्फित विन्यास का आविर्भाव हुआ है । शुक्ल जी की तर्कशीलता कभी-कभी इतनी सबल हो जाती है कि वे हमें अपने विचारों को मानने के लिए मजबूर कर देते हैं । उनके इस आक्रामक व्यक्तित्व ने उनकी भाषा को भी बड़ा प्रभावपूर्ण बना दिया है, जिससे ऐसी सुगठित अभिव्यंजना की सृष्टि हुई है कि उसके एक वाक्य या उपवाक्य या एक शब्द को भी हटा पाना संभव नहीं है ।''[53]

जगन्नाथ प्रसाद शर्मा गद्य को व्यापक एवं प्रौढ़ बनाने का श्रेय शुक्ल जी को ही देते हैं – ''साधारण निबन्ध में, आलोचनात्क एवं अन्य लेख में जहाँ भी देखें वहीं कुछ विशेष प्रकार का चमत्कार मिलेगा । कथन का यह चामत्कारिक ढंग शुक्ल जी ही का था । उसमें

उनकी वैयक्तिकता की गहरी छाया दिखाई पड़ती थी । किसी स्थान से भी दस-पाँच पंक्तियाँ निकालकर अन्यत्र रख दीं जाएँ तो वे पुकार कर कहेंगी कि ये उस प्रौढ़ लेखनी की रचनाएँ हैं, जिसने हिन्दी-गद्य की व्यापक और प्रौढ़तम उत्कृष्टता का वर्तमान रूप एक निर्दिष्ट स्थान पर स्थिर कर दिया था ।''[54]

डॉ. त्रिभुवन राय ने शुक्ल जी द्वारा स्थापित काव्य की सतर्कता एवं भावयोग की उच्च कक्षा और मनुष्यत्व की सर्वोच्च भूमि के सम्बन्ध में लिखा है - ''नवजागरण की ठोस जमीन पर खड़े पं. रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के वह पहले आचार्य चेता चिन्तक हैं, जिन्होंने पारम्परिक भारतीय चिंतन के उदात्त मूल्यों के साथ मनुष्य की प्रतिष्ठा की दृष्टि से उपयोगी एवं ग्राह्य पश्चिम की वैज्ञानिक एवं चिन्तनात्मक अवधारणाओं के आलोक में जीवन एवं साहित्य पर अपेक्षया वस्तुन्मुखी दृष्टि से विचार किया। अपनी विचारणा के उपक्रम में उन्होंने काव्य को जीवन से संपृक्त करके तो देखा ही उसे जीवन के उन्नयनकारी उत्कृष्ट माध्यम के रूप में देखने-परखने की एक अभिनव दृष्टि भी दी।''[55]

डॉ. नगेन्द्र ने शुक्ल जी को अन्वेषक मानते हुए पाश्चात्य आलोचना से प्रेरणा ग्रहण करने वाला विद्वान कहा है – ''निबन्ध रचना के क्षेत्र में पर्याप्त विषय-वैविध्य, भाषागत प्रौढ़ता तथा शैलीगत विविधता दृष्टिगत होती है । आचार्य शुक्ल ने मानव-मन की विभिन्न अवस्थाओं की मनोवैज्ञानिक विवेचना करने वाले निबंधों के साथ-साथ उत्कृष्ट कोटि के विचारात्मक निबन्धों की भी रचना की । हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में उनका योगदान और भी महत्त्वपूर्ण है उन्होंने ही पहली बार कवियों की आन्तरिक विशेषताओं के उद्‌घाटन और अन्वेषण का मार्ग अपनाया तथा पौर्वात्य काव्य-सिद्धान्तों के साथ-साथ पाश्चात्य आलोचना दृष्टि से भी प्रेरणा ग्रहण की ।''[56] डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त लिखते हैं – ''निबन्धकार शुक्ल की शैली में भी निजी विशिष्टता मिलती है । भारतेन्दु-युग की सी मौलिकता उसमें है किन्तु उसमें वे उसके छिछलेपन से दूर हैं, द्विवेदी युग की विचारात्मकता उसमें है किन्तु वैसी शुष्कता का

अभाव है । विचारों की गम्भीर घाटियों के बीच-बीच में उतरी हास्य-व्यंग्य से ओतप्रोत उक्तियाँ किसी स्वच्छ-शीलत निर्झर के कोमल-मधुर कलकल स्वर की तरह सुनाई पड़ती है ।''[57] डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने शुक्ल जी को उत्कृष्ट एवं गम्भीर गद्य लेखक माना है – वास्तव में कौशल सौष्ठव, सौन्दर्य आदि की दृष्टि से शुक्ल जी हिन्दी के एक उच्च गद्य शैलीकार हैं।''[58]

डॉ. प्रेम नारायण लिखते हैं – ''आचार्य शुक्ल जी की प्रतिभा बहमुखी थी । उन्होंने साहित्य की विभिन्न धाराओं का अध्ययन किया था । समीक्षा के साथ-साथ आपने साहित्य-सृजन का भी कार्य किया था । इस प्रकार आपने अपने ऊपर दुहरा उत्तरदायित्व लिया था । सामान्यतः यह एक बड़ी विषम स्थिति होती है । एक ओर कविता लिखना दूसरी ओर साहित्य की विभिन्न धाराओं का अवगाहन करते हुए हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास लिखना तथा समीक्षा सिद्धान्तों का तुलनात्मक दृष्टि से आलोड़न-विलोड़न करके अपनी मान्यताओं का समर्थ प्रतिपादन करना । यह सब कुछ दो नावों पर पैर रखने के समान था । पर अपनी अद्‌भुत प्रतिभा एवं विस्तृत तथा गम्भीर स्वाध्याय के परिणामस्वरूप आपने हिन्दी क्षेत्र में एक पृथक् स्थान ही बना लिया । ..... वस्तुतः शुक्ल जी ने अपनी समीक्षा पद्धति द्वारा साहित्य के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया है । साथ ही साथ उन्होंने आचार्य शुक्ल को युग-पुरुष भी कहा है – ''हिन्दी जगत में आचार्य शुक्ल जी एक युग-पुरुष के रूप में अवतरित हुए । युग-पुरुष युग चेतना का अध्येता एवं निर्माता होता है । आपने अपने साहित्य के माध्यम से युग का दर्शन किया और उसे दिशा भी दी । शरीर तो एक न एक दिन राख में मिलता ही है – 'भस्मान्त शरीरम्' पर जो व्यक्ति भद्र ही सुनता-बोलता है, भद्र ही देखता है और भद्र ही करता है वह महाभाग प्राणी अपनी भद्रता में अमरत्व प्राप्त करता है । आचार्य देव शुक्ल जी 'भद्र' के ही उपासक थे । वे दिवंगत होकर भी अपनी साहित्य-साधना द्वारा हमारे बीच सतत विद्यमान हैं, मृत्युंजय हैं ।''[59]

रामचन्द्र तिवारी का मानना है कि यह हिन्दी का सौभाग्य है जो उसे आचार्य शुक्ल जैसा तत्त्वदर्शी विद्वान प्राप्त हुआ – ''आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी आलोचना के युग निर्माता हैं । उन्होंने पहली बार हिन्दी आलोचना को निजी व्यक्तित्व प्रदान किया । उनकी दृष्टि में आधुनिक शैली की आलोचना के लिए ''विस्तृत अध्ययन, सूक्ष्म अन्वीक्षण बुद्धि और मर्म-ग्राहिणी प्रज्ञा अपेक्षित है ।'' निश्चय ही अलोचना के क्षेत्र में अग्रसर होने के पूर्व उन्होंने इन तत्त्वों को विकसित करने की कोशिश की होगी । कम से कम विस्तृत अध्ययन की शर्त तो उन्होंने पूरी की ही है । सूक्ष्म अन्वीक्षण बुद्धि और मर्म ग्राहिणी प्रज्ञा उन्हें निसर्गतः प्राप्त थीं किन्तु निरंतर विनियोग और अभ्यास के बल पर इनको भी उन्होंने विकसित किया था । उन्होंने पारम्परिक काव्य-चिंतन का आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के आलोक में नई अर्थवत्ता प्रदान की और पाश्चात्य काव्य चिंतन के सकारात्मक तत्त्वों को अपेक्षित सम्मान देते हुए आत्मसात किया । इस प्रकार उनका आलोचक व्यक्तित्व अपने समय की सीमाओं को अतिक्रमण करके पूरी हिन्दी आलोचना पर छा गया । यह हिन्दी का सौभाग्य है कि उसे बीसवीं सदी के प्रथम चरण में ही आचार्य शुक्ल जैसा तत्त्व-दृष्टि संपन्न मर्मी आलोचक प्राप्त हो गया ।''[60]

शुक्ल जी के निबन्धों में वैविध्य को देखकर डॉ. मृत्युंजय लिखते हैं – ''आचार्य शुक्ल के निबन्धों में वैविध्य के दर्शन होते हैं । एक व्यक्ति के लिए इतना सृजन आश्चर्य मिश्रित सुखद अनुभूति जगाता है ।''[61] विश्वम्भर नाथ उपाध्याय ने शुक्ल जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का मूल्यांकन करते हुए लिखा है – ''आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का चिंतन और आलोचना हमारी महत्त्वपूर्ण धरोहर है । उसमें भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा का बुद्धि संगत दोहन है जो क्लासिक साहित्य के मूल्यांकन में मददगार है । आचार्य शुक्ल का विश्व बोध अपने विश्वासों के बावजूद भौतिक जगत् की यथार्थता पर बल देता है और वह साम्राज्यवादी या उपनिवेशी मानसिकता और संस्कृति के विरूद्ध संघर्ष में हमारा पथ प्रदर्शक है । शुक्ल जी की लोक मंगल की धारणा सम्भावनापूर्ण है ।''[62] श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' तो शुक्ल

जी की साहित्य सेवा के सम्मुख अपना मस्तक कृतज्ञता के ऋण से झुका देते हैं । उनकी दृष्टि में शुक्ल जी आर्नाल्ड ऑफ द ईस्ट हैं – ''गद्य लेखक, निबन्ध कर्ता, शैली निर्माता, समालोचक, कवि और दार्शनिक रूप में आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य की वह सेवा की है, जो आर्नाल्ड से अंग्रजी-साहित्य की न हो सकी । आर्नाल्ड के मुकाबले में तो अंग्रेजी-साहित्य में लेखक और समालोचक हुए भी पर हमारे इस आचार्य के मुकाबले में हिन्दी साहित्य में कौन है ?''[63]

डॉ. रामविलास शर्मा का मानना है कि शुक्ल जी की मान्यताओं के कारण ही हिन्दी आलोचना विकसित एवं समृद्ध हुई है – ''शुक्ल जी ने पूर्व और पश्चिम दोनों ओर के भाववादी साहित्यशास्त्रियों की इन धारणाओं को निर्मल किया कि काव्य का उद्देश्य केवल आनन्द देना है, उसकी अनुभूति जीवन की अनुभूति से मूलतः भिन्न होती है, कल्पना संसार के रूपों से परे अपना एक नया संसार रचती है । उन्होंने रस को काव्य की आत्मा माना लेकिन लोक हृदय में लीन होने को रस दशा कहा, ज्ञान को वास्तविक जगत् की सत्ता पर निर्भर बताया, साहित्यशास्त्र की अवैज्ञानिक रहस्यवादी कल्पनाओं को बाहर किया, काव्य के भाव-योग की परिणति लौकिक जीवन के कर्म योग में की । इस तरह उन्होंने हिन्दी में एक मौलिक साहित्यशास्त्र की नींव डाली जो प्राचीन रूढ़िवाद और पश्चिमी कलावाद से स्वतंत्र ही नहीं है, उनका तीव्र विरोध भी है । शुक्ल जी की इन मान्यताओं के आधार पर ही ओज की हिन्दी आलोचना प्रगति-पथ पर आगे बढ़ सकती है ।''[64] योगेन्द्र प्रताप सिंह लिखते हैं – ''आचार्य शुक्ल के मन में साहित्य के बहुआयामी स्वरूप के अंतरंग विश्लेषण की चिन्ता थी जिसमें अंतरंगता के रूप में समग्र सामयिक संघर्ष की स्थिति किसी भी पारम्परिक उदात्तता से न जुड़कर मात्र सामाजिक जीवन के अभिव्यक्ति के विविध व्यवहारों से जुड़ी थी । आचार्य शुक्ल का सैद्धान्तिक चिन्तन आधुनिक साहित्य की इसी आधारभूमि का विश्लेषण है जिसके लिए पारम्परिक सैद्धान्तिक चिंतन सर्वथा अपर्याप्त तथा अक्षम है । यही नहीं शुक्ल जी के

मन में पाश्चात्य मानकों के प्रति संशय मुक्त मोह भी नहीं था । उन्होंने बड़ी गहराई एवं बारीकी से भारतीय समाज, जीवन-शैली एवं व्यवहार प्रक्रिया को समझा और स्वीकार किया कि समग्र भारतीय जीवन की सामाजिक अभिव्यक्ति को अन्य किसी पाश्चात्य देश के साहित्य में अभिव्यक्त सामाजिक रचना व्यवहार से सर्वथा भिन्न है, भारतीय साहित्य के लिए यह त्यागना सम्भव नहीं है । ऐसे बिन्दु पर आकर आचार्य शुक्ल के समक्ष समीक्षा के मानकीकरण का बहुत बड़ा दायित्व उपस्थित हो जाता है । पाश्चात्य संस्कृति में अभिव्यक्त नयेपन की परख तथा भारतीय समाज रचना की आदर्शपरक व्यवहार-दृष्टि दोनों का एक बिन्दु पर निर्वाह उनकी मूल चिन्ता थी । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की सैद्धान्तिक समीक्षा के मानकीकरण का यह दुहरा संकट निश्चित रूप से एक चुनौती भरा कार्य था, जिसके निर्वाह में उन्होंने अपना समग्र जीवन खपा दिया ।''[65]

मनोवैज्ञानिक आधार पर लिखे गये निबन्धों के रहस्य के जानने के पश्चात डॉ. विजयेन्द्र स्नातक लिखते हैं – शुक्ल जी ने भावों और मनोविकारों को निबन्ध के लिए एक विशिष्ट उद्देश्य से ग्रहण किया था । समस्त मानव जीवन के प्रवर्त्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं । अतः सामान्य क्रिया-कलाप से लेकर गम्भीर काव्यादि रचना तक इन्हीं का प्रभाव व्याप्त रहता है । जब तक इनके स्वरूप का बोध न होगा तब तक मन की प्रवृत्तियों की प्रतीति भी सम्भव नहीं होगी । शुक्ल जी ने इस तथ्य को भली-भाँति समझकर इन विषयों के विश्लेषण का कार्य अपने हाथ में लिया । भाव और मनोविकार के साथ प्रत्येक मानव का परिचय होता है, किन्तु उनके उद्‌भव विकास और गति को समझना बड़े-बड़े पंडितों और ज्ञानियों के लिए भी दुष्कर है । यही कारण है कि इन विषयों पर हिन्दी में तो किसी लेखक ने लिखने का साहस ही नहीं किया अन्य भाषाओं में भी बहुत कम इन विषयों पर लिखा गया है । भारतेन्दु या द्विवेदीकालीन निबन्ध-लेखकों ने इन्हें दर्शन की परिधि में समझकर स्पर्श नहीं किया । द्विवेदी जी ने भय और क्रोध आदि विषयों पर दो-तीन निबन्ध लिखे जो सतही

स्पर्श के सिवा किसी गूढ़ अभिप्राय की व्यंजना नहीं कर सके । मनोवेगों की उत्पत्ति और उनके लक्षण तथा विकास को दृष्टि में रखकर तो कोई लेखक विचार ही नहीं कर सका था। मनोवैज्ञानिक आधार पर साहित्यिक शैली में मनोवेगों का सबसे पहली बार आचार्य शुक्ल ने ही विवेचन प्रस्तुत किया।''[66] श्री शिवनाथ ने शुक्ल जी को ''निबन्ध क्षेत्र का एकमात्र अधिपति स्वीकार किया है।''[67]

श्री सिद्धिनाथ मिश्र ने शुक्ल जी की जयन्ती के अवसर पर आचार्य-प्रवर रामचन्द्र शुक्ल - 'स्मृति शती' नाम से काव्य पंक्तियों का प्रणयन किया, जिसमें शुक्ल जी द्वारा की गई साहित्यिक सेवाओं का उल्लेख है :

हिन्दी की जमीन बीज बल्लरी हुई है हरी
फूली फली स्फीत समामोद की गमक है ।
आज भी तो शुक्ल 'रामचन्द्र' के परस से ही
समालोचना की 'चन्द्रमणि' में चमक है ।[68]

राजाराम शुक्ल 'राष्ट्रीय आत्मा' ने भी अपने उद्‌गारों को काव्य पंक्तियों में सजाया है :

रामचन्द्र शुक्ल सचमुच पूर्ण रामचन्द्र ही थे,
चारों ओर चारु चन्दिका-सी कीर्ति फैली थी ।
पक्षपात से जो देखता हो उनमें कलंक
दिव्य दृष्टिहीन हो उसी की दृष्टि मैली थी ।
सुमधुर सरस स्वाध्याय सुधा-सार सनी
सरल सुकोमल सशक्त स्वच्छ शैली थी ।
देवनागरी की नव निधि भरने के लिए
रत्नराशि-पूरित कुबेर की सी थैली थी ।'[69]

डॉ. रामप्रसाद मिश्र ने शुक्ल जी को आलोचना का वैसा ही केन्द्र पुरुष माना है

जैसे प्रेमचन्द हिन्दी उपन्यास के और प्रसाद हिन्दी नाटक के – ''आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का व्यक्ति रूप अच्छा, आलोचक रूप महान और निबन्धकार रूप महानतर' है । उनका कवि रूप बस इतना महत्त्व रखता है कि वे कविता भी लिख गए हैं । उनका प्राध्यापक रूप बस ठीक-ठाक था । उनका व्यक्तित्व अपने-आप में केन्द्रित किन्तु लोकमंगल का सम्मान करने वाला व्यक्तित्व था । वे एक विशुद्ध साहित्यकार थे जो राजनीतिज्ञों की स्तुति पद-प्राप्ति की तिकड़माबाजी और शैक्षिक भ्रष्टाचार से मुक्त रहे । आलोचक के रूप में शुक्ल जी का स्थान अब तक श्रेष्ठ बना हुआ है । यद्यपि उनकी अनेक स्थापनाएँ कालातीत एवं अमान्य हो चुकी है तथापि पूर्ववर्ती मिश्रबन्धु और परवर्ती आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेजी और डॉ. नगेन्द्र जी मौलिकता, सैद्धान्तिकता, स्थापना-शक्ति, आत्मबल, व्यापकता इत्यादि गुणों में उनकी समता नहीं कर सकते । विचारात्मक निबंधकार के रूप में शुक्ल जी का स्थान अब तक सर्वश्रेष्ठ बना हुआ है और इस दिशा में उनकी समता करने वाला कोई है ही नहीं । हिन्दी के समग्र गद्य साहित्य में शुक्ल जी की समता केवल प्रेमचन्द जी कर सकते हैं यद्यपि उनमें भी तेजस्विता, वैचारिकता, स्थापना शक्ति, प्रभावान्विति इत्यादि विभूतियाँ अपेक्षाकृत अल्प ही हैं । आचार्य शुक्ल हिन्दी गद्य के सुमेरू हैं और हमारे सम्पूर्ण साहित्य में उनका स्थान तुलसी, सूर, कबीर, जायसी, केशव, भारतेन्दु, महावीर प्रसाद, द्विवेदी, प्रेमचन्द, प्रसाद आदि मूर्द्धन्य स्रष्टाओं के अपने-अपने स्थान के सदृश एक अजर-अमर पुराण-पुरुष का है।''[70]

डॉ. ओंकार नाथ शर्मा ने शुक्ल जी को ''हिन्दी का अपराजेय अद्वितीय अथवा अप्रतिम निबंधकार स्वीकार किया है ।''[71] सुधाकर पाण्डेय ने शुक्ल जी के निबन्धों को हिन्दी निबन्ध साहित्य की आत्मा कहा है – ''वे मर्यादा में विश्वास करने वाले, गुरु गम्भीर व्यक्ति थे इसलिए उनके निबन्ध विचारों से लेकर अभिव्यक्ति तक पूर्ण मर्यादित हैं, उनमें पूर्ण ओज और व्यापक उदात्तता है। ये निबन्ध उनकी गरिमाशाली व्यक्तित्व की अभिव्यंजना से शक्ति संवलित

हैं और हिन्दी निबन्ध-साहित्य की आत्मा हैं । शुक्ल जी ने हिन्दी निबन्ध साहित्य में प्राण-प्रतिष्ठा ही नहीं की भाव, भाषा, विचार और शैली – सभी दृष्टियों से उसे विश्व साहित्य में प्रतिष्ठित करने का महनीय और गौरवपूर्ण कार्य भी किया । इस क्षेत्र में शुक्ल जी का योगदान अप्रतिम और अद्वितीय है तथा निबन्धकार के रूप में उनका कीर्ति स्तम्भ आज भी अजेय है ।''[72]

रामेश्वरलाल खण्डेलवाल लिखते हैं – ''आचार्य शुक्ल को हिन्दी का प्रौढ़ समालोचक होने का गौरव प्राप्त है । वे तात्विक व ऐतिहासिक दोनों प्रकार के महत्त्व से सम्पन्न हिन्दी के एक ऐसे दिग्गज आचार्य हैं जिन्होंने शास्त्राभ्यास और वैयक्तिक जीवनानुभूति के योग से निर्मित अपने मौलिक चिन्तन के सुदृढ़ सूत्र में भारतीय व पाश्चात्य समीक्षात्मक विचार-सारणियों का सुप्रतिष्ठित जीवन-मूल्यों के आलोक में गुम्फित किया है और समीक्षा को ऊँचा अर्थ व आशय प्रदान किया है।''[73] नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है– ''आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी आलोचना के लिए युग-प्रवर्त्तक कार्य कर गए है ।''[74] डॉ. भगीरथ मिश्र – शुक्ल जी को साहित्यकारों का मानदंड मानते हैं – ''आचार्य शुक्ल में बड़ी उर्वर प्रतिभा और समन्वय शक्ति थी । अपने मनोवैज्ञानिक लेखों में उन्होंने पाश्चात्य मनोशास्त्रियों के विचार-बीजों से प्रेरित होकर अनेक भाव-लेखों को पल्लवित किया था । उसी प्रकार चिन्तामणि के अनेक निबन्धों में क्रोचे, आई. ए. रिचर्डस और टी. एस. इलियट के सौन्दर्यशास्त्रीय विचारों से प्रेरित होकर भारतीय रस और भाव सम्बन्धी परम्परा को आगे विस्तार देने का उपक्रम है । उनके ये विचार न केवल सौन्दर्यशास्त्रीय विचारधाराओं को स्पष्ट करते हैं वरन् वे समकालीन काव्य-समीक्षा की कसौटी भी प्रस्तुत करते हैं । इस आधुनिक साहित्य में आचार्य शुक्ल जी के साहित्येतिहासकार समीक्षक और विचारक का हिमालय के समान गुरु गंभीर व्यक्तित्व हम सभी साहित्यकारों और साहित्यकों के लिए एक गौरवमय मानदण्ड हैं ।''[75]

देवकी नन्दन खत्री शुक्ल जी को समीक्षा सिद्धान्त का उन्नायक मानते हैं – ''भारतीय समीक्षा के इतिहास में संस्कृतिपरक मानदण्डों के सुदृढ़ प्रतिष्ठापक के रूप में हिन्दी के मूर्द्धन्य आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का योगदान अप्रतिम है । मात्र गुण-दोष चयन, अलंकार-निरूपण, रीति-विवेचन तथा वक्रोक्ति-विश्लेषण के बाह्य-परिवेश-प्रेक्षण की रूढ़िबद्ध पद्धतियों से परे उठकर उन्होंने रस-व्यंजना एवं प्रतीयमान सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति के अन्तर स्वरूप के उद्‌घाटन पर बल दिया । साथ ही भारतीय संस्कृत काव्यशास्त्र की स्वस्थ परम्पराओं के साथ पाश्चात्य अंग्रेजी आलोचना पद्धति की उपयोगी मान्यताओं को आत्मसात करते हुए उन्होंने हिन्दी साहित्य में एक सुव्यवस्थित प्रतिपादन प्रणाली और मूल्यांकन शैली का प्रवर्त्तन किया । मात्र प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्र में परिगणित लक्षणों, सम्प्रदायों और सिद्धान्तों का अनुकरण एवं पिष्टपेषण न करके उन्होंने वर्तमान सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के संदर्भ में अनेक आधुनिक पाश्चात्य परिप्रेक्ष्यों का प्रामाणिक परिचय प्राप्त किया और अपनी विशिष्ट सीमाओं में स्वयं हिन्दी की मूल आकार कृतियों तथा प्रतिनिधि साहित्यकारों की निजी उपलब्धियों के आधार पर नवीन समीक्षा मानों का निर्धारण किया । इस दृष्टि से आचार्य शुक्ल आधुनिक भारतीय आलोचना के क्षेत्र में सैद्धांतिक समीक्षा के उन्नायकों में अग्रणी हैं ''[76]

डॉ. नामवर सिंह का तो यहाँ तक कहना है कि उनकी कृतियाँ ही उनका परिचय है – ''हिन्दी में आचार्य शुक्ल की जो प्रतिभा आज प्रतिष्ठित है वह इसी दशक की कृतियों के आधार पर और यह गरिमामयी मूर्ति इतनी सुपरिचित है कि सम्प्रति उसके विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है ।''[77] डॉ. शम्भुनाथ चतुर्वेदी लिखते हैं – ''आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने दो महान दायित्वों का सफल निर्वाह किया – एक ओर तो उन्होंने फ्रायड से प्रभावित होकर मनोवैज्ञानिक निबन्धों की सृष्टि की और दूसरी ओर अंधेरी बंद गलियों में भटकती हुई हिन्दी समीक्षा को नवीन मानदण्डों की लालटेन पकड़ा दी । उनके निबन्धों में

भी उनकी प्रखर समीक्षक दृष्टि कहीं भी ओझल नहीं हो सकी है और यह अपने आप में एक बड़ी उपलब्धि है । मनोविकारों का विश्लेषण, साहित्य-सिद्धान्तों की व्याख्या और कृतियों का मूल्यांकन उन्हें न तो केवल साहित्य सिद्धान्तों के निर्माता की कोटि में रखता है न केवल स्तरीय निबन्धकार उन्हें बनाता है और न सिर्फ उन्हें उच्च कोटि के समीक्षक की श्रेणी में रखता है । परम्परा और व्यक्ति मेधा का जैसा अद्‌भुत सामंजस्य उनके समीक्षक रूप में उपलब्ध होता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है । मानवीय संवेदना को उद्दीप्त करना तथा नवीन अर्थ-संभावनाओं की ओर इंगित करना शुक्ल जी के समीक्षक रूप को अभीष्ट था । यद्यपि शुक्ल जी ने हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में पाश्चात्य साहित्य और समीक्षा के अध्ययन की नवीन प्रवृत्ति को बल दिया परन्तु उन्होंने अंग्रेजी आलोचना का अन्धानुकरण नहीं किया ।''[78]

शुक्ल जी के शिष्य पं. अयोध्यानाथ शर्मा उन्हें हिन्दी साहित्य की विभूति मानते हैं– ''किसी देश या समाज के बीच महान विभूतियों की अवतारणा प्रभु की ही कृपा का प्रतिफल होता है । ये विभूतियाँ अपनी आधार परक निष्ठा एवं ज्ञान-साधना द्वारा उस देश और समाज को गौरव प्रदान करती हैं । शुक्ल जी एक ऐसी ही महान विभूति के रूप में हिन्दी साहित्य को प्राप्त हुए। वे हिन्दी जगत् के एक ऐतिहासिक महापुरुष के रूप में सदा स्मरण किए जायेंगे । उनका समग्र साहित्य हमारी अक्षय निधि के रूप में है ।''[79] डॉ. रामकृपाल पाण्डेय ने चिन्तामणि-विमर्श में लिखा है – विचारात्मक निबन्धों का चरमोत्कर्ष वास्तव में आचार्य शुक्ल के ही निबन्धों में दिखाई पड़ता है । निःसंदेह हिन्दी निबन्ध के विकास में आचार्य शुक्ल का योगदान और निबन्धकारों के बीच उनका स्थान सबसे ऊँचा है। आचार्य शुक्ल के समय से लेकर अब तक सैकड़ों निबन्धकार हुए हैं । उनमें से कुछ बहुत अच्छे निबन्धकार भी हुए जिन्होंने हिन्दी निबन्ध को नूतन श्री और समृद्धि प्रदान की । पर, खेद है कि विचारात्मक श्रेणी में एक भी ऐसा निबन्धकार नहीं हुआ, जिसे आचार्य शुक्ल के समकक्ष माना जा सके । एक भी ऐसी निबन्ध कृति नहीं है हिन्दी में जो 'चिन्तामणि' के

सामने रखी जा सके । हिन्दी निबन्ध-साहित्य की भागीरथी है – 'चिन्तामणि' । पुनः-पुनः अवगाहनीय, अनुपम, अतुलनीय ।''[80] डॉ. रामलाल सिंह तो यहाँ तक लिखते हैं कि – ''शुक्ल जी का स्थान भारत के ही नहीं, वरन विश्व के प्रथम श्रेणी के समीक्षकों में बहुत ही उच्च कोटि का है ।''[81]

इस प्रकार हिन्दी साहित्य के अनेक विद्वानों ने शुक्ल जी की विद्वता को स्वीकार करते हुए उन्हें सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार एवं आलोचक सिद्ध किया है । शुक्ल जी के विचारात्मक निबन्धों के अध्ययनोपरान्त यही निष्कर्ष निकलता है कि वे निबन्ध क्षेत्र के सम्राट हैं और उनके निबन्ध हिन्दी साहित्य की अमूल्य धरोहर । ये निबन्ध हिन्दी गरिमा एवं महिमा के द्योतक हैं तथा विचारात्मक निबन्धों के अग्रज एवं उन्नायक शुक्ल जी ही हैं ।

संदर्भ :

1. सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल, पृ. 11
2. रामचन्द्र शुक्ल : सं. सुरेशचन्द्र त्यागी, पृ. 269
3. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ : डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ. 454
4. हिन्दी गद्य साहित्य : डॉ. पदम सिंह कमलेश, पृ. 22
5. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ : डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ. 582
6. हिन्दी साहित्य का इतिहास : सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 467
7. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 412
8. हिन्दी साहित्य का इतिहास : सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 484
9. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ : डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ. 597
10. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : प्रतिनिधि निबन्ध : सं. सुधाकर पाण्डेय, पृ. 182
11.हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 421
12.हिन्दी साहित्य का इतिहास : सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 475
13.हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ : डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ. 642
14.हिन्दी साहित्य का इतिहास : सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 475
15.वही, पृ. 476
16.हिन्दी गद्य साहित्य : डॉ. रामचन्द्र तिवारी, पृ. 62
17.भारतेन्दु युग : डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 95
18.हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 466
19.हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ : डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ. 643
20.हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 466
21.हिन्दी साहित्य का इतिहास : सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 508
22.हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास : डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ. 189
23.हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ : डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ. 642
24.हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 452
25.हिन्दी साहित्य का इतिहास : सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 515
26.हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ : डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ. 644
27.हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास : डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ. 193
28.हिन्दी साहित्य कोश (भाग - 2) : सं. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 439
29.हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 471
30.वही, पृ. 477
31.वही, पृ. 481

32.हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ : डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ. 645
33.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : प्रतिनिधि निबन्ध : सं. सुधाकर पाण्डेय, पृ. 185
34.काव्य के रूप : गुलाब राय, पृ. 36
35.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : प्रतिनिध निबन्ध : सं. सुधाकर पाण्डेय, पृ. 183
36.हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 452
37.वही, पृ. 428
38.वही, पृ. 465
39.वही, पृ. 479
40.वही, पृ. 479
41.वही, पृ. 482
42.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चन्द्रशेखर शुक्ल, पृ. 276
43.बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों का संग्रह : सं. लक्ष्मी शंकर व्यास, पृ. 109
44.चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 47
45.हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 410
46.चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 38
47.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल निबन्ध संरचना और काव्य-चिंतन : योगेन्द्र प्रताप सिंह, पृ. 28
48.सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल, पृ. 18
49.आलोचक रामचन्द्र शुक्ल : श्याम सुन्दर दास, पृ. 9
50.अध्ययन और आस्वाद : डॉ. गुलाबराय, पृ. 366
51.हिन्दी साहित्य : डॉ. भोलानाथ तिवारी, पृ. 313
52.रामचन्द्र शुक्ल : सं. गुलाबराय, पृ. 23
53.रामचन्द्र शुक्ल : सं. सुरेश चन्द्र त्यागी, पृ. 252
54.हिन्दी की गद्य-शैली का विकास : डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा,पृ. 98
55.सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेम नारायण शुक्ल, पृ. 468
56.हिन्दी साहित्य का इतिहास : सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 606
57.हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ : डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ. 646
58.हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास : डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ. 198
59.सम्मेलन पत्रिका : डॉ. प्रेम नारायण शुक्ल, पृ. 11
60.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रामचन्द्र तिवारी, पृ. 86
61.हिन्दी निबन्ध के सौ वर्ष : डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय, पृ. 127
62.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सं. सुरेश चन्द्र त्यागी, पृ. 353
63.सम्मेलन पत्रिका : डॉ. प्रेम नारायण शुक्ल, पृ. 14
64.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना : डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 35

65.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल निबन्ध संरचना और काव्य-चिंतन : योगेन्द्र प्रताप सिंह, पृ. 45
66.सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेम नारायण शुक्ल, पृ. 17
67.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : शिवनाथ, पृ. 231
68.सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेम नारायण शुक्ल, पृ. 164
69.वही, पृ. 72
701.वही, पृ. 230
71.हिन्दी निबन्ध का विकास : डॉ. ओंकारनाथ शर्मा, पृ. 199
72.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : प्रतिनिधि निबन्ध : सं. सुधाकर पाण्डेय, पृ. 189
73.हिन्दी आलोचना के आधार-स्तम्भ : सं. रामेश्वरलाला खंडेलवाल, पृ. 43
74.वही, पृ. 66
75.सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेम नारायण शुक्ल, पृ. 345
76.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सं. सुरेश चन्द्र त्यागी, पृ. 89
77.चिन्तामणि (तीसरा भाग) : सं. डॉ. नामवर सिंह, पृ. 22
78.सम्मेलन पत्रिका : सं. डॉ. प्रेम नारायण शुक्ल, पृ. 299
89.वही, पृ. 534
80.चिन्तामणि (पहला भाग) : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 234
81.आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त : डॉ. रामलाल सिंह, पृ. 551

उपसंहार

उपसंहार

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के रूप में हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में एक ऐसी विलक्षण प्रतिभा ने जन्म लिया, जिसने हिन्दी-साहित्य की सर्वांगीण उन्नति हेतु सतत प्रयत्न किया । उन्होंने हिन्दी-साहित्य को सभी प्रकार से समुन्नत एवं समृद्ध बनाया और साहित्य की सभी विधाओं की समृद्धि के लिए अपनी लेखनी चलाई । शुक्ल जी ने एक कवि के रूप में साहित्य जगत् में कदम रखा । बहु-काव्यों की सृष्टि न की, जितना भी काव्य रचा उसने उन्हें कवि का सम्मान प्राप्त कराया । वे बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न थे । उन्होंने इतिहास, दर्शन और विभिन्न भाषाओं की साहित्य-रचनाओं का अध्ययन किया था । वे साहित्येतिहास लेखक, समीक्षक और निबंधकार के रूप में विख्यात तो हुए ही साथ ही दूसरी भाषाओं में संचित ज्ञान का विशद् भंडार शुक्ल जी द्वारा हिन्दी में लाया गया । उनकी सशक्त लेखनी ने अनुवादों में भी मौलिकता का रंग भर दिया है । शुक्ल जी के रचना-कौशल को देखकर आश्चर्य होता है कि इस विलक्षण प्रतिभा ने किस तरह अथक परिश्रम द्वारा हिन्दी-साहित्य के अभावों की पूर्ति करने का स्तुत्य प्रयास किया, किस प्रकार हिन्दी के भंडार की पूर्ति हेतु विविध नूतन शैलियों एवं नूतन विधाओं को जन्म देने में सफल हुआ । निःसंदेह शुक्ल जी की प्रतिभा बहुमुखी थी। उन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभा द्वारा जो - जो रचनाएँ प्रस्तुत कीं, वे वास्तव में अनुपम एवं अद्वितीय हैं, हिन्दी साहित्य की अनूठी निधियाँ हैं और हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक विकास में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

निबंध शब्द की अवधारणा बहुत प्राचीन होने पर भी गद्य की स्वतंत्र विधा के रूप में इसका प्रयोग सोलहवीं शताब्दी के फ्रांसीसी साहित्य में 'मॉन्तेन' द्वारा हुआ था । हिन्दी साहित्य में इस विधा का प्रादुर्भाव अंग्रेजी साहित्य के माध्यम से हुआ । यूरोप में इसके उद्‌भव के करीब ढाई सौ वर्षों बाद हिन्दी में इसकी व्याप्ति हुई । आज वैचारिक अभिव्यक्ति का यह विशिष्ट साहित्यिक माध्यम देश-विदेश में अत्यधिक विकसित एवं लोकप्रिय है ।

विचार-प्रसार के सर्वाधिक वैज्ञानिक रूप में मान्यता देकर इसको विशेष गौरव प्रदान किया जा रहा है । इसके क्षेत्र, भेद-प्रभेद और आयामों में आशातीत विस्तार हो रहा है । निबंधों की बहु-विध अनेकरूपता को देखकर वस्तु, उद्देश्य और शैली की दृष्टि से अनेक वैविध्य विस्तार एवं परिमाण का पता चलता है ।

निबंध हिन्दी साहित्य की श्रेष्ठ विधा है । इसका मुख्य करण है – निबंध में काव्य की-सी रमणीयता, भावुकता एवं सरसता होती है, कहानी के समान विनोद तत्त्व होते हैं, नाटक तुल्य गति, अभिनय, संवाद प्रभाव पूर्ण होते हैं, जीवनी की भाँति आत्म-विश्लेषण है तो संस्मरण जैसी विवरणात्मकता, निष्पक्षता, मार्मिकता एवं अपनापन होता है । रेखाचित्र तुल्य चित्रात्मकता होती है तो गद्यगीत समान भावात्मकता एवं एकाग्रता होती है । यह साहित्य की ऐसी विधा है जिसमें तर्क पूर्ण ढंग से किसी भी विषय के सभी अंगों का सम्पूर्ण विवेचन किया जाता है, इसमें लेखक के व्यक्तित्व की अमिट छाप होती है, जो वैयक्तिक आत्माभिव्यंजना का सरल एवं सुगम माध्यम होती है । निबंध में साधारण बातचीत का रस रहता है, जिसमें भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास होता है, जो निजीपन के सौष्ठव से परिपूर्ण होती है, जिसमें स्वछन्दता एवं विश्रृंखलता के साथ मानसिक तरंग का प्रवाह रहता है, अनियंत्रित और असंगठित होकर भी पूर्ण होती है । जिसमें आत्मीयता की प्रधानता होती है तथा जो विचारों के निःशेष बंध से युक्त होकर रमणीय शैली में व्यक्त होती है । अतः भावों एवं विचारों की स्वच्छन्द रमणीय एवं कसाव पूर्ण गद्यमयी विधा ही निबंध है । शुक्ल जी ने इसे 'गद्य की कसौटी' भी कहा है ।

शुक्ल जी सहित हिन्दी साहित्य में कई प्रसिद्ध निबंधकार हुए जिन्होंने विविध विषयों सहित समकालीन विभिन्न विचारों एवं तथ्यों पर निबंध की रचना कर हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धि की । पाश्चात्य विद्वानों ने भी स्व सामर्थ्यानुसार इस विधा को पल्लवित एवं विकसित किया । भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने अपने अनुभव एवं विचारों के अनुसार निबंध की परिभाषा, भेद, प्रभेद, तत्त्व एवं निबंध-शैली को प्रस्तुत किया ।

पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि से यद्यपि निबंध के लिए व्यक्तिगत विशेषता का तत्त्व अनिवार्य है तथापि शुक्ल जी के अनुसार निबंध में प्रमुखता विषय और बुद्धि-तत्त्व की ही होती है एवं वैयक्तित्व भाव भी बीच-बीच में झलक जाते हैं । सूक्ष्म विचार दृष्टि सम्पन्नता, गहन विचारधारा, अभिनव विचारोन्मेष, विचारों की गूढ़-गुम्फित परम्परा, विचारों की सघन कसावट, अनुशासन, गंभीरता, भाषा की नूतन शक्ति का चमत्कार, शैली की असाधरणता और अर्थ की गतिशीलता आदि निबंध के प्रमुख लक्षण हैं । जहाँ पश्चिमी विद्वान् निबंध को अव्यवस्थित और विश्रृंखल रचना के रूप में स्वीकार करते हैं, वहीं हिन्दी के विद्वानों ने कसाव, विचारों की सम्बद्धता, गंभीरता, रमणीयता और व्यवस्था को निबंध का प्रमुख वैशिष्ट्य माना है अर्थात् निबंध वही है जिसमें विचार एवं भाव पूर्णतया बँधे हुए, एकत्रित, संगठित एवं आपस में जुड़े हुए होते हैं ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्म अगोना ग्राम में सम्वत् 1941 वि. की आश्विन पूर्णिमा (4 अक्टूबर, 1884 ई.) को हुआ था । शुक्ल जी के पिता पं. चन्द्रबली शुक्ल कानूनगो थे । माता गोस्वामी तुलसीदास के वंश 'मिश्र' वंश की पुत्री थीं । माता द्वारा भक्ति एवं साधना उन्हें विरासत में मिली थी । हाई स्कूल लिविंग परीक्षा के बाद वे कानून पढ़ना चाहते थे, लेकिन पढ़ नही पाए । उन्होंने कभी कला अध्यापक तो कभी विषय अध्यापक के रूप में कदम बढ़ाया । नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से जुड़े और फिर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी अध्यापक के रूप में नियुक्त हुए ।

'हिन्दी-शब्द सागर' से जुड़ने के पश्चात् उनकी साहित्यिक गतिविधियों को परिपक्वता तथा प्रौढ़ता मिली । उनकी रचनाओं को एक नवीन दिशा मिली और वे उत्तरोत्तर विकसित, गंभीर और प्रौढ़ होती चली गईं । उनकी साहित्यिक यात्रा कविताओं से आरंभ हुई उनकी प्रथम रचना 'भारत और वसंत' है । उन्होंने काव्य को कर्म योग एवं ज्ञान योग के समकक्ष रखे हुए भाव योग कहा जो मनुष्य के हृदय को मुक्तावस्था में पहुँचाता है । उनका

प्रसिद्ध काव्य संग्रह 'मधुस्त्रोत' है ।

गद्य लेखन को शुक्ल जी ने विशेष महत्त्व दिया । उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि हिन्दी गद्य गरिमा पूर्ण, परिपक्व एवं शिल्पगत क्षमताओं से परिपूर्ण है । उन्होंने गद्य की विभिन्न विधाओं जैसे - निबंध, समीक्षा, अनुवाद, जीवनी, इतिहास आदि पर अपनी रचनात्मक प्रतिभा दर्शायी है । हिन्दी साहित्य में वे एक ऐसे महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व के धनी हैं, जिनके साहित्यिक कार्य एवं सिद्धान्तों ने अन्य साहित्यकारों के समक्ष सार्वकालिक चुनौती एवं प्रतिस्पर्द्धा प्रस्तुत की है । शुक्ल जी ने निबंधकार के रूप में मनोवैज्ञानिक, साहित्यिक एवं सैद्धांतिक निबंधों की रचना की । ये निबंध 'चिंतामणि' (भाग - 1, 2 , 3) में संगृहीत हैं । उनके निबंधों में प्रौढ़ चिंतन, सूक्ष्म विश्लेषण एवं तर्क पूर्ण सुसंम्बद्ध विवेचन का चरम आदर्श लक्षित होता है । इसी कसौटी के आधार पर उन्हें सर्वश्रेष्ठ निबंधकार की संज्ञा से अभिहित किया गया है ।

समीक्षक के रूप में उन्होंने हिन्दी समीक्षा को नये आयाम प्रदान किए हैं । उनकी प्रौढ़ शैली एवं विचारों का प्रभाव पूर्ण ढंग से प्रस्तुतीकरण पाठक को सहसा ही सहमत होने को बाध्य कर देता है । उनका सम्पूर्ण समीक्षात्मक विवेचन नूतनोन्मेष विचार सरणि से सम्बद्ध है जो हिन्दी समीक्षा की अमूल्य निधि है । उनके समीक्षा-मान वस्तुतः भारतीय समाज और साहित्य के गौरवमय अतीत के प्रति गहरी श्रद्धा, उसके वर्तमान की ऐतिहासिक आवश्यकताओं के प्रति सुदृढ़ जागरूकता तथा युगानुकूल विकसनशील पाश्चात्य मनीषा के प्रति सन्तुलित विवेकशीता के सहज परिणाम थे । अपनी सूक्ष्म ग्राहिणी दृष्टि और प्रतिपादन क्षमता के बल पर सीमित लेकिन प्रामाणिक सामग्री के आधार पर संस्कृति परक साहित्यिक समीक्षा का मार्ग प्रशस्त किया ।

शुक्ल जी ने इतिहासकार के रूप में हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा । यह इतिहास उनकी साहित्य साधना की चरम परिणति है । अनेक इतिहासों में यह उत्तम,

प्रामाणिक, स्पष्ट एवं रोचक है । साहित्येतिहास लेखन परम्परा के प्रवर्तक और भावी पीढ़ी के पथ-प्रदर्शक के रूप में शुक्ल जी सदैव स्मरणीय रहेंगे । संपादक के रूप में 'नागरी प्रचारिणी' पत्रिका का संपादन किया, साथ ही अन्य-पत्र-पत्रिकाएँ भी सम्पादित कीं । शुक्ल जी अनुवादक भी हैं । उनके अनुवाद सतत अध्ययन-मनन की निष्पत्ति हैं ही, इन अनुवादों की भूमिकाएँ भी अति महत्त्वपूर्ण हैं । अनुवाद में मौलिकता का रंग भरने का श्रेय शुक्ल जी को ही जाता है । उन्होंने कहानी, जीवनी एवं संस्मरण भी लिखे । ये एक ऐसे साहित्यकार हैं, जिन्होंने अपनी विविध रचनाओं से हिन्दी साहित्य का गौरव बढ़ाया है ।

शुक्ल जी के रूप में एक ऐसा विद्वान हिन्दी जगत् में उपस्थित हुआ जिनमें गंभीर विचारक, सशक्त शैलीकार और एक महान निबंध लेखक का मिश्रण था । निबंधों के क्षेत्र में गूढ़ विवेचन और सूक्ष्म विश्लेषण करने का सर्व प्रथम एवं सर्व प्रमुख श्रेय शुक्ल जी को ही जाता है । उनके निबंधों में जीवन और जगत् के विविध विषयों के साथ साहित्यिक क्षेत्र के विभिन्न पहलुओं पर गंभीरता पूर्वक विचार व्यक्त हुए हैं । ये निबंध मनोविकारों की व्यवहारिक समीक्षा प्रस्तुत करने में पूर्णतः समर्थ हैं । इनमें मनोभावों के सजीव चित्रण के साथ व्यवहारिक जीवन का मोहक रूप वर्णित है । उनके निबंध व्यंग्य-विनोद के पुट सहित उनके व्यक्तित्व की गंभीरता दर्शाते हैं । जहाँ मनोवैज्ञानिक निबंधों में चिन्तन है, वहीं समीक्षात्मक निबंधों में विषय की प्रधानता है, साथ ही उनमें नैतिकता एवं आदर्शवादिता भी है । दर्शन, मनोविज्ञान, साहित्यशास्त्र, नीतिशास्त्र एवं धर्मशास्त्र के साथ मानव-जीवन को सार्थक बनाने वाले मनोभावों की तात्त्विक विवेचना भी की गई है । उन्होंने व्यंग्य विनोद द्वारा निबंध कला को रोचक एवं मनोरंजक बनाने का भी प्रयास किया है । उन्होंने अपने निबंधों के माध्यम से केवल भावों की मनोवैज्ञानिक प्रामाणिकता मात्र सिद्ध नहीं की अपितु अतीत, वर्तमान और सामयिक साहित्य के विवेचन का भी आधार प्रस्तुत किया है । उनमें लोक धर्म एवं सामाजिक बदलाव की प्रक्रियाओं एवं व्यवहारों का अन्वेषण भी है । शुक्ल जी के निबंध विचार प्रधान हैं,

किन्तु साथ ही साथ उनमें हृदय की अनुभूति का भी समावेश हो गया है । इन निबंधों में पग-पग पर उनके हृदय की अनुभूति के दर्शन होते हैं । बुद्धि, अनुभूति, कल्पना, अहं एवं शैली-तत्त्वों से युक्त 'चिंतामणि' (भाग - 1, 2, 3) के निबंध आज भी हिन्दी साहित्य में ही नहीं वरन् आधुनिक भारतीय निबंध साहित्य में सम्पूर्ण प्रतिष्ठा के अधिकारी हैं ।

साहित्य समाज का दर्पण होता है और प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है । इस कथन के अनुसार शुक्ल जी के निबंधों में भी विभिन्न दृष्टिकोण प्रतिबिम्बित हुए हैं । इन दृष्टिकोणों में प्रमुख हैं -- राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक । शुक्ल जी ने तत्कालीन राजनैतिक क्रिया-कलापों को साक्षात् देखा था, उससे हो रही निष्क्रियता को महसूस किया था । उन्होंने देखा कि सामन्ती वर्ग निकम्मा हो गया है , जो वर्ग देश की रक्षा का ठेका लेता था, वह पूरी तरह जर्जरित हो चुका है और देश-रक्षा करने में असमर्थ है । उन्होंने ऐसे निठल्ले सांमतियों का विरोध किया है । उन्होंने बर्बर साम्राज्यवादी संस्कृति का भी विरोध किया है । वे पश्चिमी देशों की संस्कृति के मूल सूत्र व्यक्तिवाद के विरोधी थे । उन्होंने उस समय यह सिद्ध किया कि इस व्यक्तिवाद के कारण ही यह ज्यादा दिन तक नहीं चलेगा अर्थात् इसका पतन अवश्य होगा । वे तत्कालीन राजनेताओं से मिलकर देश की स्थिति के विषय में परिचर्चा किया करते थे साथ ही अपने अमूल्य सुझाव भी उन्हें देते थे ।

शुक्ल जी सांस्कृतिक बोध के रचनाकार हैं । यही कारण है कि उनके निबंध साहित्य में सामाजिक-सांस्कृतिक बोध का तत्त्व उद्‌घाटित हुआ है । उन्होंने इसी बोध के कारण तुलसी साहित्य को अपना आदर्श माना और साहित्य के मूल्यांकन के साथ साहित्यिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत् साहित्य के विविध सिद्धान्तों का वर्णन किया । जैसेः- कविता क्या है, उपन्यास, गद्य प्रबंध के प्रकार, शेष स्मृतियों की प्रवेशिका, क्षात्र धर्म का सौन्दर्य आदि उनके साहित्यिक निबंध हैं । इन निबंधों द्वारा उन्होंने साहित्यिक समीक्षा के मानदंडों का निर्धारण

किया है । शुक्ल जी ने जीवन के स्वतंत्र रूप का अखण्ड रक्षक साहित्य को माना है । किसी जाति की स्वतन्त्र धरोहर के गौरव मूल्य के वे पारखी थे । स्वार्थ से ऊपर उठने वाला मनुष्य ही महान होता है । ऐसे मानव का चित्रण करने वाली कविता भी धन्य होती है । जिस कविता में मानव को महामानव बनाने की क्षमता न हो, साधारण भाव को विश्व व्यापी बनाने की क्षमता न हो उसे शुक्ल जी कविता मानने के पक्ष में नहीं थे । साहित्य भी वही अच्छा है, जिससे सभी का लाभ होता हो ।

'चिंतामणि' में संगृहीत निबंधों के अवलोकन से यह सत्य उजागर हो जाता है कि शुक्ल जी की क्षमता गूढ़-विवेचन और अति सूक्षम विश्लेषण की थी । उनकी भाषा सरल, सहज और बोधगम्य है । इसमें शुक्ल जी का व्यक्तित्व स्पष्टतः झलक उठता है । उनके निबंधों में ऐसे अनेक शास्त्रीय शब्द हैं जिनका प्रयोग उनसे पूर्व हिन्दी निबंध में किसी ने नहीं किया था। भाषा के सम्बंध में वे अत्यन्त सजग थे । विषय के अनुसार भाषा का प्रयोग किया। उनके निबंधों में तीन प्रकार की भाषा के दर्शन होते हैं – संस्कृत गर्भित तत्सम प्रधान भाषा, उर्दू मिश्रित भाषा एवं व्यवहारिक भाषा । जहाँ शुक्ल जी ने लोक मंगल की भावना को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है वहीं उनकी सामाजिक दृष्टि जीवन-सिद्धान्त के सम्यक् बोध के रूप में प्रस्फुटित हुई है । उन्होंने समाज को असभ्यता से सभ्यात की ओर विकसित होते हुए देखा । उनकी दृष्टि में शील या धर्म से ही समाज की स्थिति है । उन्होंने सामाजिक गति एवं स्थिति के लिए समाज-व्यवस्था का होना अति आवश्यक माना है । उनका सामाजिक दृष्टिकोण धनी वर्ग के हितों के लिए न ही बना, उसका आधार साधारण जनता का जीवन है ।

धार्मिक दृष्टिकोण में उन्होंने हिन्दू-मुसलमान की कट्टरता का विरोध किया । धर्म के सम्बंध में वे मानते हैं कि जब से मनुष्य जाति की उत्पत्ति हुई तब से धर्म मान्य रहा है। सामाजिक वृद्धि के कारण धर्म भावना में भी देश-काल के अनुसार फेर-फार होता गया है । शुक्ल जी मानते हैं कि लोक या समाज को धारण करने वाला धर्म था । हमारी

आदिम धार्मिक चेतना प्राकृतिक शक्तियों से जुड़कर चलती है और उसे न समझ पाने के कारण उन प्राकृतिक शक्तियों में विभिन्न देवी-देवताओं की परिकल्पना करती है । उन्होंने धर्म का विवेचन समाज से जोड़कर किया है । उन्होंने ईश्वर, जीव, प्रकृति आदि का धार्मिक दृष्टि से विवेचन भी किया है । उन्होंने धर्म के नाम पर प्रचलित अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों का विरोध भी किया है।

शुक्ल जी का जहाँ कवि हृदय दृष्टिगत होता है वहाँ संस्कृत बहुल भाषा है, जिसमें भावुकता है । विषय के सरलीकरण के लिए एवं व्यंग्य विनोद के लिए उन्होंने उर्दू मिश्रित भाषा का प्रयोग किया है। अन्य स्थानों पर इन दोनों के मध्य की भाषा का प्रयोग किया है । शुक्ल जी के निबंधों में गंभीर विवेचन के साथ-साथ गवेषणात्मक चिंतन का योग है। अतः उनकी शैली वैज्ञानिक विवेचन की शैली है । उसमें उन्होंने कलात्मक सौंदर्य पैदा करने की कोशिश नहीं की गई है । उसमें विचार शक्ति के स्वस्थ संघटन के साथ-साथ भाव-व्यंजना का वैविध्य पूर्ण माधुर्य है एवं विषयानुकूल नूतन शब्दों का निर्माण है । आलोचनात्मक, गवेषणात्मक, वर्णनात्मक, भावात्मक शैली में विचारों का प्रस्फुटन हुआ है । हास्य-व्यंग्य द्वारा क्लिष्ट भाषा को भी बोधगम्य बनाया गया है । हिन्दी भाषा की निजी प्रकृति का सुन्दरतम निर्वाह शुक्ल जी निबंधों में है । उनके निबंध विचार, तर्क तथा भाव-प्रवणता के संयोग से निर्मित हैं । उनके निबंध केवल उन्हीं के हृदय से ही सम्बंध नहीं रखते, वरन् मनुष्य मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालने वाले हैं ।

हिन्दी गद्य साहित्य का प्रवर्तन आधुनिक काल में हुआ । देश-काल एवं वातावरण की विभिन्न विपरीत राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों के कारण हिन्दी गद्य-साहित्य का विकास संभव नहीं हो पाया था । आदिकाल, भक्तिकाल एवं रीतिकाल में गद्य-निर्माण संभव नहीं हुआ क्योंकि आदिकाल में राजनीतिक वातावरण क्षुब्ध होने के कारण सामंतों के प्रशंसा युक्त गीतों की ही रचना हुई। भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का

स्वर्णयुग था लेकिन राजनीतिक पराजय ने गद्य को वहाँ भी पनपने नहीं दिया । रीतिकालीन कवि पांडित्य प्रदर्शन हेतु श्रृंगार एवं अलंकार का प्रयोग कर रहे थे। उनका काव्य व्यक्तित्व हीन राजाओं की प्रशंसा के लिए था । कुछ कवि श्रृंगारिकता से उबरे लेकिन उनके काव्य में वीरगाथा की पुनरावृत्ति होने लगी । अतः गद्य का विकास नहीं हुआ ।

आधुनिक काल में गद्य की प्रचुरता हुई कदाचित इसलिए इस काल को गद्य युग भी कहते हैं । इसी युग से निबंध लेखन आरंभ हुआ । भारतेन्दु युग में निबंध लेखन में सबसे अधिक सफलता प्राप्त हुई। इस युग में राजनीति, समाज सुधार, धर्म-अध्यात्म, आर्थिक दुर्दशा, अतीत का गौरव, जीवनियाँ आदि विषयों पर साहित्यिक निबंध लिखे गए । शुक्ल जी ने तो भारतेन्दु से ही निबंधों का लेखन आरंभ हुआ ऐसा माना है । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी, काशीनाथ खत्री, अम्बिकादत्त व्यास, ठाकुर जगमोहन सिंह आदि इस युग के निबंधकार हैं । इनके निबंधों में तत्कालीन युग की सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं तथा इन्होंने विविध शैलियाँ अपनाकर अपने युग के श्रेष्ठ निबंधों की रचना की ।

हिन्दी गद्य का द्वितीय उत्थान काल द्विवेदी युग के नाम से जाना जाता है । यह निबंधों का परिमार्जित युग था । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिस भाषा को हिन्दी-गद्य साहित्य में स्थान दिया, पं. महावरी प्रसाद द्विवेदी ने उसे व्याकरण और कला से तराशकर आकर्षक बना दिया, इसलिए उन्हें नवीन युग का अग्रदूत भी माना गया । इस युग के निबंधकार जन-सामान्य की अपेक्षा मध्यम-वर्ग के शिष्ट एवं शिक्षित लोगों के सम्पर्क में आये, जिससे निबंधों में से विषय वैविध्य तो समाप्त हो ही गया, उनमें गाम्भीर्य अधिक आ गया । शुक्ल जी इस युग के निबंध के उत्थान से संतुष्ट न थे फिर भी वे यह मानते थे कुछ निबंध अच्छे भी लिखे गए। इस युग के निबंधकारों में प्रमुख हैं – महावीर प्रसाद द्विवेदी, गोविन्द नारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, चन्दधर शर्मा गुलेरी, श्यामसुन्दर दास, सरदार पूर्ण सिंह आदि ।

हिन्दी-निबंध के विकास का उत्कर्ष काल आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहित्यिक लेखन अर्थात् 1920 ई. से आरंभ होकर 1940 ई. तक है । इस युग को शुक्ल युग भी कहा गया । रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. गुलाब राय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, सियारामशरण गुप्त, मुंशी प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, रायकृष्ण दास आदि इस युग के प्रमुख निबंधकार हैं । शुक्ल जी के निबंध उनके अन्तःकरण से निकली विचारधारा के परिणाम हैं । उन्होंने प्रायः विचारात्मक निबंध लिखे हैं, विचारात्मक निबंधों में जो भी अभाव दृष्टिगत हुए उसकी पूर्ति के भरसक प्रयास किए । शुक्ल जी से पूर्व विचारात्मक निबंधों में न तो गंभीरता थी, न विचारों की गूढ़ परम्परा और न वे निबंध जैसी किसी नूतन विचार-पद्धति से ही परिपूर्ण होते थे, जो पाठकों की बुद्धि को उत्तेजित करके उन्हें चिंतन एवं मनन की ओर अग्रसर कर सके । शुक्ल जी ने अपने निबंधों में नूतन-विचार-पद्धति का समावेश करके गूढ़-गुम्फित परम्परा के साथ ऐसे विचार प्रधान निबंधों का लेखन आरंभ किया, जो आज हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है। जिन्हें संसार की किसी भी समुन्नत भाषा के उच्चकोटि के निबंधों के समकक्ष रखा जा सकता है । अतः विचारात्मक निबंधों को उत्कर्षता प्रदान करने का श्रेय शुक्ल जी को ही जाता है ।

शुक्ल जी से प्रेरित होकर शुक्लोत्तर हिन्दी निबंध लेखन में भी वैविध्य और विस्तार आया है । वर्तमान में अधिकांश निबंध सैद्धान्तिक, व्यवहारिक, साहित्य-समीक्षा विषयक तथा राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विषयों पर लिखे जा रहे हैं । बाजारवाद एवं उपभोक्तावाद के इस युग में शुक्ल जी के निबंधों के प्रतिमान एवं गूढ़ विचार साहित्यकारों का पथ-प्रदर्शन करने में पूर्णतः सफल हैं । हिन्दी जगत् के अनेक विद्वानों ने शुक्ल जी की विद्वता को स्वीकार करते हुए उन्हें सर्वश्रेष्ठ निबंधकार सिद्ध किया है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंधों के अध्ययनोपरान्त यही निष्कर्ष निकलता है कि वे निबंध क्षेत्र के सम्राट हैं और उनके निबंध हिन्दी साहित्य की अमूल्य धरोहर है ।

संदर्भ ग्रंथ-सूची

संदर्भ ग्रंथ-सूची

हिन्दी ग्रंथ :

उपजीव्य ग्रंथ :

1. चिन्तामणि (पहला भाग) : रामचन्द्र शुक्ल, इंडियन प्रेस प्रा. लि., इलाहाबाद, पंचम सं. 1965
2. चिन्तामणि (द्वितीय भाग) : सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पंचम सं. 2019 वि.
3. चिन्तामणि (तीसरा भाग) : सं. डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1983

उपस्कारक ग्रंथ :

1. अध्ययन और आस्वाद : बाबू गुलाब राय, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1956
2. अशोक के फूल : हजारी प्रसाद द्विवेदी, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, सप्तम सं. 1990
3. आधुनिकता और हिन्दी साहित्य : डॉ. इन्द्रनाथ मदान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1973
4. आधुनिकतावादी बोध और आधुनिकरण : डॉ. रमेश कुंतल, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, प्रथम सं. 2000
5. आधुनिक भारतीय चिन्तन : डॉ. विश्वनाथ नरवणे राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1966
6. आधुनिक हिन्दी साहित्य : नन्ददुलारे वाजपेयी, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम सं. 1974
7. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास : बच्चन सिंह, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय सं. 1986
8. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका : डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, भारतीय हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद, द्वितीय सं. 1952
9. आधुनिक हिन्दी साहित्य की मानवतावादी भूमिकाएँ : डॉ. दिनेश ठाकुर, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, प्रथम सं. 1975
10. आधुनिक हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि : डॉ. भोलानाथ तिवारी, प्रगति प्रकाशन, आगरा, प्रथम सं. 1969
11. आस्था और सौन्दर्य : डॉ. रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय सं. 1990

12.आस्था के चरण : डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम सं. 1968
13.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रामचन्द्र तिवारी, साहित्य अकादमी, दिल्ली, प्रथम सं. 2005
14.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और उनका साहित्य : जयचन्द्र राय, भारतीय साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1964
15.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना : डॉ. रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय सं. 1993
16.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास की रचना-प्रक्रिया : डॉ. समीक्षा ठाकुर, लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1996
17.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त : डॉ. रामलाल सिंह, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम सं. 1976
18.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल निबंध संरचना और काव्य-चिन्तनः डॉ. योगेन्द्र प्रताप सिंह, जय भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय सं. 1999
19.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सिद्धान्त और साहित्य : जयचन्द्र राय, भारतीय साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1963
20.आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रतिनिधि निबंध : सं. सुधाकर पाण्डेय, राधाकृष्ण प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम सं. 1971
21.काव्य कला तथा अन्य निबंध : जयशंकर प्रसाद, लीडर प्रेस, प्रयाग, चतुर्थ सं. 1953
22.काव्य के रूप : बाबू गुलाब राय, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय सं. 1947
23.गीता रहस्य : बाल गंगाधर तिलक, साहित्य भंडार, मेरठ, सप्तम सं. 1976
24.चेतना के बिम्ब : डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम सं. 1967
25.जायसी ग्रंथावली : सं. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पंचम सं. 2052 वि.
26.डॉक्टर नगेन्द्र के श्रेष्ठ निबंध : सं. भारत भूषण अग्रवाल, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम सं. 1962
27.त्रिवेणी : रामचन्द्र शुक्ल , नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम सं. 2039 वि.
28.दूसरी परम्परा की खोज : डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1982
29.धर्म और समाज : डॉ. राधा कृष्णन, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम सं. 1963
30.धर्म तुलनात्मक दृष्टि : डॉ. राधा कृष्णन, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम सं. 1962
31.नयी समीक्षा : नए संदर्भ : डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम सं. 1970

32.निबंधकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : विजय बहादुर सिंह, संजय बुक सेंटर, वाराणसी, प्रथम सं.1984
33.निबंधकार रामचन्द्र शुक्ल : रामलाल सिंह, साहित्य सहयोग प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम सं. 1974
34.निबंध सिद्धान्त और प्रयोग : डॉ. हरिहर नाथ द्विवेदी, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, द्वितीय सं. 1989
35.निबंधकार हजारी प्रसाद द्विवेदी : उषा सिंहल, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1993
36.नौवें दशक का हिन्दी निबंध साहित्य : एक विवेचन : उषा द्विवेदी, भावना प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2002
37.पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र : सिद्धांत और परिदृश्य : डॉ. नगेन्द्र, पीताम्बर पब्लिशिंग कम्पनी, दिल्ली, प्रथम सं. 1984
38.प्रतिनिधि हिन्दी निबंधकार : विभुराय मिश्र, शिल्पी प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम सं. 2001
39.भारतीय दर्शन : डॉ. बलदेव उपाध्याय, शारदा मंदिर प्रकाशन, काशी, प्रथम सं. 1941
40.भारतीय निबंध : सं. जगदीश राय चतुर्वेदी, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, दिल्ली, प्रथम सं. 1982
41.भारतीय नीतिशास्त्र : डॉ. रामनाथ शर्मा, रामनाथ प्रकाशन, मेरठ, प्रथम सं. 1962
42.भारतीय संस्कृति : प्रो. शिवदत्त ज्ञानी, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, प्रथम सं. 1944
43.भारतयी समीक्षा और आचार्य शुक्ल की काव्य-दृष्टि : डॉ. नगेन्द्र, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, द्वितीय सं. 1985
44.मेरे निबंध : बाबू गुलाब राय, गाया प्रसाद एण्ड संस, आगरा, प्रथम सं. 1955
45.रामचन्द्र शुक्ल : सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी वितान प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम सं. 1963
46.रामचन्द्र शुक्ल : सं. गुलाब राय, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, तृतीय सं. 1982
47.रामचन्द्र शुक्ल : सं. सुरेशचन्द्र त्यागी, आशिर प्रकाशन, सहारनपुर, प्रथम सं. 1985
48.रामचन्द्र शुक्ल : नीलकान्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम सं. 1985
49.राष्ट्रीय साहित्य एवं अन्य निबंध : नन्ददुलारे वाजपेयी, विद्या मंदिर, बनारस, प्रथम सं. 1965
50.ललित निबंधकार : सुरेश माहेश्वरी, भावना प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1999
51.संस्कृति का दार्शनिक विवेचन : डॉ. देशराज, सूचना विभाग, लखनऊ, प्रथम सं. 1957
52.संस्कृति के चार अध्याय : रामधारी सिंह दिनकर, राजपाल एंड संस, दिल्ली, द्वितीय सं. 1956
53.समकालीन ललित निबंध : विमला सिंहल, श्याम प्रकाशन, जयपुर, प्रथम सं. 1983

54.समीक्षा प्रवर रामचन्द्र शुक्ल : गिरिजादत्त शुक्ल, गिरीश प्रकाशन, इलाहाबाद, चतुर्थ सं. 1998
55.साहित्य और संस्कृति : जैनेन्द्र कुमार, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय सं. 1979
56.साहित्य में गद्य की नवीन विधाएँ : कैलाशचन्द्र भाटिया, तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1982
57.साहित्य समीक्षा : बाबू गुलाब राय, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, प्रथम सं. 1974
58.साहित्य सहचर : हजारी प्रसाद द्विवेदी, नैवेद्य निकेतन, वाराणसी, प्रथम सं. 1965
59.साहित्यिक निबंध : त्रिभुवन सिंह, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, प्रथम सं. 1951
60.स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी निबंध साहित्य में व्यंग्य : उषा शर्मा, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, प्रथम सं. 1986
61.हिन्दी आलोचना के आधार स्तंभ : सं. रामेश्वर लाल खंडेलवाल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम सं. 1966
62.हिन्दी के प्रतिनिधि निबंधकार : द्वारिका प्रसाद सक्सेना, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, प्रथम सं. 1983
63.हिन्दी के वैयक्तिक निबंध : श्री वल्लभ शुक्ल, साहित्य भवन, इलाहाबाद, प्रथम सं. 1963
64.हिन्दी के श्रेष्ठ साहित्यकार : सिंहासन राय आदर्श पुस्तक भण्डार, कलकत्ता, प्रथम सं. 1973
65.हिन्दी गद्य उद्‌भव और विकास : अष्टभुज पाण्डेय, साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1990
66.हिन्दी गद्य के सोपान : जीवन प्रकाश जोशी, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1960
67.हिन्दी का गद्य साहित्य : रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय सं. 1992
68.हिन्दी निबंधकार : जयनाथ नलिन, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम सं. 1964
69.हिन्दी निबंध और निबंधकार : ठाकुर प्रसाद सिंह, हिन्दी प्रचारक संस्था, वाराणसी, प्रथम सं. 1951
70. हिन्दी निबंध का विकास : ओंकार नाथ शर्मा, सारांश प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम सं. 1964
71.हिन्दी निबंध के आधार स्तंभ : डॉ. हरिमोहन, तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1980
72.हिन्दी निबंध साहित्य : जनार्दन स्वरूप अग्रवाल, सारांश प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम सं. 2002

73.हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास : रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, षष्ठ सं. 1986
74.हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास : हजारी प्रसाद द्विवेदी, अतरचन्द्र कपूर एंड संस, दिल्ली, चतुर्थ सं. 1952
75.हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, छत्तीसवाँ सं. 2056 वि.
76.हिन्दी साहित्य का इतिहास : सं. डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, द्वितीय सं. 1976
77.हिन्दी साहित्य का इतिहास तथा निबंध : सं. ओम प्रकाश सिहल, पीताम्बर प्रकाशन, आगरा, प्रथम सं. 1987
78.हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी : नन्ददुलारे वाजपेयी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम सं. 1983
79.हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ : डॉ. शिवकुमार शर्मा, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, सप्तम् सं. 1977
80.हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास : डॉ. बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1996

संस्कृत ग्रंथ :

1. अभिज्ञान शाकुन्तलम् : महाकवि कालिदास, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, तेरहवाँ सं. 1988
2. ईशोपनिषद् : शंकर भाष्य, गीता प्रेस गोरखपुर, सप्तम् सं. 1952
3. ऋग्वेद : भाष्यकार क्षेमकरण दास त्रिवेदी, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली, तृतीय सं. 1976
4. एकादशोपनिषद् : सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, विजयकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1988
5. कठोपनिषद् : शंकर भाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर, सप्तम सं. 1952
6. कामसूत्र (वात्स्यायन) : सं. देवदत्त शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, चतुर्थ सं. 1964
7. कुमार संभव (कालिदास) : सं. शेषराज शर्मा, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, सप्तम सं. 2044 वि.
8. चाणक्य नीति दर्पण : भाष्यकार स्वामी जगदीश्वरानन्द, सरस्वती प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2002

9. तैत्तिरीय ब्राह्मण : सायण भाष्य, आनन्द आश्रम, संस्कृत ग्रंथावली, पूना, तेरहवाँ सं. 1920
10.तैत्तिरीय संहिता : सायण भाष्य, आनन्द आश्रम, संस्कृत ग्रंथावली, पूना, अष्टम् सं. 1938
11.निरूक्त : सं. बी. के. राजवाड़े, साहित्य भण्डार, मेरठ, तृतीय सं. 1940
12.नीतिशतकम् : सं. जनार्दनशास्त्री पाण्डेय, मोतीलाल बनारसी दास पब्लिशर्स प्रा. लि., दिल्ली, तृतयी सं. 1974
13.पाणिनीय अष्टाध्यायी : सं. श्री ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, रामलाल कपूर ट्रस्ट, वाराणसी, नवम् सं. 1987
14.भर्तृहरि शतकम् : अनु. स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती, आर्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1997
15.महाभारत : वेद व्यास, गीता प्रेस, गोरखपुर, बीसवाँ सं. 2015 वि.
16.मीमांसा-दर्शन : आचार्य उदयवीर शास्त्री, विजयकुमार प्रकाशन, दिल्ली, 1991
17.मुद्राराक्षस : सं. पं. कनकलाल ठाकुर, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, पंचम् सं. 1983
18.मेघदूत (महाकवि कालिदास) अनु. वासुदेव शरण अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय सं. 1971
19.यजुर्वेद : भाष्कार महर्षि दयानन्द सरस्वती, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली, षष्ठ सं. 1946
20.योग दर्शन : आचार्य उदयवीर शास्त्री, विजय कुमार प्रकाशन, दिल्ली, 1991
21.रघुवंश : (कालिदास) सं. हरदयाल सिंह, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, तृतीय सं. 1973
22.विदुर नीति : अनु. स्वामी जगदीश्वरानन्द, सरस्वती, प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2002
23.मनुस्मृति : सं. राजवीर शास्त्री, आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, तृतीय सं. 2046 वि.
24.वैशेषिक दर्शन : आचार्य उदयवीर शास्त्री, विजयकुमार प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय सं. 1991
25.शतपथ ब्राह्मण : सायण भाष्य, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, चतुर्थ सं. 1918
26.सांख्य दर्शन : आचार्य उदयवीर शास्त्री, विजय कुमार प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय सं. 1991
27.सामवेद संहिता : वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, पंचम सं. 1984
28.हितोपदेश : अनु. सुनील शर्मा, सुबोध प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय सं. 1997

अंग्रेजी ग्रंथ :

1. Ben Johnson : A Collection of Critical Essays : Jonas A. Barish, Prentice Hall, Englewook Cliffs , NJ. 1st Ed. 1963
2. Doing things with texts : Essays in Criticism and critical theory : Meyer Haward Abrams, Norton Pub., N.J. 2nd Ed. 1991
3. English Essays : An Anthology of Essays from Bacon to Lucas : David Thomas Pottinger, Macmillan Pub., London, 3rd Ed. 1917
4. The Complete Essays of Montaigne : Michacl de Montaigne, Donald Murdoch Frame Stanford University Press, London, 1st Ed. 1958
5. The Dramatic works and Lyrics of Ben Jonson : Ben Johson, John Addington ; W Scott. Pub. Harward University, London 1st Ed. 1886
6. The Essays : Francis Bacon : John Pitcher,Prentice Hall, Englewook Cliffs , NJ. 1st Ed. 1985
7. Wordsworth : A collection of Critical Essays : Meyer Haward Abrams, Prentice Hall, Englewook Cliffs , NJ. 1st Ed. 1972

कोश :

1. बृहत-हिन्दी कोश : सं. कालिका प्रसाद, ज्ञानमण्डल प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम सं. 2000
2. भारतीय संस्कृति कोश : लीलाधर शर्मा, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम सं. 1995
3. मानक हिन्दी कोश (खण्ड - 1, 2, 5) : रामचन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, द्वितीय सं. 1993
4. वाचस्पत्यम् (खण्ड - 1, 2, 3, 5, 6) : सं. तारानाथ तर्क वाचस्पति, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, तृतीय सं. 2026 वि.
5. संस्कृत-हिन्दी-कोश : वामन श्विराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, दिल्ली, तृतीय सं. 1989
6. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ : सं. द्वारका प्रसाद शर्मा, रामनारायण लाल विजयकुमार, इलाहाबाद, द्वितीय सं. 2000
7. हिन्दी शब्द सागर : सं. डॉ. श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस, तृतीय सं. 2023 वि.

8. हिन्दी साहित्य कोश (भाग - 2) : सं. धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमण्डल, वाराणसी, प्रथम सं. 2020 वि.
9. A Dictionary English and Sanskrit : Monier Williams, Motilal Banarsi Dass, Delhi, Forth Ed. 1976
10. Bhargava's Concise Dictionary of the English Language : Prof. R. C. Pathak, Bhargava's Book Depot, Varanasi, Eleventh Ed. 1987
11. Oxford Dictionary and Thesausur : Ed. Julia Elliot, Oxford University Press, Delhi, Second Ed. 2001

पत्रिकाएँ :

1. कल्याण, सं. हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर, मार्च, 1968
2. परिशोध, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़, नवम्बर 1993
3. वैदिक सुरभि, सं. कामेश्वर शुक्ल, आर्य समाज, गुवाहाटी, अक्टूबर, 2002
4. सम्मेलन पत्रिका, सं. प्रेमनारायण शुक्ल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, सं. 1906 वि.

NEHU LIBRARY
103935
12-11-09
Sub.
Enter
Transcribed by

अनुसंधित्सु का विवरण

नाम : कुसुम कुंज मालाकार

शिक्षा : एम. ए. (हिन्दी)

विभाग : हिन्दी

शोध-प्रबंध का शीर्षक :आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंधों का विवेचनात्मक अध्ययन

प्रवेश शुल्क के भुगतान की तिथि : 2.5.2002

शोध प्रस्ताव की संस्तुति :

(i) बी. पी. जी. एस : 24.4.2002

(ii) स्कूल बोर्ड पंजीयन संख्या एवं तिथि : 631 दिनांक - 2.5.2002

अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय
शिलांग